2
14
6
14
6
4
4
14
0

2
2
12
8
2
8
8
8
6
0
14
4
4
12
8
8
12
6
2
6

6

6
12
8

H. Shastri

BIBLIOTHECA INDICA;

A

[CO]LLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED BY THE

ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, No. 723.
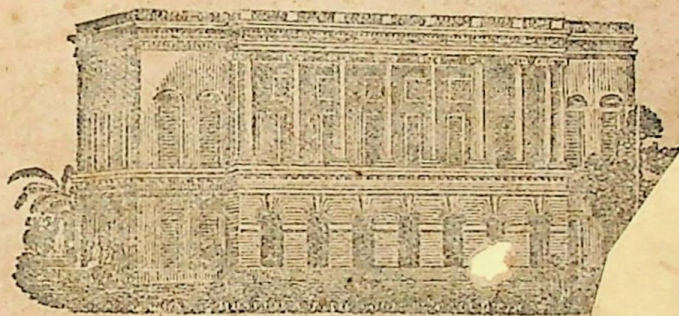
# सभाष्यवृत्ति-निरुक्तम्।

# THE NIRUK[TA]

WITH COMMENTARIES.

EDITED BY

PANDIT SATYAVRATA SÁMAS'RAMÍ.

VOL. IV.

FASCICULUS VII.


CALCUTTA:

PRINTED BY G. H. ROUSE, AT THE BAPTIST MISSION PRESS,

AND PUBLISHED BY THE

ASIATIC SOCIETY, 57, PARK STREET.

1889.

# LIST OF BOOKS FOR SALE

AT THE LIBRARY OF THE

# ASIATIC SOCIETY OF BENGAL

No. 57, PARK STREET, CALCUTTA.

AND OBTAINABLE FROM

THE SOCIETY'S LONDON AGENTS, MESSRS. TRUBNER & CO.

57 AND 59, LUDGATE HILL, LONDON, E. C.

## BIBLIOTHECA INDICA.

### *Sanskrit Series.*

| Title | | Rs. | As. |
|---|---|---|---|
| Advaita Brahma Siddhi, Fasc. I—III @ /6/ each .. | Rs. | 1 | 2 |
| Agni Puráṇa, (Sans.) Fasc. II—XIV @ /6/ each .. | .. | 4 | 14 |
| Aṇu Bháshyam, Fasc. I .. .. .. .. | .. | 0 | 6 |
| Aitareya Araṇyaka of the Rig Veda, (Sans.) Fasc. I—V @ /6/ each | .. | 1 | 14 |
| Aphorisms of Sáṇḍilya, (English) Fasc. I .. .. | .. | 0 | 6 |
| Aphorisms of the Vedánta, (Sans.) Fasc. VII—XIII @ /6/ each | .. | 2 | 4 |
| [illegible]riká Prajnápáramitá, Fasc. I—VI @ /6/ each .. | .. | 2 | 4 |
| [illegible]a, Fasc. I—V @ [illegible]/ each .. .. | .. | 1 | 14 |
| [illegible] Kalpalatá by Kshemendra (Sans. & Tibetan) Vol. I Fasc. I | .. | 1 | 0 |
| [illegible] (Sans.) Fasc. I—VIII @ /6/ each .. .. | .. | 3 | |
| [illegible]útra, (English) Fasc. I .. .. .. | .. | 0 | |
| [illegible]tá, (Sans.) Fasc. I .. .. .. | | | |
| [illegible]a Puráṇam, Fasc. I—II @ /6/ each .. | | | |
| [illegible]ka Upanishad, (Sans.) Fasc. VI, VII & IX @ /6/ eac[illegible] | | | 2 |
| [illegible] (English) Fasc. II—III @ /6/ each .. | | | 2 |
| [illegible]saṃhitá, (Sans.) Fasc. II—III, V—VII @ /6/ each .. | | | 4 |
| [illegible]nya-Chandrodaya Náṭaka, (Sans.) Fasc. II—III @ /6/ each | | | 2 |
| [illegible]rvarga Chintámaṇi, (Sans.) Vols. I, Fasc. 1—11; II, 1—25; III[illegible] | | | |
| [illegible]art I Fasc. 1—18, Part II, Fasc. 1—3 @ /6/ each .. | .. | | |
| Chhándogya Upanishad, (English) Fasc. II .. .. | .. | 0 | 6 |
| Daśarupa, Fasc. II and III @ /6/ .. .. .. | .. | 0 | 12 |
| Gobhilíya Gṛihya Sútra, (Sans.) Fasc. I—XII @ /6/ each .. | .. | | 8 |
| Hindu Astronomy, (English) Fasc. I—III @ /6/ each .. | .. | 1 | 2 |
| Kála Mádhava, (Sans.) Fasc. I—IV @ /6/ .. .. | .. | 1 | 8 |
| Kátantra, (Sans.) Fasc. I—VI @ /12/ each .. .. | .. | 4 | 8 |
| Kathá Sarit Ságara, (English) Fasc. I—XIV @ /12/ each .. | .. | 10 | 8 |
| Kaushitakí Brahman Upanishads, Fasc. II .. .. | .. | | 6 |
| Kúrma Puráṇa, (Sans.) Fasc. I—VIII @ /6/ each .. | .. | | 0 |
| Lalita-Vistara (Sans.) Fasc. II—VI. @ /6/ .. .. | .. | | 14 |
| Lalita-Vistara, (English) Fasc. I—III @ /12/ each .. | .. | | 4 |
| Madana Párijáta, (Sans.) Fasc. I—VI @ /6/ each .. | .. | | 4 |
| Manuṭíká Sangraha, (Sans.) Fasc. I—II @ /6/ each .. | .. | | 12 |
| Márkaṇḍeya Puráṇa, (Sans.) Fasc. IV—VII @ /6/ each .. | .. | | 8 |
| Márkaṇḍeya Puráṇa (Eng.) Fasc I—II @ /12/ each .. | .. | | 8 |
| Mímáṃsá Darśana, (Sans.) Fasc. II—XIX @ /6/ each .. | .. | | 12 |
| Nárada Pancharátra, (Sans.) Fasc. IV .. .. | .. | | 6 |
| Nárada Smṛiti, (Sans.) Fasc. I—III @ /6/ .. .. | .. | | 2 |
| Nayavártikam, (Sans.) Fasc. I .. .. .. | .. | | 6 |
| Nirukta, (Sans.) Vol. I, Fasc. I—VI; Vol. II, Fasc. I—VI; Vol. III, Fasc. I—VI; Vol. IV, Fasc. I—VII @ /6/ each Fasc. .. | .. | | 6 |
| Nítisára, or The Elements of Polity, By Kámandaki, (Sans.) Fasc. II—V @ /6/ each .. .. .. .. .. | .. | 1 | |
| Nyáya Darśana, (Sans.) Fasc. III .. .. .. | .. | 0 | 6 |
| Nyáya Kusumánjali Prakaraṇam (Sans.) Vol. I, Fasc. I and II @ /6/ each | | 0 | 12 |
| Pariśishṭa Parvan (Sa[illegible]) Fasc. I—IV @ /6/ each .. | | | 8 |

| पदम् | अ० | पा० | ख० | | भा० | पृ० |
|---|---|---|---|---|---|---|
| मित्रावरुणौ (अहोरात्रौ) ... | ५ | २ | १ | ... | २ | ७२ |
| मुद्गलः ... | ९ | २ | २,३ | ... | ४ | ३४,३६ |
| मेधातिथिः (उभययाजी) ... | ८ | २ | ७ | ... | २ | ४९७ |
| मैत्रावरुणः ... | ५ | २ | २ | ... | २ | ७७ |
| मौद्गल्यः ... | ११ | १ | ६ | ... | ४ | १०१ |
| यमः (वैवस्वतः) ... | ११ | २ | १३ | ... | ४ | २२१ |
| यमी (यमभगिनी) ... | ११ | २ | १३ | ... | ४ | २२१ |
| याज्ञिकाः ... | ७ | १ | ४ | ... | २ | ३०७ |
| यास्कः (एतद्ग्रन्थस्य कर्त्ता) | १३ | ४ | ९ | ... | ४ | ४१२ |
| लवः (लवसूक्तम्) ... | ७ | १ | ३ | ... | २ | २९५ |
| [illegible]ोधः ... | ४ | २ | ६ | ... | २ | ४१५ |
| वध्र्यश्वः (नाराशंसयाजी) | ८ | २ | ७ | ... | २ | ४९७ |
| वसिष्ठः ... | ५ | २ | २ | ... | २ | ७७ इ० |
| वसिष्ठः (नाराशंसयाजी) | ८ | २ | ७ | ... | २ | ४९७ |
| वसिष्ठाः (सुताः) ... | ११ | २ | ८ | ... | ४ | १९६ |
| वाक् (वागाम्भृणीयम्) ... | ७ | १ | ३ | ... | २ | २९५ |
| वाजः ... | ११ | २ | ४ | ... | ४ | १८६ |
| वामः (सूर्यः) ... | ४ | ४ | ५ | ... | २ | ४८६ |
| वार्ष्यायणिः ... | १ | १ | ३ | ... | २ | ३४ |
| वासात्यः (राजा सूर्य्यस्य)... | ११ | १ | २ | ... | ४ | २५० |
| विकुण्ठा (आसुरी) ... | ७ | १ | ३ | ... | २ | २९५ |
| विभ्वा ... | ११ | २ | ४ | ... | ४ | १८६ |
| विरूपः ... | ३ | ३ | ५ | ... | २ | ३३२ |
| विरूपासः ... | ११ | २ | ५ | ... | ४ | १९० |
| विश्वकर्म्मा ... | १० | ३ | २ | ... | ४ | १२० |
| विश्वामित्रः ... | २ | ७ | २ | ... | २ | २३७ |
| विश्वामित्रः (तनूनपाद्याजी) | ८ | २ | ७ | ... | २ | ४९७ |
| वृषाकपिः ... | ११ | ४ | ५ | ... | ४ | २२७ |
| वैखानसः ... | ३ | २ | ५ | ... | २ | ३३२ |

| पदम् | अ० | पा० | ख० | भा० | पृ० |
|---|---|---|---|---|---|
| वैयाकरणाः | १ | ४ | १ | २ | ८३ टि० |
| व्रतचारिणः | ६ | १ | ६ | ४ | ८ |
| शंयुः (बार्हस्पत्यः) | ४ | २ | ५ | २ | ४६२ |
| शतबलाक्षः | ११ | १ | ६ | ४ | १७१ |
| शन्तनुः (राजा) | २ | ३ | १ | २ | १९५ |
| शाकटायनः | १ | ४ | १ | २ | ८२ टि० |
| शाकपूणिः | २ | २ | ४ | २ | १८८ टि० |
| शाकल्यः | ६ | ५ | ५ | ३ | २५५ |
| शिरिम्बिठः | ६ | ६ | २ | ३ | २६२ |
| शुनःशेपः (शौनशेपीये) | ३ | १ | ४ | २ | २५९ |
| सप्तऋषयः (रश्मयः) | १२ | ४ | ३ | ४ | ३०९ टि० |
| सरमा (देवशुनी) | ११ | ३ | ३, ४ | ४ | २०५, २०६ |
| साध्याः | १२ | ४ | ७ | ४ | ३२० |
| सुदाः (राजा) | २ | ७ | २ | २ | २३[illegible] |
| सुधन्वा | ११ | २ | ४ | ४ | १८[illegible] |
| सुभर्वः (राजा) | ९ | ३ | २ | ४ | ३[illegible] |
| सौधन्वनाः | ११ | २ | ४ | ४ | १८६ |
| स्थौलाष्ठीविः | ७ | ४ | १ | ३ | ३७८ टि० |
| स्वयम्भूः (ब्रह्म) | २ | ३ | २ | २ | १९९ |
| हरिद्रवः (हारिद्रवकम्) | १० | १ | ५ | ४ | ७[illegible] |
| हिरण्यस्तूपः | १० | ३ | ८, ९ | ४ | १३४, १३६ |
| उत्तानपाद् ("राजा" टी०) | ११ | ३ | २ | ४ | २०३ |
| ऊर्जव्यः (राजा) | ११ | ४ | १५ | ४ | २४२ |

---

# ॥ अथ नैरुक्तदैवतसूची ॥



* युद्धोपकरणानीति परिचायितेषु द्वाविंशतिषु एकविंश मिदम्।

† माध्यमिका वाक् तु मेघध्वनिरेव; अथवा सर्वेषा मेव शब्दाना माकाशप्रभवत्वात् माध्यमिकत्वम्; “वायुः खात्; शब्दस्तत्”—इति य० का० प्रा० १, ६; ७।

‡ ऋषयः आ०—अङ्गिरसः ऋषय एवेति आख्यानविदो वदन्ति।

§ ४ भा० २९६ पृ० §, ३०० पृ० ‡ टीप्पनी च द्रष्टव्या। अस्तकालीनः सूर्य्यः।

| देवतपदम् | निरुक्तनिष्पन्नोऽर्थः | निघ० पृ० | निरु० भा० | निरु० पृ० |
|---|---|---|---|---|
| अथर्वाणः ... | स्थिरवायवः (ऋषयः आ०) | ४८६ | ४ | १९१—१९ |
| अदितिः ... | अखण्डनीया शक्तिः (प्रकृतिः) | ४०१ | २ | ४८८ |
| ,, ... | प्रातःसन्ध्या (दाक्षायणी) ... | ४८६ | ४ | १९९—२०४ |
| ,, ... | अग्निः* ... ... ... | ० | ४ | २००, २०४— |
| अनुमतिः ... | पूर्वा पौर्णमासी ... ... | ४८७ | ४ | २१३—२१५ |
| अपान्नपात् ... | विद्युत् ... ... ... | ४७८ | ४ | १०३, १०४ — |
| अघा ... | व्याधिः, भयञ्च (यु० उ० २२)... | ४७१ | ४ | ५२ |
| अभीशवः ... | अङ्गुलयः (यु० उ० ५) ... | ४६६ | ४ | २४ |
| ,, ... | सूर्यरश्मयः, अश्वरश्मयश्च ... | ३४ | २ | २१५ |
| अरण्यानी ... | अरण्यशक्तिः—बिभीषिका (यु०उ०१८) | ४७० | ४ | ४७—४९ |
| अश्वः ... | प्रसिद्धः† (तै० आ० ३, १२, ५.) | ४६५ | ४ | १—४ |
| अश्वाजनी ... | अश्वकशा (यु० उ० ९) ... | ४६८ | ४ | २९—३१ |
| अश्विनौ ... | तमःप्रकाशौ (रसद-रसहृतौ‡) | ४९१ | ४ | २४७—२५६ |
| असुनीतिः ... | जीवनवायुः (अहविर्भाक्) ... | ४८१ | ४ | १४३, १४५—१ |
| अहिः ... | मेघः, वैद्युताग्निर्वा§ ... | ४८२ | ४ | १५३, १५४ |
| अहिर्बुध्न्यः ... | "योऽहिः स बुध्न्यः" ... | ,, | ४ | १५४, १५५ |
| आग्नापौष्णम्... | (हविः। ऋ० स० ७,६,१२,३.) | ० | ३ | ३४४, ३५० |
| आग्नावैष्णवम्... | (हविः। तै० स० १,८,२२,१.) | ० | ३ | ३४४, ३४९ |
| आत्मा ... | शरीरस्थः परमात्मा च (३,२,३.) | ० | ४ | ३८९, ३९२ |
| आदित्यः ... | सूर्यः, आत्मा च ... ... | ० | ४ | ३९३—४०१, ४० |

* निघण्टौ पृथिवी-गो-वाक्-द्यावापृथिवी-पर्य्यायेषु (१ भा०१३, ९२, १३० ३७५ पृ चादितिशब्दो दृश्यते ; सर्वा आन्तरिक्ष्या एव देवता अदितिशब्दवाच्या—इति तट्टीका कृतो देवराजस्याशयश्च (१ भा० ४८६ पृ०)।

† सूरादश्वः ऋ०स०१,३,११,२। वारुणः तै०ब्रा०३,९,१६,१। आदित्यः तै०आ०५,२ ५

‡ द्यावापृथिव्यौ, अहोरात्रौ, सूर्य्याचन्द्रमसौ, वासात्यौ राजानौ वा। "देवाना मध्वर्यू" तै० ब्रा० ३.२,४,६ ; तै० आ० ३, ३। "देवानां भिषजौ" तै० ब्रा० १, ७, २,५

§ १ भा० ६९ पृ०, २ भा० ११७ पृ०, ऐ० ब्रा० ३, ३, १२. एवं ऋ० स०, ५, ३, २६, ७

| दैवतपदम् | ... निरुक्तनिष्पन्नोऽर्थः ... ... | निघ॰ पृ॰ | निरु॰ भा॰ | निरु॰ पृ॰ |
|---|---|---|---|---|
| कः यसंवत्सरौ | (ऋ॰ स॰ २,२,१६,२.) ... | ० | २ | २६०, २६२ |
| "कारत्याः | ... त्वष्ट्रादयः सविचादयो वा द्वादश | ४६५ | ४ | २०५—२०८ |
| कुहूः | ... उदकम् (यु॰ उ॰ १५) ... | ४७० | ४ | ४०, ४२—४४ |
| केशिताः | एकतद्वितचिताः (अग्निवायुसूर्याः, ऋषयो वा) | ४८६ | ४ | १९६—१९९ |
| केशी | ... धनुःप्रान्ते (द्व॰ ५*) ... | ४७२ | ४ | ५९—६१ |
| चेत्रः | समित् । "अग्निः" शा॰† (आप्री १‡) | ४६१ | २ | ४५६—४६२ |
| गौः : | ... चन्द्रमाः§ (अहविर्भाक्) ... | ४८१ | ४ | १४७—१५२ |
| गौरि | ... आदित्यः ,आत्मा च‖ ... | ० | ४ | २८८ |
| ग्नाः : | ... वर्षणहेतुर्वायुः (रसानुप्रदः) ... | ४७६ | २ | २२०—२२६,२५२ |
| ग्राव | ... ,, (हत्रादिनामदानवहन्ता¶) | ,, | ४ | ८१—८८ |
| चन | ... आदित्यः (अथ॰ स॰ ७,८२,६.) | ४१४ | २ | ५६—६० |
| जा, | ... ,, (चिस्थानः २ भा॰ २८९ पृ॰) | ,, | ४ | २८ |
| , | ... कालः (ऋ॰ स॰ ८, १, १६, ४. सा॰) | ० | ४ | २८८ |
| , | परमेश्वरः ("शुभाशुभकर्मणो द्रष्टा" दे॰**) | ४७२ | ४ | २४० |
| ज्या,, | ... आत्मा ("चेचज्ञसञ्ज्ञकः" दे॰) | ,, | ४ | २६८ |
| तन्द्राकुत्सा | ... (ऋ॰ स॰ ४,१,२०,४.) ... | ० | २ | २५२, २५६ |
| तान्द्राग्नी | ... (ऋ॰ स॰ २,१,१२,४.) ... | ० | २ | २५२, २५२ |
| तिन्द्राणी | ... इन्द्रसहचारिणी (शची = क्रिया) | ४८८ | ४ | २२५—२२८ |
| त्वन्द्रापर्वता | ... (ऋ॰ स॰ २,३,१९,१.) ... | ० | २ | २५२, २५५ |
| द्रापूषणा | ... (ऋ॰ स॰ ४,८,२२,१.) ... | ० | २ | २५२, २५४ |

* द्वन्द्वानीति परिचायितेषु अष्टसु पञ्चम मिदम् ।

† शाकपूणिमते सर्वा एव आप्रियोऽग्निवाचकाः । तै॰ सं॰ २, ६, १, २. च द्रष्टव्यम् ।

‡ आप्रीति परिचायितेषु द्वादशसु प्रथम मिदम् ।

§ सोम-(लता)-परोऽपि इन्दुशब्दो दृश्यते बहुत्र संहितादिषु ।

‖ निघण्टौ उदकनामसु यज्ञनामसु च (१ भा॰ १२५, ३४९) दृश्यते ।

¶ "त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः"—इति, "तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति"—इति च २ भा॰ २१७ पृ॰ । किञ्च दानवः – दानकर्मा, जलप्रदो मेघ एव ४ भा॰ ८४ पृ॰ । एव मसुरादिशब्दार्थोऽपि बोध्यः ; हत्रादिशब्दस्य मेघपर्य्याय एव (१ भा॰ ५८ पृ॰) ।

** दे॰—निघण्टुटीकाकृद्देवराज एव मलिखदित्यर्थः ।

| दैवतपदम् ... | निरुक्तनिष्पन्नोऽर्थः ... | निघ० पृ० | निरु० भा० | निरु० पृ० |
|---|---|---|---|---|
| इन्द्राबृहस्पती | (ऋ० सं० २,७,२५,१.) ... | ० | २ | २५२, २५४ |
| इन्द्राब्रह्मणस्पती | (ऋ० सं० २,७,३,२.) ... | ० | २ | २५२, २५५ |
| इन्द्रावरुणा ... | (ऋ० सं० ५,६,२,१.) ... | ० | २ | २५२, २५४ |
| इन्द्रावायू ... | (ऋ० सं० १,१,२,४.) ... | ० | २ | २५२, २५६ |
| इन्द्राविष्णु ... | (ऋ० सं० ५ ६,२४,५.) ... | ० | २ | २५२, २५६ |
| इन्द्रासोमा ... | (ऋ० सं० ५,७,५,२.) ... | ० | २ | २५२, २५४ |
| इळः ... | हवनीयान्नानि* (आप्री ४) | ४६२ | २ | ४६६ |
| इळा ... | मेघनिर्मात्री वायुशक्तिः† ... | ४९० | ४ | २४१, २४२ |
| इषुः ... | बाणः (यु० उ० ८) ... | ४६८ | ४ | १७—१९ |
| इषुधिः ... | तूणः (यु० उ० ३) ... ... | ४६६ | ४ | २०—२१ |
| उर्वशी ... | विद्युत् (अप्सराः आ०‡) ... | ४८८ | ४ | २२२—२२४ |
| उलूखलम् ... | काष्ठमयम् प्रसिद्धम् (यु० उ० १०) | ४६९ | ४ | २०, २१—२२ |
| उलूखलमुसले | काष्ठमये प्रसिद्धे (द्व० १) ... | ४७२ | ४ | ५४—५६ |
| उषाः ... | मेघसंश्रया प्रभा ... ... | ४८९ | ४ | २३८—२४१ |
| ,, ... | प्राभातिकप्रभा ... ... | ४९१ | ४ | २५५—२६० |
| उषासानक्ता | दिवसरजन्यौ (आप्री ६) ... | ४६१ | २ | ४७३—४७५ |
| ऊमाः ... | विश्वाभूतानि ... ... | ० | ४ | २९६ |
| ऋतः ... | आन्तरिक्ष्यं जलम् (अहविर्भाक्) | ४८१ | ४ | १४५, १४७—१४ |
| ऋभवः ... | रश्मयः (ऋभुर्विभ्वा वाजस्य आ०) | ४८५ | ४ | १८४,१८६—१८९ |
| ओषधयः ... | व्रीह्यादयः (यु० उ० १६) ... | ४७० | ४ | ४४—४६ |
| कः ... | सुखस्वरूपः ("महानात्मा" दे०) | ४७९ | ४ | ११२—११७ |

* एषोऽर्थस्त्वैतरेयब्राह्मणादिसम्मतः (ऐ० ब्रा०२,१,४); यास्केन तु "ईट्टेः"—इत्यादिना "इळः"—इति निरुच्य ईड्यशब्दस्य निगम उदाहृतः, व्याख्यातश्च सोऽग्निदैवतः; तथाचात्रत्यग्रन्थो विचार्य एव; अस्माकन्तु "इळो अग्न आज्यस्य वियन्तु" (तै० ब्रा० ३, ५, ५, १.) इत्यादिसमालोचनया ऐतरेयीयार्थ एव श्रद्धा; तिस्रोदेवीष्वपीद मन्नम्।

† पृथिवी-वाक्-अन्न-गोनामसु च दृश्यते निघण्टौ (१ भा० १४. ७७, १०८, १२० पृ०); ४ भा० २४२ पृ० "*" द्रष्टव्यम्।

‡ ३ भा० ७३—८९ पृ० द्रष्टव्यम्; सर्वत्र तद्रूपकमेव। तै० सं० ३,४,७,३. द्रष्टव्यञ्च।

| दैवतपदम् | निरुक्तनिष्पन्नोऽर्थः | निघ० पृ० | निरु० भा० | निरु० पृ० |
|---|---|---|---|---|
| नाराश ... | आदित्यः, आत्मा च* ... | ० | ४ | ४९८ |
| पथ्या देवता" | (तै० ब्रा०२, २, ५, ६ ; ३, १, १, १.) | ० | ३ | ३०१ |
| पर्जन्य ... | उत्तरामावास्या ... ... | ४८८ | ४ | २१६, २१८—२२० |
| पलितः ... | अग्निविद्युत्सूर्य्याः ... ... | ४९३ | ४ | २९०—२९२ |
| पाकः ... | आदित्यः (अष्टमो नवमो वा) | ४९३ | ४ | २८९—२९१ |
| पित्स्यपतिः | क्षेत्रमध्यस्थः क्षेत्रपालको वायुः | ४७८ | ४ | ९३—९९ |
| ,, ... | जलधरशब्दः† ... ... | ४८८ | ४ | २३०—२३३ |
| पित्रा ... | विद्युत्सहिता मेघध्वनिः ... | ,, | ४ | २२८—२३१ |
| "पि ... | आपः, देवपत्न्यो वा‡ ... | ० | ४ | १५७, २३१ |
| पुराणः ... | सोमकण्डनशिलाः ... ... | ४६६ | ४ | ११—१४ |
| पूषद्गमाः ... | प्रसिद्धोऽन्तरिक्षस्थः§ ... | ४८३ | ४ | १६७, १७०—१७२ |
| पूषतवेदाः ... | पार्थिवोऽग्निः (मुख्योऽर्थः) ... | ४६० | ३ | २९३—२९८ |
| ,, ... | मध्यमोऽग्निः (विद्युत्) ... | ० | ३ | २९५ |
| ,, ... | उत्तमोऽग्निः (सूर्य्यः) ... | ० | ३ | ,, |
| ... | धनुर्गुणम् (यु० उ० ७) ... | ४६८ | ४ | २५—२८ |
| प्रनूनपात् ... | आज्यम्। "अग्निः" शा० (आप्री २) | ४६१ | ३ | ४५९, ४६३—४६५ |
| "र्च्यः ... | वृष्टिसम्बोत्थो वातः ... ... | ४८० | ४ | १२७, १२९—१३१ |
| बास्रोदेवीः | इडा, सरस्वती, भारतीश¶ (आप्री ९) | ४६२ | ३ | ४७७—४७९ |
| बृष्टा ... | अग्निः (आप्री १०) ... | ४६२ | ३ | ४७९—४८४ |

* हिरण्यगर्भः ऋ० सं० ८, ७, ३, १ ; प्रजापतिः ऐ० ब्रा० २, ५, ६ ; ३, २, ९।

† १ भा० ६ पृ० पृथिवी ; २२, ३७८ पृ० द्यौरादित्यश्च ; ७७ पृ० वाक् ; ३४५ पृ० ोता ; ४०२ पृ० सूर्य्यरश्मिः । २ भा० १७५ पृ० पशुः, गोदुग्धः, चर्म, स्नाव, श्लेष्मा, ग़ा ; १८०, ४७८ पृ० ज्योत्स्ना ; २११ पृ० आदित्यः, द्यौः ; २५८ उषाः।

‡ ग्ना इति निघण्टौ वाङ्नामसु स्त्रीनामसु च पठितं दृश्यते (१भा० ७४, २७० पृ०)।

§ ४ भा० १७० पृ० * टिप्पनी, ७३ पृ० † टिप्पनी च द्रष्टव्या। किञ्च तत्र "दिवि ामो अधिश्रितः"—इति सूर्य्यवाचकस्य सोमस्यैव ग्रहणेन समाधातव्यम्।

¶ इडा—पृथिवीस्थाना, आग्नेयी, अन्नरूपा ; इयमेव ब्रह्माणीति प्रसिद्धा। सरस्वती—ध्यस्थाना, वायव्या, वाणीरूपा जलरूपा वा ; इयमेव रुद्राणीति प्रसिद्धा। भारती—स्थाना, सौरी, प्रभारूपा ; इयमेव वैष्णवीति प्रसिद्धा। तै०ब्रा०२, ६,१०, ४. द्रष्टव्यश्च।

| देवतपदम् | निरुक्तनिष्पन्नोऽर्थः | निघ० पृ० | निरु० भा० | निरु० पृ० |
|---|---|---|---|---|
| त्वष्टा ... | गर्भादिरूपकृत् वायुः ... | ४८० | ४ | १३६, १३७— |
| ,, ... | सर्वरूपकृत् आदित्यः* ... | ४९१ | ४ | २६८—२६९ |
| दधिक्राः ... | नवजलधरसहचरो वायुः ... | ४८० | ४ | १२२ |
| दध्यङ् ... | ध्यानशक्तिदः आदित्यः (ऋषिः आ०) | ४९४ | ४ | ३०२, ३०४— |
| दुन्दुभिः ... | रणवाद्यविशेषः (यु० उ० २) | ४६७ | ४ | १९, २१ |
| देवताः ... | अग्निवायुसूर्याः † ... | ० | २ | २८५—२२०— |
| देवपत्न्यः ... | इन्द्राणीप्रभृतयः ... ... | ४९७ | ४ | ३२९—३३२ |
| देवाः ... | (देवतापर्यायोपि देवशब्दः ‡) | ४९६ | ४ | ३१२ |
| ,, ... | रश्मयः, इन्द्रियाणि च ... | ० | ४ | ३५६ |
| देवी ऊर्जाहुती | वीज-कालौ§ (द्व० ८) ... | ४७४ | ४ | ६२—६५ |
| —— जोष्ट्री | ,, (द्व० ७) ... | ,, | ४ | ६१, ६२ |
| दैव्याहोतारा | पार्थिववैद्युतावग्नी—(आप्री ८) | ४६२ | २ | ४७५—४७६ |
| द्यावापृथिव्यौ | द्युलोकभूलोकौ (द्व० २) ... | ४७२ | ४ | ५७, ५८ |
| द्रविणोदाः | पार्थिवोऽग्निः (मुख्योऽर्थः) ... | ४६१ | २ | ४३९—४५६ |
| ,, ... | मध्यमोऽग्निः (विद्युत्), इन्द्रश्च | ० | २ | ४४०—४४६ |
| ,, ... | उत्तमोऽग्निः (सूर्य्यः) ... | ० | २ | ४५२—४५६ |
| द्रुघणः ... | मुद्गरः (यु० उ० १२) ... | ४६९ | ४ | ३४—३७ |
| द्वारः ... | यज्ञगृहद्वारः। "अग्निः" शा०(आप्री६) | ४६२ | २ | ४७०, ४७२—४७ |
| धनुः ... | शरासनं प्रसिद्धम् (य० उ० ६) | ४६८ | ४ | २४, २५—२६ |
| धेनुः ... | नवजलधरगर्जनम् ... | ४८८ | ४ | २२२—२२५ |
| धाता ... | सरसो वायुः ... ... | ४८४ | ४ | १७८ |
| नद्यः ... | गङ्गाद्याः सप्त (यु० उ० १४) | ४७० | ४ | ३८—४२ |
| नराशंसः ... | यज्ञः । "अग्निः" शा० (आप्री ३) | ४६१ | २ | ४६४, ४६६—४६ |

* एष एव प्रथम आदित्य इति मते तूदयाव्यवहितपूर्व्वकालीनोऽयम् ।

†, ‡ "त्रयश्च त्रिंशच्च मनोर्देवा यज्ञियासः"—इति ऋ०सं० ६, २, २७, २; "त्रयस्त्रिं
शद्वै देवाः सोमपाः त्रयस्त्रिंशदसोमपाः"—इत्यादि ऐ० ब्रा० १, २, ८; ता० ब्रा० २, १
२; "त्रयस्त्रिंशद्वै देवताः" इति तै० सं० १ ४, २, ४। ते चाष्टौ वसवः, एकादश
रुद्राः, द्वादश आदित्याः, प्रजापतिश्चेति द्वात्रिंशत्; इन्द्रो वषट्कारो वा त्रयस्त्रिंशः।

§ द्यावापृथिव्यौ, अहोरात्रे, सस्यसंवत्सरौ वा। ४ भा० ६१, ६२ पृ० द्रष्टव्यम्।

| दैवतपदम् | निरुक्तनिष्पन्नोऽर्थः | निघ० पृ० | निरु० भा० | निरु० पृ० |
|---|---|---|---|---|
| रथः ंसः ... | मन्त्रः, न्हस्तुतिमन्त्रो वा ... | ४६६ | ४ | १४—१६ |
| राका (स्वस्ति) | अन्तरिक्षस्थिता (कल्याणसत्ता) | ४८९ | ४ | २२७—२२९ |
| राजा ः ... | मेघः (ऋ०सं०१. २, १६; १७.) | ४७७ | ४ | ८, ८६, ८९ |
| रात्रिः ः ... | आदित्यः, आत्मा च (२ भा० ४८६ पृ०) | ० | ४ | ३८८ |
| रुद्रः ... | विपक्वप्रज्ञः—आत्मा ... | ० | २ | ३०१ |
| ,, रः ... | मृतपितॄणामात्मानः* ... | ४८६ | ४ | १९०—१९३ |
| रुद्राः | पालयितारो रश्मयः† (तै०ब्रा० १, ३, १०.) | ,, | ४ | १९४ |
| रोदः ... | अन्नम् चतुर्विधम् (यु० उ० १२) | ४६९ | ४ | २६—२८ |
| वनस्पदेवत्यम्" | अग्निष्वात्तादयः (तै०ब्रा० १,६,८; ९.) | ० | २ | २७ |
| वरुारवाः ... | बहुगर्जको मेघव्यूहः‡ ... | ४८२ | ४ | १५६—१५९ |
| ा ... | आदित्यः (चतुर्थः पञ्चमो वा) | ४९२ | ४ | २७७, २७८—२८० |
| ाग्नी ... | ("मृग्य मुदाहरणम्" नि०-टी०) | ० | २ | ३५२, ३५९ |
| वरूथवी ... | इयं प्रसिद्धा (यु० उ० २०) ... | ४७१ | ४ | ५१ |
| वि,, ... | मेघमण्डली ( ,, )... | ४८८ | ४ | २२२, २२५ |
| वी,, ... | द्युमण्डली ( ,, )... | ४९४ | ४ | २९९, ३०१ |
| वाज्ञापतिः... | प्रजापालको वाय्वादिः§ ... | ४८२ | ४ | १५१, १५२ |
| वाप्रायोदेवता" | प्रकरणानसारतः ऊह्याः) ... | ० | ३ | ३०७ |
| वार्हिः ... | कुशा (आप्री ५) ... | ४६१ | ३ | ४६८, ४६९—४७२ |
| वृहस्पतिः... | मेघस्थो मेघरक्षको वायुः ‖ ... | ४७७ | ४ | ८९—९१ |

* जीवत्पितॄणा मात्मान इति केचिदाऊस्तन्न रोचतेऽस्मभ्यम्; अन्तरिक्षस्थानदेवतासु पितर इति दर्शनात्; जीवितानां स्थानं हि पृथिव्येवेति (तै० ब्रा० २, ६, ३.)।

† त एव ऋभ्वङ्गिरसभृग्वथर्वादिनामभिस्तोच्यन्ते इत्याख्यानविदः।

‡ "पर्जन्यो गन्धर्वस्तस्य विद्युतोऽप्सरसो रुचः"—इति तै० स० ३, ४, ७, २।

§ मी० जै० सू० १, २, १०. शा० भा० "प्रजापतिः स्यात् वायुराकाश आदित्यो वा"—इति। ऐ० ब्रा० २, ५, १. सृष्टिकर्त्ता। ऐ० ब्रा० ३, २, ७. संवत्सरः। य० वा० स० ३१, १९. म० टी० सर्वात्मा। य० वा० स० ३१, २०. म० टी० आदित्यः। य० तै० ब्रा० १, १, ५, ५. अग्निः; ३, १, १, १. मनः; १, ३, ४, ५. वाक्; १, ३, १०, १०. यज्ञः: २, २, ७, १. रूपं नाम च। य० तै० स० २, १, ३, २ सर्वा देवताः। एवञ्चायं बह्वर्थः।

‖ २ भा० २०१—२०३ पृ०; ऐ० ब्रा० ३, ३, १० ख०; ऋ० स० ८, २, १५, १. सा०।

| दैवतपदम् ... | निरुक्तनिष्पन्नोऽर्थः ... | निघ० पृ० | निरु० भा० | निरु० पृ० |
|---|---|---|---|---|
| ब्रह्म ... | ? ... ... | ० | ४ | ४१२ |
| ब्रह्मणस्पतिः | सुवृष्टिसहस्योऽन्नपालको वायुः | ४७८ | ४ | ९०, ९२—९३ |
| भगः ... | आदित्यः (द्वितीयस्तृतीयो वा) | ४९२ | ४ | २७१, २७४— |
| भारती ... | सूर्यप्रभा ("तिस्रोदेवीः" *)... | ० | २ | ४७९ |
| भृगवः ... | प्रचण्डातपाः (ऋषयः आ०) | ४८६ | ४ | १९१—१९७ |
| मण्डूकाः ... | भेकाः (वर्षाभ्वः) ... | ४६६ | ४ | ७—९ |
| मनुः | दिवाजातः प्रकाशः, तापो वा (वैवस्वतः†) | ४९५ | ४ | ३०२, ३०४—३१ |
| मन्युः | वज्रसदृगो वायुः (तै० ब्रा० २, ४, १, ११.) | ४८० | ४ | १३०, १३२ |
| मरुतः ... | रुद्रपुत्राः‡ (झटिकाः) ... | ४८५ | ४ | १८१, १८२ |
| महान् आत्मा | ? ... ... | ० | ४ | ३८०, ३८१ |
| मित्रः ... | जीवनहेतुर्वायुः, तापश्च ... | ४७९ | ४ | १०८,—११२ |
| ,, ... | आदित्यः§ (तै० ब्रा० १, ७, १०, १.) | ० | ४ | ३०७ |
| ,, ... | महान् आत्मा (२ भा० ३९ पृ०) | ० | ४ | ३६८ |
| मित्रावरुणा | (ऋ० स० ३,४,११,६.) ... | ० | ३ | ३५२, ३५७ |
| मित्रावरुणौ | अहोरात्रे (ऐ० ब्रा० ४, २, ४.) | ० | ४ | २००—२०१ |
| मृत्युः | देहान्तकृच्छ्वासवायुः (तापाभावजन्यः) | ४८४ | ४ | १७१, १७३—१७५ |
| यमः | अग्निः (पार्थिवः, मध्यमः, उत्तमश्च) | ० | ४ | १०६—१११ |
| ,, | रात्रिजातोऽन्धकारः, शैत्यं वा (वैवस्वतः)‖ | ४७८ | ४ | १०४—१०५ |
| ,, ... | आदित्यः (दशम एकादशो वा) | ४९४ | ४ | २९३, २९४—२९५ |
| यमी | तामसी भीतिः, जड़ता वा (वैवस्वता¶) | ४८८ | ४ | २१९—२२१ |
| "याज्ञदैवतः" (तै० ब्रा० १, ५, ५, १०) ... | | ० | ३ | ३०७ |

* आग्नेयी वाक्शक्तिश्च भारतीत्युच्यते श० ब्रा०; ऐ० ब्रा० उ०; १ भा० ८० पृ०।
† मानवानामादिपुरुषः इत्याख्यानविदो वदन्ति। "स्वायम्भुवः" २ भा० २५९ पृ०।
‡ ऋ० स० १, ८, ६, १; ४, ३, २१, १. सा० भा० द्रष्टव्यानि।
§ उक्तञ्चैतत्—"मित्र एव धारयति पृथिवीञ्च दिवञ्चेति (४ भा० ११२ पृ०), त
माध्याकर्षणादिशक्त्या जगतां धारकत्वं सूर्यस्यैव मित्रनामकस्येति प्रतीयते।
‖ पितृराजत्वञ्चास्य ऋ० स० ७, ६, १४, १ ऋ०; अथ० स० १८, ३, १३ म०।
¶ यमी—यमभगिनी; शारीरतापाभावे शैत्यं जड़ता च, तत्रैव मृत्युः।

| दैवतपदम् | ... | निरुक्तनिष्पन्नोऽर्थः | ... | निघ० पृ० | निरु० भा० | निरु० पृ० |
|---|---|---|---|---|---|---|
| शकुनि | ... | घोड़ादिवाहनम् (यु० उ० १) | | ४६७ | ४ | १७—२० |
| शुनासै | ... | उत्तरा पौर्णमासी | ... | ४८७ | ४ | २१३, २१५ |
| श्येनः | ... | भावयव्यादिः* ... | ... | ० | ४ | १५—१७ |
| ,, | ... | ("वारुणी" तै० ब्रा० १,७,१०,१.) | | ४७० | ४ | ४५, ४७ (यु० उ०१७) |
| श्रद्धा | ... | मेघशब्दहेतुरग्निः (मध्यमः) | | ४७६ | ४ | ८०, ८१ |
| संवत्स | ... | मेघशब्दहेतुर्वायुः | ... | ,, | ४ | ७५—८० |
| सदान्त | ... | रुद्रपुत्राः (मरुतः) | ... | ४८५ | ४ | १८२—१८४ |
| सप्तक्ती | ... | रुद्रवाणी (स्फूर्जथुः) | ... | ४९० | ४ | २४२—२४५ |
| समुद्स्पतिः | ... | यूपः। "अग्निः" शा० (आप्री ११) | | ४६४ | २ | ४८५—४९४ |
| ,,शः | ... | मेघस्थो वायुः (जलस्थः) | | ४७५ | ४ | ७१—७६ |
| सरा, | ... | आदित्यः (सप्तमोऽष्टमो वा) | | ४९२ | ४ | २८५—२८९ |
| सरा,, | ... | महान् आत्मा ... | ... | ० | ४ | ३६८ |
| सररवः | ... | त्रिस्रो रश्मयः (दिशस्त्राष्टौ च?) | | ४९६ | ४ | ३२०, ३२५—३२८ |
| ,ष्ठाः | ... | ऋषयः (तै० ब्रा० १, २, १०, ९.) | | ० | ४ | १९४, १९६—१९७ |
| सरडः | ... | सूर्यः, आत्मा च | ... | ० | ४ | ३८५ |
| सकि् | ... | व्यक्ताव्यक्ता च ध्वनिः† | ... | ४८७ | ४ | २११—२१४,२४८—२५८ |
| ,,पस्पतिः | ... | शब्दोच्चारणहेतुर्वायुः‡ | ... | ७८ | ४ | १००, १०३ |
| ,तापर्जन्या | | (ऋ० स० ८,२,१२,५.) | ... | ० | २ | ३५२, ३५९ |
| स[ ]जिनः | ... | आदित्यरश्मयः§ | ... | ४९७ | ४ | ३२७—३२९ |
| सितः | ... | वायुः—गन्धवहः | ... | ४८१ | ४ | १३९ |
| सुायुः | ... | ,, ... | ... | ४७५ | ४ | ६७—७२ |
| [ ]स्वादित्यौ | | (य० वा० स० २४,५५.) | | ० | २ | ३६०, ३६२ |
| [ ]स्तोस्पतिः | ... | ग्राममध्यचरः स्वास्थ्यहेतुर्वायुः | | ४७५ | ४ | ९६, ९९—१०२ |
| एवधाता | ... | सरसो वायुः (धाता) | ... | ४८४ | ४ | १७९ |

* "यज्ञसंयोगाद्राजा स्तुतिं लभते"—इति यास्कः ४ भा० १७। ऐ० ब्रा० ८, ४, ८; ९।

† "परिशेषाल्लिङ्ग माकाशस्य"—इति (वै० द० २, १, २७.) अस्या माध्यमिकत्व मेव।

‡ अतएव "मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्"—इति पा० शि० ७ श्लो०।

§ "अग्निर्वायुः सूर्यः, ते वै वाजिनः"—इति तै० ब्रा० १, ६, ३, ९।

| दैवतपदम् | निरुक्तनिष्पन्नोऽर्थः | निघ० पृ० | निरु० भा० | निरु० पृ० |
|---|---|---|---|---|
| विपाट्छुतुद्रौ | पञ्चनदप्रदेशीयनद्यौ (द्र० ४) | ४७२ | ४ | ५८—६१ |
| विश्वकर्मा ... | रसादिसहचरो गर्भादिहेतुर्वायुः* | ४७९ | ४ | ११८—१२८ |
| विश्वानरः ... | आन्तरिक्ष्यं ज्योतिः ... | ४८४ | २ | ४०८—४१० |
| ,, ... | ,, ... ... | ,, | ४ | १७५—१७७ |
| ,, ... | दिव्यं ज्योतिः ... ... | ० | २ | १७५—१७७ |
| ,, ... | आदित्यः (षष्ठः सप्तमो वा) | ४९२ | ४ | २८४ |
| विश्वेदेवाः ... | रश्मयः, बहुदेवताश्च ... | ४९६ | ४ | २१४—२१९ |
| विष्णुः ... | आदित्यः† (पञ्चमः षष्ठो वा) | ४१२ | ४ | २८०, २८१—२८३ |
| ,, ... | ,, आत्मा च‡ ... | ० | ४ | २९२ |
| वृषभः ... | रथादिवाहो गौः (यु० उ० ११) | ४६६ | ४ | २२—२५ |
| ,, ... | इन्द्रः—"वर्षिता अपाम्" | ० | २ | ४०२ इ० |
| ,, ... | यज्ञः, सूर्य्यः, शब्दश्च ... | ० | ४ | २४५—२४७ |
| वृषाकपिः ... | आदित्यः§ (नवमो दशमो वा) | ४९२ | ४ | २९२—२९४ |
| वृषाकपायी ... | आपराह्णिकप्रभा ... | ४९१ | ४ | २६१, २६२—२६५ |
| वेनः ... | गर्भग्रहणहेतुर्वायुः, (ऋहविर्भाक्) | ४८१ | ४ | १४३—१४४ |
| वैश्वानरः ... | पार्थिवोऽग्निः (मुख्योऽर्थः) | ४६० | २ | ३९८—४११ |
| ,, ... | मध्यमोऽग्निः (विद्युत्) ... | ० | २ | ३९९—४०१, ४३४ |
| ,, ... | उत्तमोऽग्निः (सूर्यः) ... | ० | २ | ४१२—४३४ |

* ४ भा० ११९ पृ० १ पं० वायुः; १२०—१२६ पृ० आदित्यः, आत्मा, भौवनः; १२७
१२८ पृ० अग्निः। अय मेव हि धाता विधातेत्युच्यते (१२० पृ०); तचाच सृष्टिकर्त्तृ
निष्पन्नार्थः। वस्तुतः सृष्ट्युपादानाना मेव सृष्टिकर्त्तृत्वमिति मते सर्वेषामेव वाय्वादीन
सृष्टिकर्त्तृत्व मिति सर्वेषा मेव साधारणं नाम विश्वकर्मेति। परमात्मवादिनये तु आत्म च
एव विश्वकर्मेतिनाम; अपि वा वाय्वादयः सर्व एव आत्मजन्मान इति सर्व एव विश्वकर्माणः

† "अग्निर्वै देवाना मवमो विष्णुः परमः"—इति, "अग्निः सर्वा देवता विष्णुः सर्वा
देवता"—इति च ऐ० ब्रा० १, १, १। इहाप्यग्निसाहचर्याद्विष्णुरादित्यएव। २ भा
४७—५२ पृ० च द्रष्टव्यम्। सर्वथाप्ययं मध्याह्नकालीनः सूर्यः।

‡ "यज्ञः"—इति १ भा० ३४६ पृ०; तै० स० २, १, ८, २; ऐ० ब्रा० १, ३, ४
"विष्णुर्वै देवानां द्वारपः"—इति च ऐ० ब्रा० १, ५, ४।

§ "वर्षिता चावश्यायानां कम्पनश्च भूतानाम्"—इत्यय मपराह्णकालीनः सूर्य एव।

# अथ निरुक्तालोचनम्।

"साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च" (२ भा० १२७ पृ०)

---

अथेद मालोचयामः।—कि मिदं निरुक्तम्? तस्यैतस्य वेदाङ्गत्व मस्ति नास्ति वा? तन्मूलस्य कः प्रणेता, को वा तस्य? कश्चासौ यास्कः? तस्य ऋषित्व मस्ति नास्ति वा? कियांश्चायं ग्रन्थो यास्कीयः? कश्च कालो यास्कस्य? कैमर्थिकी तस्यैषा प्रवृत्तिः? कोऽसौ वेदः? वेदकालनिर्णयः शक्यो ऽशक्यो वास्माकम्? के विषयास्त्वेतन्निरुक्तप्रतिपाद्याः? तट्टीकाकृतोर्देवराजदुर्गाचार्ययोश्च कौ जीवितसमयाविति द्वादश।

( १ )

तत्रादौ पुरैकदास्माभिर्विचारित मपि पुनरिद मेव विचार्यते किञ्चिद्विशेषप्रतिपत्तये कि मिदं निरुक्त मिति। ऋग्भाष्यभूमिकायां सायणस्त्वेव माह—"अतिगम्भीरस्य वेदस्यार्थ मवबोधयितुं शिक्षादीनि षड़ङ्गानि प्रवृत्तानि। अत एव तेषा मपरविद्यारूपत्वं मुण्डकोपनिषद्याथर्वणिका आमनन्ति—'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिष मिति; अथ परा यया तदक्षर मधिगम्यते'—इति। साधनभूतधर्मज्ञानहेतुत्वात् षड़ङ्गसहितानां

कर्मकाण्डाना मपरविद्यात्वम्; परमपुरुषार्थभूतब्रह्मज्ञानहेतुत्वात् उप-निषदां परविद्यात्वम् ।

(१) वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा । तथाच तैत्तिरीया उपनिषदारम्भे समामनन्ति—'शिक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः मात्रा बलं साम सन्तान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः'—इति । * * *। तस्मात् स्वरवर्णाद्यपराधपरिहाराय शिक्षाग्रन्थोऽपेक्षितः ।

(२) कल्पस्त्वाश्वलायनापस्तम्बबोधायनादिसूत्रम् । कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्रेति व्युत्पत्तेः । * * * । अतः कल्पसूत्रं मन्त्रविनियोगेन क्रत्व-नुष्ठान मुपदिश्योपकरोति । * * * । तस्मात् शिक्षेव कल्पोऽप्यपेक्षितः ।

(३) व्याकरणमपि प्रकृतिप्रत्ययाद्युपदेशेन पदस्वरूपतदर्थनिश्चयायोप-युज्यते । * * * । तस्मादियं वाक् इदानी मपि पाणिन्यादिमहर्षिभि-र्व्याकृता सर्वैः पठ्यत इत्यर्थः । * * * ।

(४क) अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम् । 'गौः ग्मा ज्मा क्ष्मा क्षा क्षमा'—इत्यारभ्य 'वसवः वाजिनः देवपत्न्यो देवपत्न्यः'—इत्यन्तो यः पदानां समाम्नायः समाम्नातस्तस्मिन् ग्रन्थे पदार्थावबोधाय परापेक्षा न विद्यते ; एतावन्ति पृथिवीनामानि, एतावन्ति हिरण्यना-मानीत्येवं तत्र तत्र विस्पष्ट मभिहितत्वात् । तदेतन्निरुक्तं त्रिकाण्डम् । * * *। पञ्चाध्यायरूपे काण्डत्रयात्मके एतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्षितया पदार्थस्यो-क्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम् ।

(४ख) तद्व्याख्यानञ्च 'समाम्नायः समाम्नातः'—इत्यारभ्य 'तस्यास्तस्या-स्ताद्भाव्य मनुभवत्यनुभवति'—इत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे, तदपि निरुक्त मुच्यते ; एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्थास्तत्र निःशेषेणो-च्यन्त इति व्युत्पत्तेः । * * * । तस्माद् वेदार्थावबोधायोपयुक्तं निरुक्तम् ।

(५) तथा छन्दोग्रन्थोऽप्युपयुज्यते, छन्दोविशेषाणां तत्र तत्र विहित-त्वात् । * * * । 'यो ह वा ०—० तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्'—इति श्रूयते । तस्मात्तावद्वेदनाय छन्दो ग्रन्थ उपयुज्यते ।

(६) ज्योतिषस्य प्रयोजनं तस्मिन्नेव ग्रन्थे विहितम्—'यज्ञकालार्थसिद्धये'—इति। कालविशेषविधयश्च श्रूयन्ते—* * *। अतः कालविशेषान् अवगमयितुं ज्योतिष मुपयुज्यते।

एतेषां वेदार्थोपकारिणां षसां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वं शिक्षाया मेव मुदीरितम्—'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषा मयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्र मुच्यते। शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्ग मधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते'—इति"—इति।

तदित्थं सर्ववेदभाष्यकारस्य सायणाचार्यस्य नये—द्वे निरुक्ते; मूलं पञ्चाध्यायी, तद्व्याख्यानञ्च द्वादशाध्यायीति; तथा निरुक्तशब्दव्युत्पत्तिप्रकारस्य द्विविध एव; 'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्'—इति, 'एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्था यत्र निःशेषेणोच्यन्ते तन्निरुक्तम्'—इति च। तथैव मुण्डकोपनिषदादौ यच्छ्रूयते निरुक्तमिति पदम्, सायणमते तदुभयोरेव बोधकम्; शिक्षावचनतोऽपि यद् ज्ञायते निरुक्तस्य वेदश्रोत्रत्वम्, तन्मते तदप्युभयविधस्यैव। ततश्चास्य नये द्वयोरेव वेदाङ्गत्वं समम्; द्वयोरेव निरुक्त मित्येवैकनाम्ना बोधाच्च अङ्गानां षट्सङ्ख्यात्व मप्यवितथ मेवेति। एतत्फलितार्थमात्र मवलम्ब्यैव कार्य्यारम्भकाले ऽस्माभिः किञ्चिल्लिखितञ्च, पर मिदानीं तदेव परीक्षितु मेवैष प्रबन्धो ऽवतार्यते।—

श्रूयते ह्येवं छान्दोग्योपनिषदि—"स वा एष आत्मा हृदि, तस्य तदेव निरुक्तꣳ हृद्यय मिति तस्माद्धृदयम् (८. ३. ३.)"—इति। तदेतत् हृदयनिर्वचनं क्वास्ति निघण्टौ, यास्कीये वा? न क्वापि। निघण्टौ तु तादृशनिर्वचनदर्शनस्य सम्भावनैव नास्ति; यास्कीये निघण्टुभाष्यरूपे निरुक्तग्रन्थे ऽपि हृदयशब्दनिर्वचनावसरस्तु बहुत्र विद्यते (४ भा० ५२, १४०, ३६०, ३७५, ४०७ पृ०), परं न क्वापि तन्निर्वचनं कृत मस्ति। ततश्चेमे सुव्यक्ते—नेदं यास्कीयं निरुक्तं प्रादुरभूत् छान्दोग्योपनिषदः पुरस्तात्, 'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्'

—इति सायणीय माद्यं निरुक्तलक्षणं च नाभिमतं छान्दोग्योपनिषत्प्रवक्तु-रिति।

श्रूयते चैवं गोपथब्राह्मणे—"ओङ्कारं पृच्छामः * * * किन्निरुक्तम्? * * * आपेरोङ्कारः सर्व माप्नोतीत्यर्थः (१. १. १४—३०.)"—इत्यादि। तदेतदोङ्कारनिर्वचनं निघण्टौ, याक्कीये वा क्वास्ति? एतत्प्रश्नस्योत्तरं चेद मेव वक्तव्यं न क्वापीति। निघण्टौ तु तादृशनिर्वचनदर्शनस्य सम्भावनैव नास्ति; निघण्टुभाष्यात्मके याक्कीये निरुक्तेऽपि ॐशब्दनिर्वचनावसरस्तु विद्यते (४ भा० ३५२ पृ०) परं न च तत्र तन्निर्वचनं कृत मस्ति। तथाच अत्रापीद मेव द्वयं सुव्यक्तम्—नेदं याक्कीयं निरुक्त माविरभूत् गोपथब्राह्म-णतः पुरस्तात्, न च 'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्' —इति सायणीय माद्यं निरुक्तलक्षण मभिमतं गोपथब्राह्मणप्रवक्तुरिति।

बह्वृक्प्रातिशाख्यद्वितीयवृत्तिकारः खलु देवमित्रपुत्रो विष्णुमित्रोऽप्येव माह—"निरुक्तं पदविभागमन्त्रार्थदेवतानिरूपणार्थं शास्त्रम् (१ प०)" —इति। अतो ज्ञायते तस्यापि सायणीय मन्त्यं निरुक्तलक्षण मेव सम्मत मिति; आद्यलक्षणलक्षिते निघण्टुसमाम्नाये मन्त्रार्थप्रभृतिनिरू-पणोपायस्यादर्शनादिति।

मनुसंहिताया अन्यतमटीकाकारस्य कुल्लूकभट्टस्य मतेऽपि निर्वचनमूलक एव निरुक्तशब्दप्रयोग उपलभ्यते। तथाहि—"श्राद्धभुग् वृषलीतल्पम् (३, २५०)"—इति मानवीयश्लोकस्य व्याख्यानावसरे एतदुक्तं तेन "वृषली-शब्दोऽत्र स्त्रीपर इत्याहुः। निरुक्तञ्च कुर्वन्ति—वृषस्यन्ती चपलयति भर्त्तार मिति वृषली। ब्राह्मणस्य परिणीता ब्राह्मण्यपि वृषलीति"—इति। नैतद् याक्कीयं वचन मिहोद्धृतं कुल्लूकेन, नापि मानवीयम् (८. १६.); अपि तु केषाञ्चिदपरटीकाकारादीनां मत मेव मित्येव प्रदर्शितम्। यास्कस्तु—"वृषलो वृषशीलो भवति वृषाशीलो वा (२भा० ३२१ पृ०)" —इत्येव निरवोचत्। अत्र त्वेतदेव समालोच्यं यदनतिप्राचीनस्य पण्डि-तस्य कुल्लूकस्यापि प्रयोगे निरुक्तं न निघण्टुपर मिति। एव मपरत्रापि

तत्रैव। तथाहि—"मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांस मिहाद्म्यहम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः (५. ५५.)"—इति मानवीयवचनव्याख्यानावसरे ह्युक्तं तेनैव कुल्लूकभट्टेन—"एतत् मांसशब्दस्य निरुक्तं पण्डिताः प्रवदन्ति। इति मांसशब्दस्य निर्वचन मवैधमांसभक्षणपापफलकथनार्थम्"—इति। इहापि कुल्लूकभट्टमते ऽपि निर्वचनपर मेव निरुक्तम्, न तु निघण्टुपाठपर मित्येव प्रदर्शन मस्माक मिष्टम्। प्रदर्शितनिर्वचनन्तु न यास्कान्तम्; अपि मनुसंहिताकारकालिकैः कैश्चिद्विद्वद्भिरनुमोदितं तत्संहितान्तैव कृतम्। यास्कस्तु मनुसंहितान्ततो ऽपि बहुप्राचीनः, तत्काले तु मांसशब्दस्य निर्वचन मन्यथैव प्रचलित मासीदित्यन्यदेतत्। तथाहि—"मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदतीति वा (२भा० ३७८ पृ०)"—इति यास्कीयं निरुक्तम्। "एतद्वै परम मन्नाद्यं यन्मांसम्"—इति च शतपथीया श्रुतिर्यास्कीयस्य तन्निर्वचनस्य साधिका भवितु मर्हति चेति कथान्तरम्। प्रकृते तु कुल्लूकस्यापि सायणीयं द्वितीयनिरुक्तलक्षण मेवाभिमतम्; न त्वाद्यलक्षणं निघण्टुपर मित्येवेहास्माभिरित्थं प्रदर्शितम्।

आख्यायते महाभारते चादिपर्वणि—"महत्त्वाद् भारतत्वाच्च महाभारत मुच्यते। निरुक्त मस्य यो वेद सर्वपापैः स मुच्यते (१. १.२७०.)"—इति। एवञ्चेद मेव प्रतीयते—सायणीयं द्वितीयं निरुक्तलक्षण मेवाभिमतं महाभारतकारस्यापि; न त्वाद्यम्। तत्र मोक्षधर्म्मेऽपि—"अर्जुन उवाच। भगवन् भूतभव्येश सर्वभूतसृगव्यय। लोकधाम जगन्नाथ लोकाना मभयप्रद। यानि नामानि ते देव कीर्त्तितानि महर्षिभिः। वेदेषु सपुराणेषु यानि गुह्यानि कर्मभिः। तेषां निरुक्तं त्वत्तोऽहं श्रोतु मिच्छामि केशव। न ह्यन्यो वर्णयेन्नाम्नां निरुक्तं त्वा मृते प्रभो!। श्रीभगवानुवाच। ***। गौणानि तत्र नामानि कर्म्मजानि च कानि चित्। निरुक्तं कर्मजानां त्वं शृणुष्व प्रयतोऽनघ!। ***। नराणा मयनं ख्यात मह मेकः सनातनः। आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं

मम तत् पूर्व मतो नारायणो ह्यहम्। * * *। नामानि चैव गुह्यानि निरुक्तानि च भारत!। ऋषिभिः कथितानीह यानि सङ्कीर्त्तितानि ते (३४१,३४२ अ० १—५६, १—१३८ श्लो०)"—इति। एव मपीद मेव प्रतीयते—सायणीयं द्वितीयं निरुक्तलक्षणा मेवाभिमतं मोक्षधर्म्मलेख-कालेऽपि; न त्वाद्यम्। तत्रैव निघण्टुनाम चाख्यातं दृश्यते, परं न तन्नि-रुक्तपर मपि तु पदपाठात्मकग्रन्थविशेषपर मेव। तथाहि—"निघण्टुक-पदाख्याने विद्धि मां वृष मुत्तमम्। कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते। तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः (३४२ अ० ८६, ८७. श्लो०)"—इति। पठितश्चात्र निघण्टौ "वृषाकपिः"—इति (४९३ पृ०)। तदेवं निघण्टोर्निरुक्तत्वं नेष्टं महाभारतकारस्येत्यपि सुवचम्।

यास्कीयेऽत्र निरुक्ते च निरुक्तस्योल्लेखो बहुत्रैवोद्घोषितः, परं न तत्र क्वापि निघण्टोर्ग्रहणं विवक्षितम्। तथाहि—"इतीमानि चत्वारि पदजातान्यनुक्रान्तानि—नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। तत्र नामा-ख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च (२ भा० ८३पृ०)"—इत्येव मा-दीनि द्रष्टव्यानि। निघण्टोस्तु निघण्टुनाम्नैव व्यपदेश आदृतः; न क्वापि निरुक्तत्वेन। तथाहि ग्रन्थारम्भे एव—"निगमनान्निघण्टव उच्यन्ते (२ भा० ७पृ०)"—इति। ग्रन्थभूमिकायां (२भा० १३७पृ०) निघण्टोः स्वरूपं पारि-भाषिकलक्षणं च प्रदर्शितम्, तदप्यत्र समालोचनीय मेव। तथाहि—"एतावन्तः समानकर्माणो धातवः, * * *, एतावन्त्यस्य सत्वस्य नामधेयानि, एतावता मर्थाना मिद मभिधानं नैघण्टुक मिदं देवताना मप्राधान्येनेद मिति; तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्"—इत्यादि। किञ्चात्र द्वितीयाध्यायारम्भे यन्निरुक्तशास्त्रप्रयोजनं वर्णितम् (२भा० १४७—१७४ पृ०), तदपि निघण्टुपाठादेव न सम्भवति। अतः सायणीये द्वितीय-निरुक्तलक्षणे एव भगवतो यास्कस्यापि सम्मतिर्ज्ञायते ; न त्वाद्ये।

भगवता कात्यायनेनाप्युक्तम् भाष्यानामश्लोकग्रन्थे—"बाहुलकं प्रकृते-स्तनुदृष्टेर्नैगमरूढिभवं हि सुसाधु। नाम च धातुज माह निरुक्ते व्याक-

रणे शकटस्य च तोकम्"—इति। एतच्छ्लोकपर्यालोचनेन च बुध्यते सायणीयं द्वितीयं निरुक्तलक्षण मेव भगवतः कात्यायनस्यापि सम्मतम्; न त्वाद्यं लक्षण मिति;—द्वितीयलक्षणलक्षिते यास्कीये (२भा०८३ पृ०) एव ग्रन्थे तथोक्तदर्शनादिति।

तस्यैव श्लोकस्य व्याख्यानावसरे भगवान् पतञ्जलिश्चाह—"नाम खल्वपि धातुज मेव माऽऽहनैरुक्ताः (३अ० २पा० ३आ०)"—इत्यादि। ततश्चावगम्यते तस्य भगवतोऽप्यभिमतं सायणीयं द्वितीयनिरुक्तलक्षण मेव; न त्वाद्यम्;—आद्यलक्षणलक्षितेऽखिलनिघण्टौ तथादर्शनादिति।

"सञ्ज्ञाया मनाचितादीनाम् (पा० ६. २. १४६.)"—इति सूत्रीये आचितादिगणे निरुक्तशब्दपाठदर्शनाच्चावगम्यते गणपाठकृतोऽपि सायणीयान्त्यलक्षणे एव सम्मतिः; अन्यथा हि निघण्टोर्निरुक्तसञ्ज्ञया प्रसिद्ध्यभावादेव सिद्धे कृतं तत्र निरुक्तशब्दपाठेनेति।

अस्ति चेयं हरिकारिका—"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्"—इति। तदित्थं भगवता खलु माङ्गलिकेनाचार्येण पाणिनिना "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (६. ३. १०९.)"—इति सूत्रेण यत्सर्वं सङ्क्षेपेण विहितम्, तदपि निरुक्ते विशदीकृत्य प्रदर्शित मिति फलितम्। तथाचोक्तं तत्र महाभाष्ये—"पृषोदरादीनीत्युच्यते, कानि पृषोदरादीनि? पृषोदरप्रकाराणि। कानि पुनः पृषोदरप्रकाराणि? येषु लोपागमवर्णविकाराः श्रूयन्ते, न चोच्यन्ते (६अ० ३पा० ३आ०)"—इति। लोपागमवर्णविकारादयश्च बोधिता एव विशेषेण यास्कीयेऽत्र निरुक्ते; द्वितीयाध्यायारम्भे तु "अथ निर्वचनम्"—इत्यादीनि, "एकपदानि निर्ब्रूयात्"—इत्यन्तानि (२भा० १३७—१६० पृ० १६प०) ग्रन्थसारभूतानि तथाविधानि बोधनानि स्वय मुक्तानि च। तथा चेद मवश्यं वक्तुं शक्यते यत् श्रीमतो भर्तृहरेरपि सायणीयं द्वितीयं निरुक्तलक्षण मेवाभिमतम्; न त्वाद्यम्;—आद्यलक्षणलक्षिते हि निघण्टौ लोपागमादीनां बोधनादर्शनादिति।

निघण्टुनिर्वचनकारस्य देवराजयज्वनोऽपि सायणीये द्वितीयनिरुक्तलक्षणे एवाभिमतिः प्रतीयते। तथाहि तत्र भूमिकाया मेव—"निरुक्तविद्या-निगमप्रतिष्ठाम् अवाप यास्कः"—इति, "प्रणमामि यास्कभास्करं यो हृत्तमसः प्रकाशितपदार्थः"—इति, "भगवता यास्केन ०—० निरुक्तानि" —इति, "तत्र प्रदर्श्य कतिचिदेव निरुक्तानि"—इति, "स्कन्दस्वामी च तत एव निरुक्त मनुजगाम"—इति, "भाष्यकारेण (यास्केन) बहुवक्तव्यत्वात् प्रकरणश एव निरुक्तानि"—इति, "अतो ऽन्येषां यथाक्रमेणानिरुक्ते"—इति, "पदानां (निघण्टुस्थितानाम्) भाष्यकारेण (यास्केन) निरुक्तानाम्"—इति, "भाष्यकारेणैव ०—० निरुक्तानि"—इति, "निर्वचनश्च निरुक्तं ०—० निरीक्ष्य क्रियते"—इति, "स्कन्दस्वामिकृतां निरुक्तटीकाम्"—इति, "निरुक्तकारोक्तनिर्वचनसामान्यलक्षण मनुसृत्य निरुक्तिः क्रियते"—इति द्वादशवारं प्रयुक्तं निरुक्तपदम् ; परं नैकत्रापि सायणीयाद्यलक्षणलक्षितस्य निघण्टोर्बोध उपयुज्यते। ग्रन्थमध्येऽपि बहुत्रैव निरुक्तस्योल्लेखः कृतः। तथाहि—"तथाच निरुक्तम्—योनिरन्तरिक्षं महानवयवः परिवीतो वायुना (१भा० २६९०)"—इति। दृश्यते चैतत् यास्कीये एव निरुक्तद्वितीयाध्यायीयद्वितीयपादतुर्यखण्डे; न तु निघण्टौ। यत्र यत्र तु निघण्टोर्बोधन मेवाभीप्सितम्, तत्र सर्वत्रैव निघण्टुरिति समाम्नाय इति च प्रयुक्तम्। तथाहि तत्रैव भूमिकायाम्—"समाम्नायं ०—० निर्ब्रुवता" —इति, "तेन च समाम्नायपठितानां पदाना मन्येभ्यः ( प्रसङ्गान्निरुक्तेभ्यः ) व्यावृत्त्यर्थं किञ्चिच्चिह्नं कृतम्"—इति, "क्षीरस्वाम्यनन्ताचार्यादिकृतां निघण्टुव्याख्याम्"—इति च ; एव मन्यत्राप्यूह्य मिति।

निरुक्तवृत्तिकारस्य श्रीमद्दुर्गाचार्यस्यापि सायणीयं द्वितीयनिरुक्तलक्षण मेवाभिमतम् ; न त्वाद्यम्। तथाहि तदीयमङ्गलाचरणे एव दृश्यते— "पञ्चाध्यायी-निघण्टोश्च निरुक्त मुपरिस्थितम्"—इति। एवञ्च तन्मते खलु पञ्चाध्यायात्मग्रन्थस्य कस्य चित् निघण्टुरिति नाम, तद्व्याख्यानग्रन्थस्य च निरुक्त मिति स्फुटम्। ततश्च भूमिकाया मपि षडङ्गग्रन्थप्रयोजनकथना-

वसरे—"अतः * * * निरुक्तं नामेद मङ्ग मारभ्यते । ०—० । अथास्यैव मखिलपुरुषार्थोपकारवृत्तिसमर्थस्य सङ्ग्रहः । तद्यथा— नामाख्यातोपसर्गनिपातलक्षणम्, ०—० इत्येष समासतो निरुक्तशास्त्रचिन्ताविषयः"— इत्युक्त मस्ति । एतस्माच्च ज्ञायते यास्ककृतभाष्यरूपस्यैव ग्रन्थस्य निरुक्तत्वं तत्सम्मतम्; न हि पञ्चध्यायीरूपस्य निघण्टुनामग्रन्थस्य नामाख्यातोपसर्गनिपातलक्षणादयश्चिन्ताविषया दृश्यन्ते। स्पष्टञ्चोक्तं तत्तदनुपद मेव —"तस्य ( यास्कीयनिरुक्तस्य ) एषा गवाद्या देवपत्न्यन्ता पञ्चाध्यायी सूत्रसङ्ग्रहः (२भा० ६पृ० १५—२० पं०)"—इत्यादि ।

मधुसूदनसरस्वतीकृते प्रस्थानभेदनामग्रन्थे प्रथमन्तूक्तम्—"एवं शिक्षाव्याकरणाभ्यां वर्णोच्चारणपदसाधुत्वे ज्ञाते वैदिकमन्त्रपदाना मर्थज्ञानाकाङ्क्षायां तदर्थं भगवता यास्केन 'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः'— इत्यादि त्रयोदशाध्यायात्मकं निरुक्त मारचितम्'—इत्यादि । तथा च तस्यापि सायणीये द्वितीयनिरुक्तलक्षणे एव सम्मतिर्बुध्यते; न त्वाद्यलक्षणे । तत उत्तरम् "एवं निघण्टवोऽपि वैदिकद्रव्यदेवतात्मकपदार्थपर्यायशब्दात्मका निरुक्तान्तर्भूता एव"—इत्युक्तम् । तदेतन्निघण्टोर्वेदाङ्गत्वसाधनायैवानन्यगत्योक्तम्; न तु तत्स्वप्रमासिद्ध मिति ।

व्यवहारतस्च ज्ञायते सायणीयं द्वितीयं निरुक्तलक्षण मेव सङ्गतम्; न त्वाद्य मिति । तथाहि— बहूनां निघण्टुपुस्तकाना मादौ 'निघण्टुः प्रारम्भः' इति, सर्वेषां मध्ये च 'निघण्टौ प्रथमाध्यायः' इत्यादि, अन्तेऽपि 'निघण्टुः समाप्तः'—इत्येवमादय एव प्रयोगा लिखिता दृश्यन्ते; न क्वचिदपि निघण्टुपुस्तके निरुक्तशब्दोल्लेखो दृष्टः केनचिदद्यापि । एवं निघण्टुनिर्वचनग्रन्थे च 'निघण्टुनिर्वचन मारब्धम्' इति, 'निघण्टुनिर्वचने प्रथमोऽध्यायः' इत्यादि, 'निघण्टुनिर्वचनं समाप्तम्' इत्येवमादय एव प्रयोगा लिखिता दृश्यन्ते; न क्वचिदपि निघण्टुनिर्वनपुस्तके 'निरुक्तनिर्वचन मारब्धम्'—इत्येवमादयः प्रयोगा लिखिता दृष्टाः केनचिदद्यापि ।

ननु निरुक्तवृत्तिकृता भगवद्दुर्गाचार्येण तु निरुक्तप्रथमाध्यायीयप्रथम-

पादव्याख्यानान्ते "इति जम्बूमार्गाश्रमवासिन आचार्यभगवद्दुर्गस्य कृतौ ऋज्वर्थायां यास्कीयप्रथमाध्याय-निरुक्तव्याख्यायां षष्ठस्याध्यायस्य प्रथमः पादः"—इति यास्कीयप्रथमाध्याय-स्यैव निरुक्तषष्ठाध्यायत्वं बोधितम्; एव मुत्तरत्रापि; ग्रन्थान्ते च "इति यास्कीय-सपादसप्तदशाध्यायी ऋज्वर्था नाम निरुक्तवृत्तिः समाप्ता"—इति यास्कीय-सपादद्वादशाध्याय्या एव सपादसप्तदशाध्यायीत्वं ज्ञापितम्। ततश्च तन्मते निघण्टुनिरुक्तयोरैकात्म्य मेव प्रतीयते। तथासत्युपपन्न मेव निघण्टोश्च निरुक्तत्व मिति तन्मते सायणीय माद्यं निरुक्तलक्षण मपि सुसङ्गतम्?—इति चेन्न; उपक्रमोपसंहारविरोधप्रसङ्गात्। उक्तं ह्युपक्रमे "पञ्चाध्यायी-निघण्टोश्च निरुक्त मुपरि स्थितम्"—इति, "अयञ्च तस्या द्वादशाध्यायी भाष्यविस्तरः (२भा० ८पृ०)"—इति च; एवञ्च निघण्टोः पञ्चाध्यायीत्वम्, तद्भाष्यात्मकस्य निरुक्तस्य द्वादशाध्यायीत्वं सुतरां तयोः पार्थक्यञ्चोररीकृत मेव; प्रतिपादीयवृत्त्युपसंहरणे ग्रन्थोपसंहरणकाले च उभयोरैकात्म्य-मूलकं निरुक्तस्यैव सपादसप्तदशाध्यायीत्वं स्वीकृत मिति स्वीकारे तु उप-क्रमोपसंहारयोर्विरोधोऽपरिहार्य एव प्रसज्येत। अतस्तद्विरोधप्रसक्ति-भिया इद मेवावधारित मस्माभिः,—सूत्रभाष्यरूपयोः निघण्टुनिरुक्तयोः उभयोरेव वृत्तौ कृते दुर्गाचार्येण; तत्र सूत्रात्मकस्य निघण्टोरेव प्राथ-म्यात् प्रथमं स एव व्याख्यातः, तत उत्तरञ्च निरुक्तग्रन्थः; निरुक्तावबोधे च क्वचित् क्वचित् निघण्ट्वपेक्षा विद्यत एवेत्यनयोः पूर्वापरीभावेनैकत्र संस्था नञ्च तस्य वृत्तिकृतोऽभीप्सित मिति उभयवृत्त्योरैकात्म्यं मत्त्वा सपाद-सप्तदशाध्यायीत्वं व्यपदिष्ट मिति भवतु नाम तदीयवृत्तिग्रन्थस्य सपाद सप्तदशाध्यायीत्वं तेन किं निरुक्तस्येति।

तथापि "निरुक्तव्याख्यायां षष्ठस्याध्यायस्य"—इत्याद्युक्तयः कथ मुप-पद्येयुः?—इति चेदत्र ब्रूमः,—यथा च महाभारतादौ तथैवात्रापीत्येवं व्यवहारो न शङ्काहेतुरिति। तथाहि महाभारते आदिपर्वण्येव—"पौलो-मपर्वणि एकादशोऽध्यायः" इति। न तत्र पौलोमस्यैव पर्वणः एका-दशोऽध्यायो गत इति बुध्यते; अपि तु तत्रैकाध्यायात्मक मनुक्रमणिका-

पर्व, तत एकाध्यायात्मकं पर्वसङ्ग्रहपर्व, तत एकाध्यायात्मकं पौष्यपर्व, ततोऽष्टाध्यात्मकं पौलोमपर्व, तत्सङ्कलनयैवैकादशत्वं सम्पद्यते। एव मुत्तरत्रापि तत्रान्यत्र च सर्वत्रैव। एव मिहापि निरुक्तवृत्तिग्रन्थस्य निघण्टुव्याख्याने पञ्चमाध्यायेऽतीते निरुक्तप्रथमाध्याय एव षष्ठत्वेन व्यपदिष्ट इति नैव शङ्काप्रसङ्ग इति। दृष्ट मेव मन्यत्रापि—अस्ति मगधादिषु सुप्रचलित मेकं व्याकरणम्, तस्य एकार्द्धस्य सारस्वत मिति नाम, अपरार्द्धस्य तु चन्द्रिकेति। नेमौ भागौ एककालिकौ एककर्तृकौ वा सुतरां विभिन्नग्रन्थावित्येव प्रसिद्धौ ; परं तट्टीकाकृद्भिर्भट्टमाधवप्रभृतिभिः सारस्वतस्य व्याकरणपूर्वार्द्धत्वं चन्द्रिकाया व्याकरणपरार्द्धत्वं च व्यवस्थाप्य उभयोरेवैका टीका सिद्धान्तरत्नावल्यादिका प्रणीता ; परं न हि तट्टीकया सारस्वतचन्द्रिकयोरैकात्म्यं सम्पन्नम्,—सारस्वतन्तु सारस्वत इत्येव, चन्द्रिका च चन्द्रिकेत्येवाद्यापि व्यपदिश्यते लोके ; पर मुभयोर्यथाकृतपूर्वापरीभावतोऽधिगमनेनैव भवेद् व्याकरणबोध इत्येव बोधितम्। एव मत्रापि उभयवृत्तेरैकात्म्यतया न हि निघण्टुनिरुक्तयोरैकात्म्यतासम्भवो न च तदिष्टं दुर्गाचार्यस्य ; परं वृत्तिबोधितपूर्वापरीभावतोऽधिगमनेनैव भवेद् वेदपदार्थबोध इत्येव बोधित मिति।

तदेवं निरुक्तवृत्तिकारस्यापि सायणीये द्वितीयनिरुक्तलक्षणे एवाभिमतिर्नाद्ये इति यदुपन्यस्तं पुरस्तादिह, तत्समीचीन मेवेति वृत्तिकृतो व्यवहारः खलु सायणीयाद्यलक्षणखण्डनेऽननुकूल इति च नाशङ्क्यम्। तद्वृत्तावेव हि पञ्चाध्याय्या निघण्टुरित्येव लोकव्यवहार इति च स्पष्ट मेव स्वीकृतम्। तथाहि—"त एते गवादयो देवपत्न्यन्ता निघण्टवः, तदेकदेशो नैघण्टुकं प्रकरण मिति निघण्टु सञ्ज्ञया व्यवहारो लोके ;—निघण्टु मधीमहे निघण्टु मध्यामहे इति (२भा० १४३ पृ०)"—इति। एवञ्च लोकव्यवहारादपि सम्यक् ज्ञायते निघण्टुर्निघण्टुरेव निरुक्त मेव निरुक्त मिति।

सिद्ध मित्थं प्राचीनतमानां प्राचीनाना मनतिप्राचीनाना माधुनिकानाञ्च

सर्वेषा मेवार्षग्रन्थकाराणाम्, ग्रन्थसमाप्त्यादिलेखसमालोचकानां व्यवहार-विदां च सर्वेषा मभिमतं सायणीयं द्वितीयं निरुक्तलक्षण मेव ; तथाद्य-लक्षणन्तु सर्वथानभिमत मिति । तथाच "अर्थाववोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्"—इति सायणस्वकपोलकल्पितं लक्षणं निर्मूल मेवेति निघण्टुभाष्यात्मकस्यास्य यास्कीयस्यैकस्यैव निरुक्तत्वं सर्वसम्मतम् ; निघ-ण्टोस्तु निघण्टुत्व मेव । अथैव मपि निघण्टुग्रन्थस्य निरुक्तमूलसूत्रा-त्मकत्वात् निरुक्तसम्पादनात् पुरैवैकत्र चात्र सम्पादन मस्मत्कृतं न दोषाये-त्याशास्महे वय मिति शम् ।

---

( २ )

अथैतर्हि विचार्यते,— निघण्टुनिरुक्तयोरुभयोरेव वेदाङ्गत्व मुतान्य-तमस्य ? अन्यतमस्यैवेति चेत्, कस्य ? इति । वेदाङ्गग्रन्थास्तु षडेव ; श्रूयते हि गोपथब्राह्मणे "षडङ्गविदस्तत्तथाधीमहे (१. १. २७.)"—इति । पातञ्जलमहाभाष्यादौ स्मर्यते च "आगमः खल्वपि ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षड़ङ्गो वेदो ऽध्येयो ज्ञेयस्व"—इति पस्पशायाम् । एष चागमः कात्यायनानुमत एव ; यतोऽस्यैतद्वार्त्तिकम् "रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्"—इति । पाणिनिशिक्षादावपि वेदाङ्गानि षडेवेति निर्णीतं दृश्यते ( इ ए० )। प्रस्थानभेदेऽप्युक्तम्—"वेदाङ्गानि षट्"—इति । तत्र शिक्षा, कल्पः, व्याकरणम्, छन्दः, ज्योतिष मिति पञ्चाङ्गानि तु सर्व-सम्मतान्येव ; निघण्टुनिरुक्तयोः उभयोरेव वेदाङ्गत्वे षट्त्वं व्याहन्येत ; अन्यतमस्य वेदाङ्गत्वेऽन्यतमस्य तदभावः सुतरां सम्पद्यते ; तत् कस्य वेदाङ्गत्व मिष्टं कस्य नेत्ययं विचारः प्रवर्त्तते ।

प्रस्थानभेदे उभयोरेव वेदाङ्गत्व मङ्गीकृतम् । कथं न तथा षट्त्वं व्याहत मित्यत्राह च तत्र "एवं निघण्टवोऽपि वैदिकद्रव्यदेवतात्मकपदार्थ-पर्यायशब्दात्मका निरुक्तान्तर्भूता एव"—इति । न च तत्कथनमात्रेणैव

उभयोर्वेदाङ्गत्वसाधनायैव वा वादिनस्तथा स्वीकुर्युः ; वादी भद्रं न पश्यतीति हि प्रसिद्ध मेव।

ऋग्भाष्यभूमिकायां सायणाचार्योपीमां विपत्तिं परिलक्ष्यैव निघण्टोरपि निरुक्तत्वसम्पादकं प्रदर्शित माद्यलक्षणं (आ पृ०) व्यरचयत्। तथाच निघण्टोस्स्व निरुक्तत्वेनैव ग्रहणात् सप्ताना मप्येषां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्व मुपपद्येत, न च वेदाङ्गानां षट्त्वं व्याहन्येतेति। प्रशंसनीयैवैषा तस्य चातुरी! परं किं कुर्मो वयम्,—तदेतन्मतं न सर्ववादिसम्मतं नापि विचारसह मिति प्रतिपादितं पुरस्तादिहैवेति।

पाणिनिशिक्षायान्तु "निरुक्तं श्रोत्र मुच्यते"—इति दर्शनात् निरुक्तस्यैव वेदाङ्गत्वं सिध्यति, न तु निघण्टोः। न चेदं सहसा श्रद्दधामहे ; परकालजस्य भाष्यस्य वेदाङ्गत्व मस्ति, अतिपूर्वकालजस्य मूलस्य तन्नास्तीति वदत एवाश्रद्धोत्पादात्। ननु भवान् पाणिनिवचनेऽपि कथ मश्रद्दधते ? अत्र ब्रूमः—न चेदं पाणिनिवचनम् ; न हि पाणिनिः स्वय मेव "अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा"—इत्युपक्रान्तु मर्हेत्, नापि हि "येनाक्षरसमाम्नाय मधिगम्य महेश्वरात् कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः"—इत्याद्युक्तिभिरुपसंहर्त्तुं वार्हेदिति।

निरुक्तवृत्तिकृन्मते तु निरुक्तस्यैव वेदाङ्गत्वम्, निघण्टोस्तु साक्षाच्छन्दोधर्मित्व मेवेति किङ्कृतं भवेद् वेदाङ्गत्वेनेति नात्रास्माक मश्रद्धावसरः। तथाहि "अतः *** निरुक्तं नामेद मङ्ग मारभ्यते। प्रधानञ्चेद मितरेभ्योऽङ्गेभ्यः"—इत्याद्युक्तिभिः निरुक्तस्य वेदाङ्गेषु प्राधान्यं स्थापितम् ; "तस्यैषा गवाद्या देवपत्न्यन्ता पञ्चाध्यायी सूत्रसङ्ग्रहः। सा च पुनरियं *** श्रुतर्षिभि *** श्छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाता। सैषा छन्दोऽवयवभूता छन्दोधर्मिण्येव; यथायथापन्नास्ता गौर्ग्मोधम्मा*"—इत्युक्त्या तु निघण्टोश्छन्दस्त्व मव्याहृत मेवेति च वर्णितम्।

---

* मुद्रितपाठस्तु आदर्शदोषात् स्वल्पाशुद्धियुक्त इति त्वाशङ्कितं तत्रैव (१भा०६४०*)।

'यथा' च 'अयथापन्ना' अप्रकृतविपन्ना परं सामान्यविपन्ना, 'अस्ता' यूथपरिभ्रष्टा, 'गौः' 'गोधर्म्मा' एव ; न हि तस्या यूथपरिभ्रष्टत्वेन गोत्वं नष्टम् ; तथैव छन्दोभ्यः समाहृता एषा पञ्चाध्यायी छन्द एव, समाहरणहेतुत एव न ह्यस्या छन्दस्त्वं तिरोभूत मिति भावः (२भा०६पृ०)। तथाच निघण्टुनामकानि समाम्नायात्मकानि पदानि तु बहुपूर्वकालत एव विश्रुतानि ; तान्येव पदान्यनुसृत्य यास्को द्वादशाध्यायात्मकं निरुक्ताख्यं ग्रन्थं निर्ममे, तस्य च वेदार्थबोधोपयोगितया तदानीन्तनैरार्यैर्वेदाङ्गत्वं स्वीकृत मित्येव निरुक्तवृत्तिकृदाशयः फलितः।

यास्कस्य पूर्वश्रुतिलेखदर्शनात्त्ववगम्यते निघण्टोर्नास्ति वेदाङ्गत्वम्, नापि वेदत्व मिति। तथाहि—"उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदञ्च वेदाङ्गानि च (२भा० १२७पृ०)"–इति। अत्र "इमं ग्रन्थम्"–इत्युक्त्या निघण्टोरेव ग्रहण मिष्टम्, न तु निरुक्तस्यास्य ; प्रणीयमाने हि निरुक्ते "समाम्नासिषुः"–इति परोक्षातीतप्रयोगानुपपत्तेः। अपरञ्च निरुक्त मासीत् शाकपूणादिप्रोक्तम्, तदभिलक्ष्यैव तथा क्रिया प्रयुक्तेत्यपीह वक्तुं न युज्यते ; अनुपद मेव "एतावन्तः समानकर्माणो धातवः"—इत्याद्युक्त्या निघण्टुपरिचयस्यैवोपलब्धेः। अतएवाह वृत्तिः "इमं ग्रन्थं गवादि देवपत्न्यन्तं समाम्नातवन्तः"—इति ; गवादिः देवपत्न्यन्तश्च विघण्टुग्रन्थ एव। किञ्चात्रापर मपि विवेच्य मस्ति— न चेदं वचन मेतस्य हि निरुक्तस्य कर्त्तुर्यास्कस्य, यथा चेम मिति एतन्निरुक्तं गृह्येतेति ; अपि त्वेतद् वचनं प्राचीन मेव यास्केनेहानूक्त मिति। अतएव "बिल्मं भिल्मं भासन मिति वा"—इति बिल्मशब्दस्य निर्वचनप्रदर्शनं सङ्गच्छते यास्कस्य ; न हि स्वय मेव दुरूहं शब्दं प्रयुज्य तद्व्याख्यानाय च यतितुं प्रवर्त्तते कश्चिद्। स्वपदवर्णन मेव भाष्यलक्षणम्, निरुक्तस्य च निघण्टुभाष्यत्वं सर्वसम्मत मिति स्वपदव्याख्यान मपीह न दोषायेत्यपि वक्तुं न युज्यते ; यदत्र बिल्मशब्दस्य भिल्म मिति प्रतिशब्द मुक्त्वापि अर्थान्तरं वदति भासन मिति, वेति संशय मपि भ्रमयति ; तदेवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति— न ह्येवेदं स्वपद-

वर्णन मिति ; न हि स्वपदव्याख्याने स्वज्ञान-वैकल्पिकत्व-प्रकटन मुपयुज्यते क्वचिदपीति । एतस्मिन् खलु वचने बहूनि समालोच्यानि सन्ति, तानि चोपरिष्टाद् वक्ष्यामः ; साम्प्रतन्तु वेदाङ्गेभ्यः पृथगेव निघण्टोर्ग्रहणं यास्कस्याप्यभिमत मित्येवेह प्रदर्शन मस्मदिष्टम् ।

नन्वत्र वृत्तिग्रन्थे "वेदाङ्गानि च इतराणि (२भा० १३९ पृ० ६ पं०)"—इति लिपिभङ्गितो निघण्टोरपि वेदाङ्गत्वं ध्वनित मेवेति चेत्, ध्वनयतु नाम स तथैव किन्तेन ; न हि वृत्तिकारोऽभ्रान्त एवेत्यस्माकम् । वस्तुतो यदि नाम 'इतराणि'—इति पदप्रयोगात् तथैव ध्वनितं गम्येत, तर्हि तादृशवचनस्यैकदेश्युक्तित्व मेव स्वीकार्यम् ; प्रदर्शितभूमिकोक्तविरोधात् । महाभाष्ये भगवतोऽशेषशेमुषीसम्पन्नस्य पतञ्जलेरप्येवं बह्वैकदेश्युक्तयः प्रदर्शिता लघुशब्देन्दुशेखरादौ नागेशभट्टप्रभृतिभिः, तत् किमस्य वृत्तिकृतः स्वल्पधियो हि दुर्गाचार्यस्येति । वस्तुतो दुर्गाचार्यस्य निरुक्तवृत्तिभूमिकायां दृष्टं यास्कीयस्य निरुक्तस्य वेदाङ्गत्वम्, तन्मूलस्य निघण्टोस्तु न तत्त्व मपि छन्दोधर्मित्व मेवेत्येव युक्ततरं प्रतिभात्यस्माक मिति ।

अथात्रापरापि च शङ्का समुत्पद्येत नाम । तथाहि—प्रदर्शितयास्कपूर्वश्रुतिसमालोचनादवगतं नास्ति निघण्टोर्वेदाङ्गत्व मिति बाढम् ! परं तथैवेद मप्यवगम्यते यास्कप्रणीतैतन्निरुक्तात् बहुपूर्व मेव वेदाङ्गानि निर्वृत्तानीति कथं तत्र वेदाङ्गेषु तदानीं प्रणीयमानस्यैतस्य निरुक्तस्यान्तर्भावः शक्यते वक्तु मपि ? वदत एव हि व्याघातः स्फुट मिति । इहास्माक मीदृगस्ति गुरूपदेशः,—प्रदर्शितगोपथश्रुत्यादिभ्योऽवगम्यते षडेव वेदाङ्गानीति ; प्रदर्शितशिक्षावचनादिभ्यश्च ज्ञायते निरुक्तस्य च वेदाङ्गान्यतमत्वम् ; यास्कीयेऽत्रैव निरुक्ते "नैरुक्ताः", "शाकपूणिः"—इत्यादिपर्यालोचनया च बुध्यते तत्पूर्व मपि चासन् बहवो निरुक्तविदस्तथा बहूनि निर्वचनापरपर्यायाणि निरुक्तानि चेति ; तेषा मेव साजात्यहेतुक मस्य यास्कीयस्यापि ग्रन्थस्य यथा निरुक्तत्वं तथैव वेदाङ्गत्व मपीति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह बह्वृक्प्रातिशाख्यकारः शौनकोऽपि—"शाखापवा-

दात् प्रतिपत्तिभेदात् निन्दन्त्यङ्गत्वेति च वर्णशिक्षाम्। नैतेन शास्त्रेण विशिष्यतेऽन्यैः ङ्गत्वञ्च वेदाङ्ग मनिन्द्य मार्षम् (१४.१८,१९.)"—इति। तथैतत्तृतीयवृत्तिकृतोव्वटेन च स्वारब्धवृत्त्युपक्रमे शौनकीयस्यास्य प्रातिशाख्यस्यापि वेदाङ्गत्व मिष्यमाणेनैतदुक्तम्—"अङ्गता चास्यान्यशास्त्रसव्यपेक्षस्य नैव स्यादङ्गत्वत्वात्? ङ्गत्वतां वेदाङ्गता मनिन्द्यता मार्षताञ्च स्वय मेव शौनको दर्शयिष्यति—'ङ्गत्वञ्च वेदाङ्ग मनिन्द्य मार्षम्'—इति। अनयोः पक्षयोर्यतरः पक्षः श्रेयान्, ततरो गृहीतव्यः"—इति।

अथापरञ्च;—यद्यपि प्रदर्शितयास्कपूर्वश्रुतवचनोत्तरांशे वेदशब्देन ब्राह्मणभागएवेष्ट इति बुध्यते ब्राह्मणत्वं निघण्टोर्निराकृतम्; तत्पूर्वांशे मन्त्रभागस्यापि पृथक् श्रुतेः मन्त्रत्व मपि वारितम्; तथापि तत्रैव 'समाम्नासिषुः'—इति क्रियादर्शनात् समाम्नायत्व मव्याहत मेव। अतएव "समाम्नायः समाम्नाः स व्याख्यातव्यः"—इति निरुक्तग्रन्थारम्भस्य, 'सैषा छन्दोऽवयवभूता छन्दोधर्मिण्येव (२भा० ६ पं०)"—इति दुर्गाचार्यप्रबन्धस्य च नासङ्गतिप्रसङ्गः।

तदित्थ मसौ निघण्टुर्न हि मन्त्रग्रन्थः, न च ब्राह्मणग्रन्थः, नापि वेदाङ्गान्यतमः; अपि तु मन्त्रतो न्यूनमानः, ब्राह्मणवेदाङ्गाभ्या मन्यूनमानश्च समाम्नायविशेष एवेति यास्कस्याशयः, तत्पूर्वतनानाञ्च सम्मतः; किञ्चास्यैव निघण्टुभाष्यस्य निरुक्तत्वं तदनुगतं वेदाङ्गत्वञ्चेति शम्।

---

( २ )

अथैतर्हि विचार्य मेतत्,—निरुक्तमूलसूत्ररूपस्य निघण्टोः कः समाम्नाता को वा प्रणेता तद्भाष्यरूपस्य निरुक्तस्य?—इति।

अनतिप्राचीनाना मार्यकोविदाना मन्यतमः स्वर्गतो विमुक्तो वा ख्यातो मधुसूदनसरस्वती सञ्जग्राहैकं प्रबन्धं प्रस्थानभेद-नामेति। तत्रेदं लिखितं दृश्यते—"भगवता यास्केन 'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्या-

तव्यः'—इत्यादि * * * निरुक्त मारचितम्"—इति । नात्र वादो दृश्यते ऽस्माभिः । तत उत्तरं लिखित मस्ति—"निघण्टुसञ्ज्ञाकः पञ्चाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केनैव कृतः"—इति । तदेतल्लिखनं तदीय मेतद्विषयकं ध्वान्त मेव प्रकटयति । हन्त भो वेदान्तिन् मधुसूदन ! स्वोद्धृतं 'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः'—इति वचन मपि नालोचितम् ?—अद्ययुगीयेन कृतस्य ग्रन्थस्य कथं भवेत् समाम्नायत्वम् ? अथवा सम्भव एवैवं भवादृशानां सर्वभ्रमवादिनां वेदान्तिनाम् । एवं हि तल्लिखितं निघण्टोर्निरुक्तान्तर्भूतत्व मपि (का पृ०) कथं नाम भवेत् श्रद्धेयं तद्विरुद्धबहुप्रमाणदर्शिना मिति ।

सायणाचार्यस्त्वत्र सम्यगेवालेखीत्—"गौः ग्मा ज्मा क्ष्मा क्षा क्षमेत्यारभ्य * * * पदानां समाम्नायः समाम्नातः"—इति, "तद्व्याख्यानञ्च समाम्नायः समाम्नात इत्यारभ्य * * * यास्को निर्ममे"—इति च (ऋ०सं०भा० भू०) । तदेवं सायणमते हि निघण्टोः समाम्नायत्वेनानादित्वम्, निरुक्तस्य तु तद्भाष्यरूपत्वं यास्कीयत्वञ्चेति प्रतिपन्नम् ।

देवराजयज्वकृत-निघण्टुटीकाया भूमिकायाञ्च तथैव बोध्यते । तथाहि —"भगवता यास्केन समाम्नायं नैघण्टुक-नैगम-दैवतकाण्डरूपेण त्रिविधं गवादि देवपत्न्यन्तं निर्बुवता"—इत्यादि । एवञ्चैतन्नयेऽपि निघण्टोः समाम्नायत्वेनानादित्वम्, तन्निर्वचनात्मकस्यैतस्य निरुक्तस्य यास्कीयत्वं च स्फुटम् ।

निरुक्तवृत्तिकारः खलु दुर्गाचार्यस्तु यद्यपि स्वग्रन्थभूमिकायां निरुक्तवर्णनसमये केन कृतं तदिति नोक्तवान् ; पर मनुपदं प्रथमखण्डव्याख्यानावसरे एवाह—"आचार्यः अयं यास्को निरुक्तकारः"—इति ; एव मन्यत्रापि । निघण्टुकर्तृनिर्णयविषये तूक्तं तद्भूमिकाया मेव । तथाहि— "सा (पञ्चाध्यायी निघण्टुः) च पुनरियं साक्षात्कृतधर्मभ्यो महर्षिभ्यः उपदेशेन मन्त्रार्थं मुपश्रुत्य श्रुतर्षिभिरवरशक्तिदौर्बल्य मपेक्ष्य तदनुजिघृक्षया वाच्यार्थसामर्थ्यादभिधेयानुन्नीय मन्त्रार्थावबोधाय छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाता"—इति । एतच्च सर्वं निरुक्तोक्तसारभूत मेव

(२भा० १३७, ७ पृ०)। एवं हि वृत्तिकृतो दुर्गाचार्यस्य मतेऽपि निघण्टोः समाम्नायत्वेनानादित्वम्, निरुक्तस्यैतस्य यास्कीयत्वं च सुव्यक्तम् ।

महाभारतीये मोक्षधर्मपर्वणि 'शिपिविष्ट'-नामनिर्वचनप्रसङ्गे ये त्रयः श्लोकाः (३४२ अ० ६९, ७०, ७१ श्लो०) दृश्यन्ते, तैश्च ज्ञायते यास्ककृत मेवैतन्निरुक्तम् । तथा हि—

"शिपिविष्टेति चाख्यायां हीनरोमा च यो भवेत् ।
तेनाविष्टन्तु यत् किञ्चित् शिपिविष्टेति च स्मृतः ।
यास्को मा मृषिरव्यग्रोऽनेकयज्ञेषु गीतवान् ।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम् ।
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः ।
मत्प्रसादादधोनष्टं निरुक्त मभिजग्मिवान्"—इति ।

अस्त्येव ह्यत्र निघण्टुभाष्ये शिपिविष्ट-निर्वचनञ्च द्विविधम् (३ भा० ४७—५३ पृ०)। तत्रैव किञ्चिदुत्तरं द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां (३४२ अ० ८६, ८७ श्लो०) निघण्टुकर्तृनाम च प्रकटितम् । तथाहि—

"वृषो हि भगवान् धर्म्मः ख्यातो लोकेषु भारत ।
निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृष मुत्तमम् ।
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः"—इति ।

अस्त्येव ह्यत्र निघण्टौ दैवतकाण्डे द्युस्थानदेवताख्यानेषु वृषाकपिरिति पदपाठश्च (१भा० ४९० पृ०)। इतश्चावधार्य्यते यस्य खल्वेतस्य निघण्टु-ग्रन्थस्य कर्तृपदं पाणिनितोऽप्यवरजाय यास्काय दातु मुद्यतः प्रस्थानभेद-कारः, स हि वेदाङ्गाना मुत्पत्तितो बहु प्रागेव ब्राह्मणग्रन्थानाञ्चोत्पत्तिः, ततोऽपि प्राक् महर्षिणा कश्यपेन समाम्नात इति ; तदानीन्तनस्यैव कश्यपस्य प्रजापतित्वश्रवणात्, निघण्टूत्पत्तिज्ञापकस्य यास्कानूक्तवचन-स्यापि तत्रैव तात्पर्यावबोधाच्च ।

तथा चानूक्तं भगवता यास्केन पुराकल्पश्रुतवचन मिदम्—"साक्षात्-

क्षतधर्माण ऋषयो बभूवुः (मन्त्रकाले मन्त्रद्रष्टारः); तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत-धर्मभ्यः (शाखाप्रवक्तृभ्यः) उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः; उपदेशाय ग्लायन्तो ऽवरे ( निघण्टु-ब्राह्मण-वेदाङ्गकाराः) बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं ( निघण्टुम्) समाम्नासिषुः, वेदञ्च (ब्राह्मणञ्च), वेदाङ्गानि च"–इति (२भा०१३७ पृ०)। एतस्माच्च श्रुतेः समासत इमानि पञ्च ज्ञायन्ते; –(१) पुराकल्पेऽपि मन्त्राणा मुत्पत्तिरनिर्णीतैवेति प्रथमम्। (२) पूर्वं मन्त्रा विकीर्णा एव स्थिताः, ततो ग्रन्थीभूताना मेव तेषा मध्ययनाध्यापनतः शाखाः समुद्भूताः, ततः सर्वशाखा-गतानां नैघण्टुकादिपदानां सुखबोधार्थं निघण्टुनामको ग्रन्थः समाम्नातः, ततः तन्मात्रेण मन्त्रार्थज्ञानेऽक्षतक्षयतां संलक्ष्य मन्त्रभागीयदुरवबोधपदादीनां तात्पर्यादिवेदनाय ब्राह्मणग्रन्थाः समाम्नाताः, तत उत्तरं ब्राह्मणग्रन्थैरपि मन्त्रार्थबोधो न पर्याप्त इति निरुक्तादीनि अङ्गानि समाम्नातानीति द्विती-यम्। एतादृशक्रमोत्पत्तिज्ञाने तादृशक्रमश्रुतिरेव मानम्। किञ्च यतोऽत्र "मन्त्रान् सम्प्रादुः"–इति कथनानन्तरं पुनरुक्तं 'वेदञ्च'–इति, अतो ज्ञायते, नेह वेदशब्देन मन्त्राणां बोधोऽपि तु तदतिरिक्तभागानां ब्राह्मणाना मेव। वेदशब्देन ब्राह्मणग्रन्थमात्राणां ग्रहणाच्च वेदाङ्गत्वं न विलीयते निरुक्तादीनाम्; यदर्थं हि प्रवृत्ता वेदाः (ब्राह्मणग्रन्थाः), तदर्थ मेव चेमानि प्रवृत्तान्यङ्गानीत्येव मेषा मङ्गाङ्गिभावोपपत्तेः। ननु 'इमं ग्रन्थं' कीदृशम्? तदुत्तर मेव श्रुतं 'वेदम्'–इति, तथाच निघण्टोर्वेदत्वातिदेशायैव प्रयुक्त मत्रैतद् वेद मिति चेन्न; विशेषफलाभावात् ब्राह्मणग्रन्थोल्लेखाभावापत्तेश्च। तथा हि—समाम्नायत्वं तु सिद्ध मेवास्य निघण्टोः, 'समाम्नासिषुः'–इति क्रियादर्शनात्; वेदतुल्यत्व-समाम्नायत्वयोश्च नास्ति कार्यकृतो विशेषः; किञ्च तथा सति श्रुतावत्र मन्त्राणाम्, वेदतुल्यस्यास्य निघण्टोः,वेदाङ्गानाञ्च सर्वेषां श्रवणं सम्पन्नम्; परं ब्राह्मणग्रन्थानान्तूल्लेखो नैव सम्पद्येतेति तादृशवादिना मसमीक्ष्यकारितैव प्रतिपद्येतेति। (३) यथा चेह मन्त्राणां पृथक् श्रुतेः वेदशब्देन मन्त्रातिरिक्तानां ब्राह्मणानां बोध उपलभ्यते, तथैव वेदाङ्गानां पृथक् श्रवणाच्च ब्राह्मणेष्वपि वेदाङ्गेतरवाक्याना मेव ग्रहणीय-

तेति तृतीयम् । (४) निरुक्तादिवेदाङ्गानां सर्वेषा मेव षण्णां वीजादिरूपत-यैतन्निरुक्ततोऽपि प्रागस्तित्व मिति चतुर्थम् । (५) मन्त्राणा मर्थज्ञानसौक-र्य्यायैव यथाम्नानं निघण्टोः,— यथा च वेदाङ्गानां निरुक्तादीनाम्; तथैव तदानी मपि स्वीकृत मासीद् वेद इति प्रसिद्धानां ब्राह्मणानाञ्च; ततः कालभूयस्त्वानुसारत एव ब्राह्मणानां मन्त्रसमत्वं जात मिति पञ्चमम् ।

एवञ्चैतस्माच्छ्रुतेर्निघण्टोः खलु ब्राह्मणग्रन्थेभ्योऽपि प्रागाम्नातत्वं गम्यते; तादृग्समाम्नायत्वमूलक मतिपुराकालिकत्वं च सुव्यक्त मेव; ततः प्रद-र्शितमहाभारतात् काश्यपप्रजापतिकृतत्वञ्च तस्य लब्ध मिति योगतः सम्पन्नस्तत्कर्तृनिर्णय इत्यस्माकम् ।

तस्यैव निघण्टोर्भाष्यरूपस्यैतस्य निरुक्तस्य कर्त्ता तु यास्कः । अत्रै-तिह्य मेव मानम्; न हि तद्ग्रन्थस्य आरम्भे मध्येऽन्त्ये वा क्वचिदपि तथा प्रत्यायकं वाक्यादिक मस्ति । देवताप्रणामादिभिर्मङ्गलाचरणादिकं येषु ग्रन्थेषु दृश्यते, प्रायस्तेषु ग्रन्थकृद्भिः स्वय मेव स्वाख्यान मप्याख्यात मस्ति; बहुत्र तु प्रकरणसमाप्तौ ग्रन्थसमाप्तौ च ग्रन्थकृन्नामोल्लेखो दृश्यत एव; कथाप्रसङ्गतोऽपि ग्रन्थकृन्नामावगमो भवत्यनेकत्र । इह तु नास्ति तथा मङ्गलाचरणम्, नास्ति पादादिसमाप्तौ च तथोल्लेखः, नास्ति च मन्वादा-विव कथाप्रसङ्गः; अतोऽत्रैतिह्य मेव शरणं ग्रन्थकृन्नामविज्ञानाय । टीका-कृत्प्रभृतीनां लेखोऽपि तदनुगत एव । प्रदर्शितमहाभारतवचनान्यप्येतस्यैव ग्रन्थस्य कर्त्तासीद्यास्कः कश्चनेति निःसंशयबोधने नालम्; तत्रैतदीयस्यै-काक्षरस्यापि यथावदुद्धृतिविरहात्; वरं तत्रापि एष एव यास्कः की-र्तित इत्यवगमे, एतस्य यास्ककृतत्वप्रवाद एवैकं वीजम् । तदेव मेतादृश-ग्रन्थकर्तृनिर्णये ऽनन्यगत्या प्रवाद एव शरणम्; तथा च यत एव मस्ति प्रवादश्चिरन्तनः,—इदं निरुक्तं यास्ककृत मिति, अत एव ज्ञायतेऽस्य निरुक्तग्रन्थस्य प्रणेता भगवान् यास्क इति शम् ।

---

( ४ )

अथास्य निरुक्तस्य कर्तृविषये त्वन्यदपि किञ्चिद् विचार्य मस्ति ;— कोऽयं यास्कः ? इति ; कस्यापि परिचयोऽस्य प्राप्यते न वेति भावः ।

एको हि यास्कः श्रूयते शतपथब्राह्मणे उभयत्र (१४.५.५.२०, २१.— ७.३.२६.२७.) । तथा हि—"अथ वंशः । तदिदं वयं (शतपथ-ब्राह्मणप्रवक्तारः) शौर्पणाय्यात्, शौर्पणाय्यो गौतमात्, * * * भारद्वाजो भारद्वाजाच्चासुरायणाच्च यास्काच्च"—इति । "तत्र प्रथमान्तः शिष्यः, पञ्च-म्यन्त आचार्यो बोद्धव्यः"—इति च तदीयव्याख्यानं द्विवेदगङ्गकृतम् । एवञ्च शतपथीयो यास्कः शतपथब्राह्मणप्रवक्तुः षड्विंशपुरुषादप्यधिकः पूर्वतनः, किञ्च मधुविद्यायाः सम्प्रवक्ता चाभूदिति सम्पद्यते । नायं निरुक्तकारः ; एतस्य निरुक्तकारस्य हि पाणिनेरपि परभवत्वनिर्णयादद्ययुगीयत्वात्, मधुविद्याप्रवक्तृत्वाप्रसिद्धेः, ब्राह्मणकालानन्तर मेव वेदाङ्गकाल इति शास्त्रतो युक्तिबुद्धितश्च सुसिद्धाच्चेति । तदनुपद मेव क्रमात् स्फुटिष्यति ।

पिङ्गलोक्ते छन्दोग्रन्थेऽपि स्मर्यते चैकत्र यास्क इति । तथाहि— "उरोबृहती यास्कस्य (५.१०.)"—इति । अय मपि यास्को नैतन्निरुक्त-कारः ; अत्र तथाऽदर्शनात् । यस्य खलु यास्कस्य ग्रन्थे विहिता 'उरो बृहती'—इति सञ्ज्ञा, स एव यास्कः तत्र पिङ्गलसूत्रे स्मृतः ; स च छन्दःसूत्रकारादेतस्माच्च पिङ्गलात् पूर्वतनः, तत्समकालिको वेति विचार-विषयश्च । पर मत्र निरुक्ते क्वापि नोपलभ्यते उरोबृहतीव्याख्यान मिति सिद्ध मेव नायं सः ; अपि तु पिङ्गलोक्तो यास्कः खलु कश्चित् भिन्न एवेति । स च छन्दःशास्त्रीयग्रन्थकारो भवितु मर्हतीत्यपि सम्भाव्यते । अत एव ऋक्प्रातिशाख्यस्य तृतीयवृत्तौ शास्त्रप्रयोजनश्लोकव्याख्यानावसरे उक्त मुव्वटेन—"तथा सर्वैः छन्दोविचित्यादिभिः पिङ्गल-यास्क-सैतवप्रभृतिभिः यत् सामान्येनोक्तं लक्षणम्"—इत्यादि ।

कश्चिदाह,—शौनकीये प्रातिशाख्यग्रन्थे चैकत्र दृश्यते यास्कनाम, स एव यास्कोऽस्य निरुक्तस्य प्रणेतेति । परं तत्र "वैयास्कः", "यास्कः" वा

इति राजते सन्देहोऽत्रापि। तथाहि—"न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वैयास्कः। अन्यत्र वैमद्याः सैकादशिनी मुखतो विराट् (१७. २५.)"—इति, "दाशतये भवा दाशतयी काचित् एकपदा नास्ति इति वैयास्क आचार्यो मन्यते"—इत्यादि चोव्वटकृतं तद्व्याख्यानम्। तदेतदुव्वटव्याख्यादर्शनात्तु प्रतीयते तत्र वैयास्कस्यैवोल्लेखः; अन्यथा हि व्याख्याकालेऽपि मूलानुरूप एव वैपूर्वो यास्कः कथं नाम दृश्येत। अस्तु वा तत्र यास्कस्यैव ग्रहणम्, परं सोऽपि खलु यास्को नैतन्निरुक्तकारो भवितु मर्हति; अत्रापि हि तथाऽदर्शन मेव हेतुः; सपरिशिष्टेऽखिलनिरुक्ते हि न क्वापि वैमद्या ऋग्व्यतिरिक्ता काचिदेकपदा दाशतयी नास्तीत्येतदर्थकं वाक्यं ध्वननं वा यास्कीयं दृश्यते। एव मपि यद्युच्येत अय मेव यास्कः प्रातिशाख्यकृतः शौनकस्य लिपिविषयताङ्गत इति, तथा च प्रकारान्तरेण शौनकस्यान्यत-भाषित्व मुन्मत्तप्रलापित्वं वोक्तं भवेत्; तत्तथाकल्पनातो वरं यास्कान्तर-कल्पनैवेत्यस्माकम्।

पाणिनिसूत्रेष्वपि नायं यास्कः परिचितः। यद्यप्यस्त्येकं सूत्रं पाणिनीयं "यस्कादिभ्यो गोत्रे (२. ४. ६३.)"—इति, परं न तत् निरुक्तकारयास्कपरि-चयायालम्; तत्र श्रुतेन यस्केन यास्कस्य बहुपार्थक्यात्। तत्र हि साक्षाद् विश्रुतो यस्कः; न तु यास्कः; यास्कस्तु न यस्कः; अपि तु तद्गोत्रीयः; तादृशयास्कस्त्वद्यतनीयोऽप्यस्त्येव। सूत्रे 'गोत्रे'—इति दर्शनादिदन्तु प्रती-यत एव,— यस्कगोत्रस्य ज्ञानं पाणिनेरवश्यं स्थित मिति। "अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् (पा० ४. १. १६२.)"—इति शासनाच्च ज्ञायते, यस्कस्यो-परितनतृतीयपुरुषतोऽद्यतनीयान्ताः सर्व एव यस्कगोत्राः, तथाच सर्वेषा मेव यास्क इति व्यवहारः पाणिन्यादिसम्मतः; बहुत्वे त्विद मेव सूत्रं लुग् विधत्ते इत्यन्यदेतत्।

ननु चेयं तत्सूत्रवृत्तिः—"एभ्योऽपत्यप्रत्ययस्य लुक् स्यात् तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् (भ० दी०)"—इति। एवञ्च यस्कस्यानन्तरापत्यस्य यास्क-स्यास्यैव तत्र पाणिनेर्बोध उपलभ्यते?—इति चेत्, दृश्यता मिह नागेशभट्टकृतं

तद्व्याख्यानम्—" 'अपत्यप्रत्ययस्य'-इति प्रवराध्यायप्रसिद्धघटकस्येत्यर्थः ; अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिकं गोत्र मिति भावः"-इति। तथा च दीक्षित-वृत्तौ अपत्येत्यस्यापि गोत्रेत्यर्थ एव सुतरां सम्पन्नः; वस्तुतो गोत्रोऽप्यपत्य मेव। तदेवं तत्सूत्रस्य यस्कगोत्र एव विषय इति स्थिरम्; अपि गोत्रज्ञान-निर्णयेऽपि नैव भवेद्यक्तिज्ञाननिर्णयः कि मस्यत्र विचार्यं नाम।

किञ्च "शिवादिभ्योऽण् (४.१.११२.)"-इति सूत्रीये शिवादिगणेऽपि यस्क एव पठ्यते। तेनैव च सूत्रेण यस्कशब्दात् अपत्यार्थेऽणि यास्कः पदं सिध्यति। तथाच य.. यस्कस्यानन्तरापत्यं यास्कः, तथैव यस्कस्य शततमा-पत्यं सहस्रतमापत्यं च यास्क एव। लघुशब्देन्दुकार-नागेशभट्टमते तु इहापि गोत्रार्थे एव प्रत्यय इष्टः। तथा हि—"शिवादिभ्योऽण्"-इति अस्ति पाणिनिसूत्रम् (४.१. ११२.)। अत्रेयं दीक्षितकृता वृत्तिः—"गोत्रे इति निवृत्तम्। शिवस्यापत्यं शैवः। गाङ्गः"-इति। अत्राह नागेशः—"निवृत्त मितीदं वृत्त्यनुरोधेन ; यूनि लुक् सूत्रभाष्ये गोत्रसञ्ज्ञासूत्रपर्यन्तं गोत्रा-धिकार इति ध्वनितत्वात्। तत्र भाष्ये"-इत्यादि। "शास्त्रीयगोत्रञ्च युवत्वानक्रान्तपौत्रप्रभृत्यपत्यरूपम्"-इति, "लौकिकञ्च प्रवराध्यायप्रसि-द्धम् ; लोके तत्रैव गोत्रव्यवहारात्"-इति द्विविधं गोत्रलक्षणञ्च तत्रै-वोक्तम्, तदपीह पर्य्यालोच्यम्।

अतएव च "वान्यस्मिन् (पा० ४.१.१६५.)"-इति सूत्रीयभाष्य-व्याख्यानावसरे कैयट आह—'यस्कस्यापत्यं गोत्र मिति शिवाद्यण्'-इत्यादि। एवञ्च यस्कगोत्रीयः कश्चन यास्कोऽस्ति लोके इत्येवं ज्ञान मासीदेव पाणिनेरिति स्वीकारेऽपि कथं नामेदं स्वीकृतं भवेत् यस्कगोत्री-योऽप्ययं निरुक्तकारः पाणिनेः परिचित एवेति ?

अपरिचित एवायं यास्क इत्यपि कथ मिति चेदुपरिष्टात्तत् प्रति-पादयिष्यामः कालनिर्णयप्रसङ्गे ; इह तु वचनमात्रेणैव बोधयामो नेति। तस्मात्मत मस्मद्वचनादेव स्वीकार्य मेतत्—पाणिनिसूत्रपरिचितोऽपि नायं यास्कः, परं पाणिनिशासनावधारणादेवैतत्तु विज्ञायत एव यस्कगोत्रीयो-

ऽय मिति। आसीच्च गोत्रकारो यस्कः कश्चनातिप्राचीनतमः प्रायः कश्य-पादिसमकालज एव; आश्वलायनीयश्रौतसूत्रान्तिमेऽध्याये दशम्यादिषु कण्डिकासु गोत्राः प्रवरा निरूपिताः, तत्र दशम्यां (आ० श्रौ उ० ६. १०.१०.) यस्कस्यापि स्मरणात्। तस्यैव ग्रहण मिह पाणिनिसूत्रे इति तु सुव्यक्त मेव।

तदेवं पाणिन्यादौ खल्वस्य यास्कस्य परिचय मप्राप्य खिद्यमाना वयं ततोऽप्यधिकान्वेषणपराः सन्तो दृष्टवन्त एकं यास्कं निरुक्तकारत्वेन परि-चितं महाभारतैककोणे। ततस्तेभ्य एव पूर्वप्रदर्शितमहाभारतश्लोकेभ्यो ऽनुमीयते यास्कोऽय मेव वा भवेत्तस्य महाभारतकारस्य परिचित इति।

ततो बङ्गेषु सपरिशिष्टनिरुक्तपुस्तकेषु केषुचित् सर्वान्ते "नमः पार-स्कराय नमो यास्काय (४भा० ४१३ पृ०)"—इति पाठोऽपि दृश्यते। तथा च तत्र केनचित् पारस्करायेति यास्कपरिचयायैवोक्त मिति चानुमीयते। सत्येवं पारस्करोऽयं यास्क इत्यपि लब्धः। पर मिह पारस्करज्ञान मपि न सुगमम्। आसीदेकः पारस्करो गृह्यकृत् प्रसिद्धः; आसीच्च पारस्करो धर्मशास्त्रीयान्यविधानकृत् रघुनन्दनशूलपाणि-प्रमाणभूतो निर्णयसिन्ध्वादौ कीर्त्तितश्च। तथाहि शुद्धितत्त्वे—"ग्रहपिण्डदाने आदि-पुराणोक्तात् पश्चान्तर माह पारस्करः—'प्रथमे दिवसे देयास्त्रयः पिण्डाः समाहितैः। द्वितीये चतुरो दद्यादस्थिसञ्चयनं तथा'"—इत्यादि। अथापि पारस्करशब्देऽत्रास्त्येव सन्देहभावः, पातञ्जले हि महाभाष्ये "पारस्करो देशः"—इति निर्णयात्। तथा ह्यस्त्येकं सूत्रं पाणिनीयम्—"पारस्कर-प्रभृतीनि च सञ्ज्ञायाम् (६.१.१५७)"—इति। तत्रैवं भाष्य मस्ति—"अविहितलक्षणः सुट् पारस्करप्रभृतिषु द्रष्टव्यः। पारस्करो देशः, कारस्करो वृक्षः, रथस्या नदी, किष्किन्धा गुहा, किष्कुः"—इति। तत्रेय मस्मदाशङ्का—गृह्यकृत् पारस्कर एव निरुक्तकृतोऽस्य यास्कस्य पूर्व-पुरुष इति चेत् कथं न महाभाष्यकारस्य पतञ्जलेः परिचितः? न हि यास्कस्यास्य ततोऽप्यर्वाचीनत्वसम्भव इति च प्रतिपादयिष्याम उपरिष्टात्;

तत्पूर्वपुरुषस्य पारस्करस्य तु का कथा। अथवा देशनामत एव तस्य गृह्यकृतो नाम इति हेतुत एव मूलपरिचयायैवोक्तं तेन भगवता, पारस्करो देश इति। सत्येव मस्य यास्कस्योभय मेव ज्ञातम्; निवासोऽभिजनो वा देशः, पूर्वपुरुषस्च।

शतपथीयः खलु यास्कोऽप्यस्यातिपूर्वपुरुष इत्यपि भवितु मर्हति; तस्यापि यस्कगोत्रीयत्वेनावगमात्। ततश्चास्य यजुर्वेदित्व मपि सम्पद्यते।

तथाचायम्—यस्कगोत्रः, पारस्करदेशीयः, पारस्करवंशधरः, यजुर्वेदी च निरुक्तकृत् यास्क इत्येतावन्तः परिचयाः यथाकथ मपि लभ्यन्त इति शम्।

---

( ५ )

अथ इदानी मिद मपि विचार्यम्,—अस्य यास्कस्य ऋषित्व मस्ति नास्ति वेति। अनुभूयते हि त्रिविध मृषित्वम्,—मुख्य मातिदेशिकं तार्त्तीयीकञ्चेति। तदेतत्त्रिविधाना मन्यतम मस्यास्त्येव चेत् किंविध मित्येव निर्णेतु मवतार्यतेऽयं प्रबन्धः।

मुख्यर्षिलक्षणन्तु स एव स्वय मेव माह—"ऋषिः, दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तदृषीणा मृषित्व मिति विज्ञायते (२ भा० १९९ पृ०)"—इति। अत्रोक्तं तद्यदेनानि-त्यादिकं ब्राह्मणमत मेवेह प्रमाणत्वेनोपन्यस्तम्; तदुक्तं तत्रैव वृत्तिकृता दुर्गाचार्येण—"ब्राह्मण मपि चैतस्मिन्नर्थे दर्शयति 'तद्यदेनांस्तपस्यमानान्' —इत्यादि। 'तत्' एतत् उच्यते यत्कृत मृषीणा मृषित्वम् (२भा०२०१पृ०)"-इत्यादि। अपरत्रापि "ऋषिः कुत्सो भवति, कर्त्ता स्तोमानाम्—इत्यौ-पमन्यवः (२ भा० २९९ पृ०)"—इति च तन्निदर्शनं प्रदर्शित मेतेनैव यास्केन। किञ्च तत्पूर्वतनाना मपि तथैव व्यवहार इति च प्रदर्शितं तेनैव। तथाहि—"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः"—इत्याद्युक्त मालोचनीयम् (के पृ०)। तत्रैव

"ऋषन्ति अमुष्मात् कर्मण एव मर्थवता मन्त्रेण संयुक्तादमुना प्रकारेण-तल्लक्षणं फलविपरिणामो भवतीत्यृषयः"—इति च ऋषिपदनिर्वचनं कृतं दुर्गाचार्येण । एवञ्च मन्त्रद्रष्टृणा मेव मुख्य मृषित्व मित्यम् ; तथा चादि-कल्पजाना मतिप्राचीनतमानां वसिष्ठ-वामदेवादीना मेव तादृशर्षित्व मुररीकार्य मिति प्रतीयत एव ।

द्रष्टृत्वं कर्तृत्वञ्चाभिन्न मेव प्रायः ; तत्र अतीवप्राचीनाना मज्ञेयकालि-काना मेव कृते दृष्ट मिति व्यवहारो नान्यत्रेत्येव विशेषः । तदिमानि "दृष्टं साम (४.२.७.)"—इत्यादि-पाणिनिसूत्रीयाणि "वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठं साम"-इत्यादीनि वृत्तिकृदुदाहरणादीनि द्रष्टव्यानि ; तथैव "य आङ्गिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत्, स गृत्समदो द्वितीयं मण्डल मपश्यत्"-इत्येवमादीन्यनुक्रमणीवचनादीनि च । किञ्चैतन्निरुक्तकारोऽप्याह तथा—"ऋषेरुक्तपरिद्यूनस्यै तदार्षम् (४ भा० ११पृ०)"-इति । "मत्स्यानां जाल मापन्नाना मेतदार्षम् (३ भा० २५१ पृ०)"-इत्यादि च ।

दृष्टे तत्रैवार्थे कृत इति व्यवहारोऽपि नादृष्टचरः । तथा ह्यैतरेयके ब्राह्मणे—"देवा ह वै सर्वचरौ सत्रं निषेदुस्ते ह पाप्मानं नापजघ्निरे । तान् होवाचार्बुदः काद्रवेयः सर्प ऋषि मन्त्रकृत्(६.१.१.)"—इति । निरुक्ते ऽप्येवं दृष्टान्तो न दुर्लभः । तथाहि—"इदञ्च मेऽदादिदञ्च मेऽदादित्यृषिः प्रसङ्ख्यायाह सुवास्त्वा अधि तुग्वनि(२भा० ४१७ पृ०)"—इति, "वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव (४भा० ८ पृ०)"—इत्यादि च । यास्कपूर्वप्रवादा अप्यत्र सङ्गृहीताः सन्ति, तत्राप्यस्यैव कृतकत्वप्रसिद्धिर्मन्त्राणाम् । तथाहि—"तत्रेतिहास माचक्षते— विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव । * * * । स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेद माययावनुययुरितरे । स विश्वामित्रो नदीं तुष्टाव गाधा भवतेत्यपि, द्विव-दपि बहुवत् (२भा० २३७पृ०)"—इत्यादि । तथा "धातोः कर्मणः समान-कर्तृकादिच्छायां वा (३.१.७.)"—इति पाणिनीयस्य सूत्रस्य व्याख्यानावसरे प्रसङ्गतो भगवता पतञ्जलिनापि भाषितम्—"ऋषिः पठति—'भृणीत

ग्रावाणः'-इति"—इति। स्तवनपठनादिकञ्च कृतिविशेष एव; तदेवं मन्त्रकर्तृत्वं मन्त्रद्रष्टृत्वञ्च वस्तुतोऽभिन्न मिति स्फुटम्।

तदित्थं मन्त्रद्रष्टृत्वं त्वृषीणा मेव, तथा ऋषित्व मपि मन्त्रद्रष्टृत्वानुगत मेवेत्यपि स्थिरम्। एव मृषित्व-मन्त्रद्रष्टृत्वयोः सामानाधिकरण्यं सर्वसम्मत मिति मन्त्रद्रष्टृत्वमूलक मेव मुख्य मृषित्व मित्यत्र च न कोऽपि संशयः। अथ कस्या मपि संहितायां यास्ककृत एकोऽपि मन्त्रो न दृष्टचरः, न चाद्ययुगीयस्यास्य यास्कस्य मन्त्रकर्तृत्वसम्भवोऽपि; तदेव मस्य यास्कस्य मन्त्रकर्तृत्वाभावात् मुख्य मृषित्वन्तु नास्त्येव।

ब्राह्मणकर्तॄणां ताण्ड्यादीनां मन्त्रकर्तृत्वाभावेऽपि मन्त्रकर्तृत्वतुल्यतया आतिदेशिक मृषित्वन्तु स्वीकृत मेव यास्कपूर्वतनैरपि। तथाहि—"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः *** उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं वेदाङ्गानि च (२ भा० १३७)"-इति। अत्र 'अवरे'-इति पदात् ऋषय एव गम्यन्ते; तथाच निघण्टुकारस्य, ब्राह्मणापरपर्यायानां वेदानां प्रवक्तॄणाम्, वेदाङ्गानाञ्च कर्तॄणा मपि ऋषित्वव्यवहार आर्यसम्मत एवेति तत्र ध्वनितम्। तदत्र, यास्कस्य निघण्टुकर्तृत्वं नैवेति पूर्वमेव प्रतिपादित मस्माभिः; ब्राह्मणप्रवक्तृत्व मपि नास्त्येव; वेदाङ्गकर्तृत्वं त्वस्ति, परं न तद् वेदाङ्ग मिदं निरुक्तम्, यत्कृत मृषित्वं स्यादेतत्कर्तुर्यास्कस्य; प्रदर्शितयास्कानूक्तश्रुतितोऽपि यास्कपूर्वप्रचलितनिरुक्तादिकर्तॄणा मेव ऋषित्वावगमात्। तदेतावतेद मेव निष्पन्नम्, यास्कस्यास्य त्वेव मातिदेशिक मृषित्व मपि नोपयुज्यते इति।

अथ प्रदर्शिते शतपथब्राह्मणवचने व्यक्त मेवास्य पूर्वपुरुषस्य मधुविद्याप्रवक्तृत्वम्, मधुविद्या च ब्राह्मणान्तर्गतैव; तथाच तादृशस्य ब्राह्मणप्रवक्तुः वंशधरत्वेनैवास्यापि यास्कस्य मुख्यर्षित्व मापाद्य मेवेत्यपि वक्तुं न युज्यते; लोकवेदव्यवहारविरोधात्; न च लोके नापि वेदे ऋषिवंशप्रभवत्वेनैवर्षित्वं क्वचिदपि हि व्यवहृतं दृश्यते।

लोके तावत्— वयन्तु कश्यपर्षिवंशप्रभवा एव, परं कः खलु भारते

ऽस्मान् प्रति ऋषय इमे इति व्यवहरन्ति? किं बहुना यदि हि वंशप्रभवत्वेनैव ऋषित्वमाप्यं भवेत्तर्हि अद्यतनीया अप्यार्याः सर्व एव प्राय ऋषय एवोक्ताः स्युः; सर्वेषामेव कश्यप-भरद्वाज-वसिष्ठादि-वंशीयत्वात्; न ह्येवं व्यपदेशो दृश्यते लोके क्वापीति नैवं व्यवहारो लौकिक इति स्फुटम्।

वैदिकव्यवहारतश्चाधिगम्यते नावाप्य ऋषित्व मृषिवंशप्रभवत्वेनैवेति। तथा हि—"अर्चनानाः पुरात्रेयो दाल्भ्येन रथवीतिना। आर्त्विज्याय वृतो यज्ञे वितते ह्यौच आस्थितः। रथवीतिसुतां कन्यां ददर्श पितुरन्तिके। ययाचे स्वकुमाराय श्यावाश्वाय च तां सुताम्। स प्रदानमना भार्यामपृच्छत् किं प्रयच्छसि। इति पृष्टा पुनः प्राह कथमस्मै प्रदास्यसि। इतः पूर्वं सुता दत्ता नासीदनृषये क्वचित्। तत्तथैवेति निश्चित्य प्रत्याचष्टार्चनानसम्। श्यावाश्वः संस्थिते यज्ञे तेन राज्ञा निराकृतः। तत्प्रत्याशान्वितो विप्रस्तपस्तेपे सुदारुणम्। ब्रह्मचर्यरतः शान्तो भिक्षार्थं पर्यटन् द्विजः। तरन्तमहिषीं साध्वीं बिभिक्षेऽसौ शशीयसीम्। सा तमाप्यान्तिकं पत्युः प्रोवाचागतवानृषिः। इत्युक्तो नृपतिर्भार्यां प्रत्याहैनं प्रपूजय। सानुज्ञाता गवां यूथं प्रादादाभरणानि च। तरन्तोऽपि पुनस्तस्मै प्रादाद्धन मपेक्षितम्। दत्त्वा च पुरुमीढस्य स्वानुजस्यान्तिकं प्रति। प्रेरयामास तमृषिं सोऽपि त्वां मानयिष्यति। तथेति राज्ञो वचनं निशम्य तद्भार्यया दर्शितसर्वमार्गः। गच्छन् शनैरूर्ध्वपथे मरुद्गणान् समानरूपान् स्वदिदृक्षयागतान्। विलोक्य विप्रः सभयः प्रणम्य कृताञ्जलिः कण्टकिताङ्गसङ्घः। तुष्टाव हृष्टान् मरुतो विशिष्टैरथैर्वचोभिः परितुष्टचित्तः। सम्प्राप्य सर्वं स्वमनीषितं तदा मरुद्गणेभ्यो मुदितात्मवञ्चः। तदाभवदृषिः सूक्तद्रष्टा श्यावाश्वनामकः। पश्चात् पुनर्गृहं गत्वा भूयो लब्ध्वा गवां शतम्। दाल्भ्यो मन्त्रदृशे राज्ञा चोदितः स्वसुतां ददौ। पुरुमीढस्तरन्तश्च तद्भार्या च शशीयसी। दाल्भ्यो यो रथवीत्याख्यः सप्त ये मरुतां गणाः। ते तस्मै यद्दुस्तुष्टास्तत् केष्ठेत्यत्र वर्ण्यते॥"—इति शौनकीय-बृहद्देवतोक्तं सायणलिखितं पुरावृत्तं 'केष्ठा'—इति सूक्ती-

योपोद्घातम्। तच्च सूक्त मेकोनविंशत्यृच मृक्संहितायाः पञ्चममण्डलीय पञ्चमाध्यायस्य पञ्चमम्। एवञ्च यद्यपि अत्रिवंशप्रभवः अर्चनानाः, ऋषिरिति प्रसिद्धः, तथापि तत्पुत्रः श्यावाश्वो न ऋषिशब्दव्यपदेशभाक् पितृनामन्नत इति सुव्यक्त मत्र।

अर्चनानसः ऋषित्वं तु तत्रैवाग्रे स्पष्ट मुक्तम्। तथाहि, तत्र सूक्तीय-सप्तदशर्ग्व्याख्यानप्रसङ्गे च पुनः—"सम्पन्नऋषिभावस्य श्यावाश्वस्यार्चनानसः। रथवीतिसुतायाश्च विवाहं शौनकोऽब्रवीत्। कथम्? मरुत्सु तु प्रयातेषु श्यावाश्वः सुमहायशाः। प्रादुर्भूतार्ष मात्मानं ज्ञात्वाऽत्रिकुलनन्दनः। रथवीतेर्दुहितर मगच्छन्मनसा तदा। स सत्य मृषि मात्मानं प्रवच्यन्रथवीतये। 'एतं मे स्तोमम् (५.५.५.१७,१८.)'-इत्याभ्यां दौत्ये रात्रिं न्यवेदयत्। ऋषेर्नियोग माज्ञाय देव्या राज्ञ्या प्रचोदितः। आदाय कन्यकां दातु मुपेयायार्चनानसम्। पादौ तस्योपसङ्गृह्य स्थित्वा प्रह्वः कृताञ्जलिः। रथवीतिरहं दाल्भ्य इति नाम शशंस सः। मया संयोग मिच्छन्तं त्वां प्रत्याचक्षि यत् पुरा। तत् क्षमस्व नमस्तेऽस्तु मे मास्म भगवन्! क्रुधीः। ऋषेः पुत्रः स्वय मृषिः पितासि भगवानृषेः। हन्त प्रतिगृह्यणेमां स्नुषा मित्येन मब्रवीत्। तस्मै ददावश्वशतं स राजा स्वलङ्कृतां चापि सुतां स्नुषार्थम्। विवाहकालेऽपि ददौ नरेन्द्रः शतं हयानां दुहितुः सहस्रम्। गवां सहस्रं वसु च प्रभूतं तस्मुं तपोऽन्तेऽथ वनं जगाम"--इति। एवञ्च श्यावाश्वस्य, पितुः पितामहस्य च ऋषित्वेऽपि न ऋषित्वव्यवहारोऽभूत्; अपि तु मन्त्रद्रष्टृत्वेनैवेति सुव्यक्त मेव।

ऋक्संहितायान्तु श्यावाश्वस्य सप्तदश सूक्तानि (५.५२—६१; ५.८१; ५.८२; ८.३५—३८; ९.३२.), तत्र च १७७ ऋचः श्रूयन्ते; अत एव तस्य ऋषित्वम्। तत्पितुः अर्चनानसस्तु त्रीणि सूक्तानि (५.६३; ५.६४; ८.४२.), तत्र च २० ऋचः श्रूयन्ते; अत एव तस्यापि ऋषित्वम्। तत्पितुश्च अत्रेर्भौमस्य चतुर्दश सूक्तानि (५.२७; ५.३७—४३; ५.७६; ५.७७; ५.८३—८६.) तत्र च १२२ ऋचः; अपरसूक्तेषु च तस्यैवात्रेः

खलु नव (९. ६७.१०—१२ ; ९. ८६. ४१—४५ ; १०.१३७.४.) ऋचः श्रूयन्ते ; अतएव तस्यापि ऋषित्वम् । अत्रिश्च ऋक्संहिताया मेको भौमोऽपरः श्राद्धः ; तदत्र न ज्ञेयः कतरोऽस्य श्यावाश्वस्यादिपुरुषः ? परं श्राद्धस्याप्यत्रेरस्ति षड्च मेकं सूक्तम् (९.१४३.) ; अतस्तस्याप्यृषित्वम् । तदित्थ मस्य हि यास्कस्य मुख्यर्षिवंशप्रभवत्वेऽपि मुख्यर्षित्वं सुदुर्लभ मेव ।

नन्वेवं महाभारते कथ मुक्तं दृश्यते "यास्को मा मृषिरव्यग्रः"—इति, "यास्क ऋषिरुदारधीः"—इति च? अत्र ब्रूमः— तत्तु महाभारतकारस्य खस्य यथा ऋषित्वं तथैव पूजनीयत्वापरपर्यायक मेव ; तादृश ऋषित्वद्यापि वर्त्तत एवेति । वस्तुतो मन्त्रद्रष्टृत्वेनैव आदिवसिष्ठादीना मृषित्वं मुख्यम् ; तादृशर्षित्वन्तु ताण्ड्यादीनां ब्राह्मणप्रवक्तॄणा मपि नास्ति ; तत् महाभारतरामायणादिकर्त्तॄणान्तु कथा दूरपराहतैव । तत्तुल्यत्वेन च ऋषित्वं द्वितीयम् ; तदेवाह महाभाष्ये भगवान् पतञ्जलिः—"न तावदन्तर्षिः कश्चित् स्मर्यते कल्पसूत्रकृत् । कर्त्तृत्वं यदृषीणान्तु तत् सर्वं मन्त्रकृत्-समम् (१.३.१०.)" —इति । तदेवं द्वितीय मृषित्वम्, ब्राह्मणभागप्रवक्तॄणाम् अनुब्राह्मणप्रवक्तॄणाम्, ब्राह्मणान्तर्गतानां किञ्च प्रायोलुप्तानां—कल्पादिवेदाङ्गशास्त्राणां प्रवक्तॄणाम् । ईदृशर्षित्व मपि नास्ति तेषा मद्यप्रचलितैतन्महाभारतकारादीनाम् । बहुज्ञत्वात्, बहुमानत्वादितस्मादरातिशय्यप्रकाशकवचन मिदम् "अय मृषिः"—इति यत्र प्रयुज्यते, तत्र त्वृषित्वं पूजनीयत्वापरपर्य्यायकं तृतीयम् । तादृशर्षित्व मेव व्यासवाल्मीक्यादीनाम् । तत् तार्त्तीयीक मृषित्व मेव यास्कस्यास्य स्थित मिति मन्यते चेन्न तत्रास्माक मसम्मतिः ; परं मुख्य मृषित्वं तु तस्य नासीदेव, द्वितीयत्विषं मपि न सम्भाव्यते ।

अपि च गणपाठे शिवादिषु (४.१.११२.) यस्कपाठदर्शनाच्चेद मपि ज्ञायते,— यन्नामतोऽस्य नाम यास्क इति, तस्याप्येतदादिपुरुषस्य नासीत् ऋषित्व मिति ; सति हि तस्य ऋषित्वे ऋष्यणा (४.१.११४.) एव यास्केति सिद्धौ तत्पाठफल माकाशकुसुमायित मेव स्यात् । अत एव "यास्को मुनिः"—इति दृश्यते मुग्धबोधादौ ; न तु "यास्क ऋषिः"—इति ।

यास्कस्य मुख्यर्षित्वविचारस्तु दूरे आस्ताम्,—विवृतिवल्लीकारः खलु यास्कपूर्वजो व्याडिस्तावत् स्वगुरोः शौनकस्य प्रातिशाख्यकारस्यापि मुनित्व मेव। तथाहि—"नत्वादौ शौनकाचार्यं गुरुं * * * मुनीन्द्रम्"—इति (वि० १. २.)। "पुनः किं विशिष्टम् ? 'मुनीन्द्रम्' मननशीला मुनयः, तेषु श्रेष्ठम्"—इति च तत्र तट्टीकाकारः। तथा पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलीना मपि मुनित्व मेव सर्वत्र व्यवहृतं गम्यते, न क्वाप्यृषित्वम्। तथा हि —"मुनित्रयं नमस्कृत्य"—इत्याह दीक्षितः; किञ्च "योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन। योऽपाकरोत् तम् प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि"—इत्यत्रापि पतञ्जलेर्मुनिप्रवरत्व मेव स्मर्यते। तथा "तत्र वृद्धिरादैजित्याद्यध्यायाष्टकात्मकं महेश्वरप्रसादेन भगवता पाणिनि नैव प्रकाशितम्। अत्र कात्यायनेन मुनिना पाणिनीयसूत्रेषु वार्त्तिकं विरचितम्, तद्वार्त्तिकस्योपरि च भगवता पतञ्जलिना महाभाष्य मारचितम्। तदेतत् त्रिमुनि व्याकरणं वेदाङ्गं माहेश्वर मित्याख्यायते"—इति चाह प्रस्थानभेदकृन्मधुसूदनोऽपि।

वेदाङ्गेषु षट्सु, यास्तु शिक्षाः तैत्तिरीयब्राह्मणादौ श्रूयन्ते, तासा मेव ऋषिकृतत्वम्; छन्दोविधानानि च यानि सामवेदीयानुब्राह्मणादौ श्रूयन्ते, तेषा मेव ऋषिकृतत्वम्; ज्योतिषाञ्च ये खलु निदानसूत्रादौ श्रूयन्ते तेषा मेव ऋषिकृतत्वम्; व्याकरणानि च पदपाठाद्यात्मकानि पुरा स्थितानि, यानि चेदानीं पाणिनीयार्कप्रभातोऽदृश्यानि,—अहनि सहस्ररश्मिप्रभातस्तारकामण्डलानीव किञ्च शाकटायनीयर्क्तन्त्रादीनि च यानीदानी मपि ज्योतिरिङ्गना इव वरीवर्त्तन्ते, तेषा मृषिकृतत्व मेव; निरुक्तानि च यानि ब्राह्मणेषु दृश्यन्ते, अनुब्राह्मणेषु च स्थितानीत्यनुमीयन्ते, निदानसूत्रेषु चोपलभ्यन्ते, शाकपूण्यादिकृतान्यासन्निति च यास्कवचनादितोऽवगम्यन्ते, तेषा मृषिकृतत्व मेव; पैङ्ग्यादीना मतिप्राचीनतमकल्पसूत्राणान्तु प्रायो ब्राह्मणसमकालिकत्व मेव पाणिनिशासनादिभिरवगम्यते, तत्तेषा मृषिकृतत्वे तु नास्त्येव सन्देहावसरः। यतश्च पैङ्ग्यादीनि

प्राचीनतमानि कल्पसूत्राणि चिरादेव ब्राह्मणतः पृथगेव प्रोक्तानि, प्रायस्तत्समकालिकानि चेति तेषा मार्षत्वं निर्विवाद मेव ; अतो भाष्योद्धृतायां सङ्ग्रहकृतकारिकायां 'न अनृषिः कल्पकृत्'—इति कल्पकृता मेवानृषित्वशङ्का निवारिता ; न हि तत्रोक्तं दृश्यते 'न अनृषिः वेदाङ्गकृत्'—इति । एवं हि निष्पन्न मेतत्,— ब्राह्मणानुब्राह्मणान्तर्गतानां निरुक्तादीनां वेदाङ्गाना मातिदेशिकार्षत्व मस्त्येव ; शाकपूण्यादिकृतानाञ्च तथा सम्भवः, यास्कीयस्यास्य ग्रन्थस्यार्षत्वं तु महाभारतादिग्रन्थाना मिव तात्त्विीक मेवेति ।

विकृतिकौमुद्यादौ यत् पाणिनिपरजस्यापि व्याडेः ऋष्याख्यानं दृश्यते—"व्याडिनैव महर्षिणा"—इति (१.४श्लो०), तदपि तथाभिप्रायेणैव ; तेषां हि नये मन्त्रादिकर्तृयोग्यतैवर्षित्वे निदानम् । तादृशी योग्यता तु नूतनवेदाङ्गानां तदङ्गानाञ्चापि कर्त्तृणां पाणिनि-व्याडि-शौनक-यास्कादीना मासीदेवेति तेषा मप्यृषित्वं मन्तव्य मेवेति भवेत्तदपि तात्त्विीक मेव ; तद् भवतु नामात्रापि न नो विवादः । बह्वृक्प्रातिशाख्यकृत् शौनकोऽपि तात्त्विीक मार्षत्व मेवाभिप्रेत्योक्त मेवम्—"कृत्स्नञ्च वेदाङ्ग मनिन्द्य मार्षम्' इति—(कृ पृ०) । अपि च व्याडेर्मुख्यर्षित्वे तु क्रौड्यादिगणे व्याडिशब्दस्य पाठो वैयर्थ्य मेवापद्येत ; "क्रौड्यादिभ्यश्च (पा० ४.१.८०.)"—इति सूत्रस्याप्यनार्षविषयत्व मेव निर्णयात् ; तस्य हि "अणिञोरनार्षयोः ०(४. १. ७८.)"—इत्येतत्सूत्रीयप्रपञ्चभूतत्वात् । अत एव "गोत्रावयवात् (पा० ४. १. ७६.)"—इति सूत्रस्य भाष्ये—"अष्टाशीति सहस्राण्यूर्ध्वरेतसा मृषीणां बभूवुः, तत्रागस्त्याष्टमैः ऋषिभिः प्रजननोऽभ्युपगतः, तत्र भवतां यदपत्यं तानि गोत्राणि, अतोऽन्ये गोत्रावयवाः। * * *। कथं येभ्यः अगुरूपोत्तमेभ्य इष्यते ? सिद्धन्तु रौढ्यादिषूपसङ्ख्यानात् । * * * । के पुनरौढ्यादयः ? ये क्रौड्यादयः"—इत्याह भगवान् पतञ्जलिः । तदेतत्सार मेवाकृष्योक्तं दीक्षितेन सिद्धान्तकौमुद्याम्—"अगुरूपोत्तमार्थोऽनणिञर्थश्चारम्भः"-इति ; न चोक्तं तेन तत्रार्षार्थश्चेति । यद्यप्यृषिरपि कश्चिद् व्याडिः स्यात्, तर्हि तदपत्यं न भवेत् 'व्याड्या' इत्यतोऽत्र क्रौड्यादिगणेऽवश्यं गणपाठकार-भाष्यकारा-

दिभिः कश्चन यत्नः कर्त्तव्य एव ; न च तथाकृतं दृश्यते। अतो व्याडेरपि मुख्य मृषित्वं नास्त्येवेति किं तत्परजस्यैतस्य यास्कस्यर्षित्वविचारेणेत्यलम्। सङ्ग्रहकारो व्याडिरेव विकृतिवल्लीकारः ; स च पाणिनिपरजो यास्कपूर्वजश्चेत्यपि प्रतिपादयिष्यामो वय मुपरिष्टादिहैव।

आश्वलायनगृह्यसूत्रेऽपि मन्त्रकृता मेव गणानां मुख्य मृषित्व मिति तेषां विशेषत उल्लेखो दृश्यते। तथाहि—"अथ ऋषयः,—शतर्चिनो माध्यमा गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिर्भरद्वाजो वसिष्ठः प्रगाथाः पावमान्यः क्षुद्रसूक्ताः महासूक्ता इति (३.४.२.)"-इति। तत्रैव चेतोऽनन्तर माचार्यनामान्यपि कानिचित् स्मृतानि—"सुमन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्र-भाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्या जानन्ति बाहवि-गार्ग्य-गौतम-शाकल्य-बाभ्रव्य-माण्डुकेया गार्गी वाचक्नवी वडवा प्राचीथेयी सुलभा मैत्रेयी कहोलं कौषीतकं पैङ्ग्यं महापैङ्ग्यं सुयज्ञं साङ्ख्यायन मैतरेयं महैतरेयं शाकलं बाष्कलं सुजातवक्त्रं मौदवाहिं महौदवाहिं सौजामिं शौनक माश्वलायनं ये चान्ये आचार्यास्ते सर्वे तृप्यन्त्विति (३.४.४.)"-इति। इह त्वाचार्यनामसु यद्यपि न दृश्यते यास्कनाम, पाणिन्यादीनाञ्च नाम ; तथापि सूत्रकारत्वेनैव पाराशर्यकणभक्षाक्षचरणपाणिनिप्रभृतीनां, निघण्टुसमाम्नायभाष्यकारत्वेन च यास्कस्य ग्रहण मिष्ट मिति गम्यते।

अद्यप्रचलितमहाभारतस्य वीज मासीत् पुरा किञ्चन भारतं नाम, तदेव क्रमादङ्कुरितं प्रस्फुटतत्त्व मभूत् प्रसिद्धं महाभारत मिति, तन्महाभारत मेव प्रवृद्धं पल्लवितं विस्तृत मिदानीं दृश्यते महाभारत मित्येवेति चेह गुरुचरणाः। किञ्च अत्र स्मृतः शौनकस्तु न चादिकालिको मण्डलकार ऋक्संहितायाः, तस्य ह्यत्र ऋषिनामसु गृत्समद इत्येव ग्रहणात् ; नापि बह्वृक्प्रातिशाख्यकारोऽपि तु शाखाविशेषस्य प्रवक्तैव ; शाकलादिसाहचर्य मेव हि तत्र नियामकम्। आश्वलायनोऽप्यत्र न तु गृह्यादिकृदपि शाखाप्रवक्तैव, अत्रापि हि शाकलादिसाहचर्य मस्त्येव नियामकम् ; को हि नाम 'रामकृष्णावमू आसाते'—इत्यत्र दशरथापत्यस्य रामस्य, 'राम-

लक्षणौ'-इत्यत्र च जामदग्न्यादेर्ग्रहण मिच्छति। वस्तुतस्त्विहाश्वलाय-नीये अधोऽधः क्रम एव विवक्षितः। तथाहि—सुमन्त्वादयः चत्वारो व्यासशिष्याः समकालिकाः, तत्पूर्वजा व्यासादयः सूत्रकाराः, तत्पूर्वकालिका बाहव्यादयः संहितापाठाध्ययनभेदोपदेशकाः, तत्पूर्वतनाः गार्गीप्रभृतयो ब्रह्मवादिन्यः, तत्पूर्वतनाः कहोलादयो ब्राह्मणादिप्रवक्तारः, तत्पूर्वतना एव शाकलादयः शाखाकारा इति। एव मेव क्रमो सामवेदीयवंशब्राह्मणादौ च सर्वत्रैव सायणादिभिश्च सर्वैरेवोररीकृत इति दिक्।

ततश्चैषा मध्ययुगीयानां तार्त्तीयीकर्षित्वसम्पन्नानां सुमन्तुप्रभृतीनाम्, तत्पूर्वकालिकाना मतिदिष्टर्षिभावापन्नानाञ्च बाहव्यादीना मतिवृद्धाश्वलाय-नान्ताना माचार्यत्व मेव सम्मत माश्वलायनस्यापि ; न तु मुख्यर्षित्व मिति।

सामान्यत ऋषिलक्षणं तु न दुर्लभं सम्भाव्यते ऽद्ययुगीयानां सुमन्त्वा-दीना मपि। तथा च सूचित मिहैव त्रयोदशाध्याये;—"मनुष्या वा ऋषीषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्,—को न ऋषिर्भविष्यति ? इति। तेभ्य एतं तर्क मृषिं प्रायच्छन्,—मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूह मभ्यूढम्। तस्माद्यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति (४भा० ३५८ पृ०)"—इति। एवञ्च 'अनूचानत्वे सति मन्त्रार्थाभ्यूहनसमर्थत्वम्, ऋषित्वम्'—इत्येव सामान्यत ऋषिलक्षणं फलितम्। अनूचानस्तु गुरुमुखाल्लब्धवेद एव ; तल्लक्षणादिकं तु द्रष्टव्यं मन्वादौ। मन्त्रार्थाभ्यूहनप्रकारस्तु इहैव विहितः,—"तपसा पार मीप्सितव्यम्"—इत्यादिना ; "शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे (२भा० १८८ पृ०)"—इत्याद्युदाहृतञ्च तदत्र यास्केन। तदीदृश मृषित्वं त्वस्माक मपि कृतब्रह्मचर्य्याणां मन्त्रार्थाभ्यूहनसमर्थानां सम्भवेदेव, तत् किन्नाम भगवतोऽस्य यास्कस्येति।

इत्थं निष्पन्न मेतत् ;—एतन्निरुक्तकारो यास्कः खलु वस्तुतो मुनिरा-चार्य्यश्चेत्येव चिरात् प्रसिद्धः ; एव मप्यस्य भगवतः सामान्यत ऋषित्व मव्याहत मेव ; तत्रापि विशेषतो विचारिते स्यात् तार्त्तीयीकं तदिति सिद्ध मेतस्यापि च ग्रन्थस्यार्षत्व मिति शम्।

( ६ )

अथेदानी मिद मिह विचार्य्यम्,—कियान् निरुक्तग्रन्थोऽय मिति। अस्माभिस्तु यावन्ति निरुक्तपुस्तकानि दृष्टानि, तेषु सर्वेष्वेवास्य "समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः"-इत्यारम्भवाक्यं दृष्ट मेव, च-जातिरिक्तेषु सर्वेष्वेव "ब्रह्म शुक्ल मसीय ब्रह्म शुक्ल मसीय"-इति परिसमाप्तिवचनञ्च; च-ज-पुस्तकयोस्तु "य एवं वेद"-इत्येव समाप्तिवाक्यम्; तदुत्तरस्थितः "नमो ब्रह्मणे नमो महते भूताय नमः पारस्कराय नमो यास्काय ब्रह्म शुक्ल मसीय ब्रह्म शुक्ल मसीय"-इत्येवं पाठस्तु तयोर्न दृश्यते; तदिदं न विशेषपार्थक्यम्। द्वि-चतुः-खण्ड-कृतं न्यूनाधिक्यं खण्डभेदकृत माधिक्यं चाकिञ्चित्कर मेवेदृशे प्राचीनतमे ग्रन्थे। तथाप्यस्ति किञ्चिदत्र विचारणीयम्। तथाहि—केषुचित् पुस्तकेषु द्वादशाध्यायान्तं निरुक्तम्, तत उत्तर मध्यायद्वयात्मकं परिशिष्ट मिति लिखितं दृश्यते; केषुचित् द्वादशाध्यायान्त मेव निरुक्तम्, परं तत उत्तर मेकाध्यायात्मक मेव परिशिष्ट मिति लिखितं दृश्यते, अपि तस्मिन्नेकस्मिन्नेवाध्यायेऽपरपुस्तकदृष्टाध्यायद्वयीयाः सर्व एव खण्डा विद्यन्त एव; केषुचित्तु तादृश-त्रयोदशाध्यायस्यान्ते एव "निरुक्तं समाप्तम्"-इति लिखित मस्ति, परिशिष्टशब्दोऽपि न तेषु लक्ष्यते; केषुचित् अन्त्याध्यायद्वयान्ते परिशिष्टं समाप्तं लिखित मस्ति, किन्तु तयोः क्रमात् त्रयोदश-चतुर्दशाध्यायत्वे च। अत एतर्हि विचार्यते द्वादशाध्यायात्मकं त्रयोदशाध्यायात्मकं चतुर्दशाध्यायात्मकं वेति कत्यध्यायं निरुक्त मिति।

निघण्टुव्याख्यानकारस्य देवराजयज्वनो मते तु "समाम्नायः समाम्नातः (२ भा० ८ पृ०)"-इत्यादि, "य ऋतुः कालो जायानां य ऋतुः कालो जायानाम् (४ भा० ३३२ पृ०)"-इत्यन्तं द्वादशाध्यायात्मक मेव यास्कीयं निरुक्तम्। तदुक्तम्—"भगवता यास्केन समाम्नायं नैघण्टुक-नैगम-दैवत-काण्डरूपेण त्रिविधं गवादि देवपत्न्यन्तं निर्ब्रुवता"-इत्यादि (१भा० २—५ पृ०)। नात्रातिस्तुतिप्रकरणस्योर्द्ध्वमार्गगतिप्रकरणस्य च नामापि कीर्त्तितम्;

सन्ति तु तत्रतत्रापि बहूनि निर्वचनपदानि, येषां च प्रामाण्यरूपेण ग्रहणं योग्य मेव देवराजयज्वनः ; यज्वना तु "स्कन्दस्वामिना च निगमव्याख्यानेषु अन्यानि च पदानि शतद्वयमात्राण्युपात्तानि (१भा० ४ पृ०)"—इत्यपि स्वग्रन्थप्रामाण्यपरिरक्षणायोक्तं परं त्रयोदशचतुर्दशाध्यायीयनिर्वचनाना मस्तित्वं तत्सम्मत मेव चेत् कथं न तेषा मिह स्मरणं कृतम्? तथाच तादृशानां स्मर्त्तव्याना मप्यस्मरणात् तेषा मस्तित्वेन निरुक्तत्वेन वा ज्ञानाभाव एव तस्य यज्वनः सुव्यक्त इति ।

निरुक्तवृत्तिकृता दुर्गाचार्येण तु ग्रन्थारम्भे निरुक्तस्य द्वादशाध्यायीत्व मुक्तापि, अन्ते सपादद्वादशाध्यायीत्व मुक्तम् ; फलतस्त्रयोदशाध्यायीत्व मेव स्वीकृतम् । तथाहि प्रथमखण्डव्याख्यानारम्भे— "अयञ्च तस्या द्वादशाध्यायी भाष्यविस्तरः ; तस्य इद मादिवाक्यं समाम्नायः समाम्नात इति (२ भा० ८ पृ०)"—इति । अन्ते "ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ अष्टादशाध्यायः (त्रयोदशाध्यायः) समाप्तः । इति सपादसप्तदशाध्यायी ऋज्वर्था नाम निरुक्तवृत्तिः समाप्ता"—इति (४भा० ३६५)। एवञ्च वृत्तिकृन्मते अतिस्तुतिरूप-त्रयोदशाध्यायस्य च निरुक्तत्व मेव, न तु परिशिष्टत्वम् ; ऊर्द्धमार्गगतिरूप-चतुर्दशाध्यायस्य (द्वितीयपरिशिष्टस्य) तु सर्वथाऽस्वीकरण मेव सम्पन्नम् । अपरञ्च त्रयोदशस्याध्यायस्य स्वल्पग्रन्थत्वादेकचरणत्व मेव मत्वा, ग्रन्थान्तेऽस्य विशेषतः सपादद्वादशाध्यायीत्वं स्वीकरिष्यमाण मपि सामान्यत एवोल्लिखित मुपक्रमे द्वादशाध्यायीति। तदेव मतिस्तुतिप्रकरणस्य स्वल्पत्वादध्यायरूपत्वाभावात् सामान्यतो निरुक्तग्रन्थो द्वादशाध्यायीत्येव निर्देश्यः; विशेषतस्तु सपादद्वादशाध्यायीति, किञ्च मूलसूत्ररूपनिघण्टुपञ्चाध्याय्या सह सपादसप्तदशाध्यायीति चेत्येव वृत्तिकृन्मत मभिव्यक्तम् ।

सायणाचार्यस्तु अतिस्तुतिप्रकरणात्मकस्य त्रयोदशस्याध्यायस्य च निरुक्तत्व मभ्युपगम्यापि वचनतो द्वादशाध्यायी एव निरुक्तग्रन्थ इति चाभिचख्यौ । तथाहि ऋक्संहिताभाष्यभूमिकायाम्—"तद्व्याख्यानञ्च समाम्नायः समाम्नात इत्यारभ्य तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्य मनुभवत्यनुभवतीत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को

निर्ममे"—इति। 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्य मनुभवत्यनुभवति'—इति तु त्रयोदशाध्यायान्ते एव विद्यते; न तु द्वादशाध्यायान्ते। तथा चैतन्मतेऽपि त्रयोदशाध्यायस्यातिस्वल्पग्रन्थत्वात् द्वादशाध्यायशेषत्वेनैव ग्रहणं व्यज्यते। किञ्चैतादृशनिरुक्तनिर्देशकथनादेतस्यापि नये ऊर्द्ध्वमार्गगतिप्रकरणात्मकस्य चतुर्दशाध्यायस्य सत्तापि न लक्ष्यते; पर माश्चर्य मेतत् "द्वा सुपर्णा (ऋ० स० २. ३. १७. ५.)"—इति मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे प्रमाणत्वेनोपन्यस्त मेव तच्चतुर्दशाध्यायीय मपि निर्वचनं निरुक्त मिति। तथाहि—"अत्र 'द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्त्तारौ'—इत्यादि (निरु० १४ अ० ३० ख०; ४ भा० ४०४ पृ०) निरुक्ते गत मस्य मन्त्रस्य व्याख्यान मनुसन्धेयम्"—इति। तदत्र तत्त्व मुन्नेयं धीमद्भिरेव पूर्वापरदर्शिभिरिति।

अस्मन्मते तु "समाम्नायः समाम्नातः"—इत्यादि, "य ऋतुः कालो जायानाम्"—इत्यन्त मेव द्वादशाध्यायी ग्रन्थो यास्कीयं निरुक्तम्; अतिस्तुतिप्रकरणम्, ऊर्द्ध्वमार्गगतिप्रकरणञ्च न यास्कीयम्। समाम्नातानां हि निघण्टुपदानां व्याख्यानानि, तत्प्रसङ्गतो विशेषवक्तव्यानि च द्वादशाध्यायात्मकेनैव ग्रन्थेन वृत्तानीति सिद्धेऽप्युद्देश्ये कथ मन्यत्र यास्कस्य प्रवृत्तिरेवोदियादिति। अत एव सायण-दुर्गाचार्य-देवराजेत्येतेषु विद्वत्सु प्राचीनतमेन देवराजेन तयोः सत्तापि न द्योतिता; ततश्च देवराजकाले न स्त एव त इमे प्रकरणे; स्त एवेति चेन्न निरुक्तत्वेन प्रसिद्धे इति सुव्यक्त मेव। ततो दुर्गाचार्यसमयेऽपि ऊर्द्ध्वमार्गगतेर्दशा तु तथैव; पर मतिस्तुतेर्निरुक्तत्वे तु संशय एवासीत्तदानीन्तनानाम्। अत एव ग्रन्थारम्भकाले अनाकाङ्क्ष मतिस्तुतिप्रकरण मिति मत्वा तस्य निरुक्तत्वपरिहारं मनसि कृत्वैवोक्तं द्वादशाध्यायीत्वं निरुक्तस्य; पश्चाद् ग्रन्थावसानकाले तुष्यतुदुर्जन इति न्यायेन बहुपुस्तकस्थत्वादेव तस्याप्यादरः कृतोऽपि चिरप्रसिद्धो निरुक्तो द्वादशाध्यायात्मक एवेति संस्मृत्य पुनः सङ्कोचभावेनोक्तं सपादद्वादशाध्यायीति। सायणाचार्यस्तु ततोऽप्यर्वाचीन इति निःसङ्कोचेनैवाभिचख्यौ तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्य मित्यादि, परं चिरप्रवादानुगतं निरुक्तस्य द्वादशाध्यायीत्वञ्च न तेनोपेक्षितम्।

तथा च तस्याप्याचार्यस्य वृत्तिकृदुक्तं सपादद्वादशाध्यायीत्व मेव सम्मत मपि प्रवादविरोधभिया तत्र मौनावलम्बन मेव चातुर्य मवलम्बितम् । ऊर्द्ध-मार्गगतिप्रकरणं तु तदापि निरुक्ते न प्रवेश मलभत ; सति हि प्रवेशे ऽवश्य मेव तन्नामापि सायणेन गृहीतं भवेदिति । यच्चावलोक्यते "द्वा सुपर्णा (ऋ० सं० २. ३. १७. ५.)"–इत्यस्य भाष्ये "अत्र द्वौ द्वौ *** निरुक्ते गतम्"–इत्यादि, न तद् भाष्यीयवचन मपि तु टीप्पनीटीपित माधुनिक मेव ; कालाल्लेखकानवधानात् तदन्तर्भूत मित्यत्र सन्देहाभावः । अन्यथा सायणाचार्यस्योन्मत्तता प्रसज्येतेति सुधीभिरेव विभाव्यताम् ।

तदेवं निष्पन्न मेतत्,—साम्प्रतं निरुक्तस्य चतुर्दशाध्याय इति प्रसिद्धम् ऊर्द्धमार्गगतिप्रकरण मनतिप्राचीनैरेव कैश्चित् निरुक्ताङ्गीभूतं कृतम् ; सा-यणाचार्यसमयेऽपि न तस्य निरुक्तत्वं निरुक्तपरिशिष्टत्वं वा स्थित मिति ; किञ्च यदेतर्हि निरुक्तस्य त्रयोदशाध्याय इति प्रसिद्धम्, तदतिस्तुतिप्रकरणं तु सायणकालात् पूर्व मेव निरुक्तान्तर्गतीभूतम् ; तत्पूर्वजस्य दुर्गाचार्यस्य कालेऽप्येतद्विषये तादृशाना मपि धीमतां धियः सन्देहदोलायां दोदुल्य-माना एव स्थिताः,—किमिदं निरुक्तं न वेति । तत्पूर्वकाले तु तयोर्निरुक्तत्व-शङ्कापि नासीदेव । अत एव यास्कीयैतन्निरुक्तात् परजेऽपि कात्यायनीयेऽत्र व्याकरणाध्ययनप्रयोजनान्वाख्यानपरवार्त्तिके 'चत्वारि शृङ्गाः (ऋ० सं० ३. ८. १०. ३.)'–इति मन्त्रस्योल्लेखो विद्यते ; अपि तदीये खलु पातञ्जले महाभाष्ये तस्य मन्त्रस्य निरुक्त-त्रयोदशाध्यायसम्मतं व्याख्यानं न दृश्यते, दृश्यतेऽपि तु व्याख्यानान्तर मेव तत्प्रकरणानुगतम् । तथाहि—"चत्वारि शृङ्गाणि, चत्वारि पदजातानि ; नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयो अस्य पादाः, त्रयः कालाः ; भूतभविष्यद्वर्त्तमानाः । द्वे शीर्षे, द्वौ शब्दा-त्मानौ ; नित्यः कार्यश्च । सप्त हस्तासो अस्य, सप्त विभक्तयः । त्रिधा बद्धः, त्रिषु स्थानेषु बद्धः ; उरसि कण्ठे शिरसीति । वृषभः, वर्षणात् । रोरवीति, शब्दं करोति ; कुत एतत् ? रौतिः शब्दकर्मा । महो देवो मर्त्त्यान् आविवेश इति, महान् देवः शब्दः, मर्त्त्या मरणधर्माणो मनुष्याः ;

तान् आविवेश। महता देवेन साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्"—इति। नैरुक्तव्याख्यानन्त्विहैव त्रयोदशे (४भा० ३४५ पृ०) द्रष्टव्यम्। यदि हि नामैतस्यातिस्तुतिप्रकरणस्यापि निरुक्तत्वं भगवतः कात्यायनस्याप्यभिमतं स्यात्तर्ह्येतस्य तु मन्त्रस्य तत्र प्रकरणेऽनुपयुक्तत्वादुल्लेख एव न स्यात्। तत् किं पतञ्जलेर्व्याख्यानान्तरप्रतिपिपादयिषयेति। किञ्चैव मत्र त्रयोदशेऽध्याये (४भा० ३४४ पृ०) 'जर्भरी'–इत्यस्य 'भर्त्तारौ'–इति, 'तुर्फरीतू'–इत्यस्य 'हन्तारौ'–इति चार्थद्वयदर्शनसम्पन्नोऽपि महाभाष्यकारः कथं ब्रूयात्—"बहवोऽपि हि शब्दा येषा मर्था न विज्ञायन्ते 'जर्भरी'–'तूर्फरीतू' (२अ० १पा० १आ०)"–इति? अतः स्पष्ट मेवाभिगम्यते—नाय मध्यायो भगवत्पतञ्जलिना दृष्ट इति। सिद्ध मित्थं द्वादशाना मेवाध्यानां यास्कीयनिरुक्तत्वम्, तस्यैव परिशिष्टरूपयोर्द्वयोस्तु महाभाष्यतोऽप्यर्वाचीनत्व मिति शम्।

---

( ७ )

अथेदानी मिद मपीह विचार्य मस्ति;—कः कालोऽस्य यास्कस्य? कस्मिन्नु समये ऽय मिमां भुव मलङ्चकारेति विवेचयामइति यावत्।

अहोवत! अस्माक मैतिहासिकग्रन्थो दोषशून्यः सर्वावयवशो विश्वास्यो नैकोऽपि दृश्यते; पुराप्यासीन्नवेति कस्यावगमो विद्यते।

सत्य मेतत् वेदानां मन्त्रभागेषु बहव एवेतिहासा लभ्यन्ते; तथा चोक्तं भगवता यास्केन—"त्रितं कूपेऽवहित मेतत् सूक्तं प्रतिबभौ; तत्र ब्रह्म,—इतिहासमिश्रम्, ऋङ्मिश्रम्, गाथामिश्रं भवति (२ भा० ३९४ पृ०)"–इत्यादि। परं प्रायस्ते सर्व एवोपमामूलका रूपकवर्णनात्मका एव। तथाहि—अतिष्ठन्तीना मिति मन्त्रं व्याख्यन्निन्द्रशत्रुपदनिर्वचनावसरे चाह यास्कः—"इन्द्रशत्रुः; इन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः, तत्कः? वृत्रः;—मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर

इत्यैतिहासिकाः*। अपाञ्च ज्योतिषस्य मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते, तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति (२ भा० २१७ पृ०)"—इत्यादि।

अन्यच्च; श्रूयते हि—"प्रजापतिरात्मनो वपा मुदक्खिदत् (तै० सं० २. १. १.)"—इत्यादि। अत्राप्येव मेव रूपकार्थः कृता मीमांसाभाष्यकृच्छ्-वरस्वाम्यादिभिः। तथाहि—"कथं पुनरनुत्खिन्नायां वपायां 'प्रजापति-रात्मनो वपा मुदक्खिदत्'—इत्याह? उच्यते,—असद्वृत्तान्तान्वाख्यानम्; स्तुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमानत्वात्। इहान्वाख्याने वर्त्तमाने द्वयं निष्पद्यते,—यच्च वृत्तान्तज्ञानम्, यच्च कस्मिंश्चित् प्ररोचना द्वेषो वा। तत्र वृत्तान्ता-न्वाख्यानं न प्रवर्त्तकं, न निवर्त्तकं चेति प्रयोजनाभावादनर्थक मित्यविव-क्षितम्; प्ररोचनया तु प्रवर्त्तते, द्वेषान्निवर्त्तते इति तयोर्विवक्षा। वृत्तान्तान्वाख्यानेऽपि विधीयमाने आदिमत्ता दोषो वेदस्य प्रसज्येत। कथम्पुनरिदं निरालम्बन मन्वाख्यायते? इति, उच्यते—नित्यः कश्चिदर्थः प्रजापतिः स्यात्,—वायुः, आकाशः, आदित्यो वा। 'स आत्मनो वपा मुदक्खिदत् (तै० सं० २. १. १.)'—इति वृष्टिम्, वायुम्, रश्मिं वा। 'ता मग्नौ प्रागृह्णात् (तै० स० २. १.१.)'—इति वैद्युते, आर्चिषे, लौकिके वा। 'ततो अजः (तै०सं०२.१.१.)'—इति अन्नम्, वीजम्, विरुत् वा। 'त मालभ्य (त मुपयुज्य) प्रजाः पशूनाप्नोति (तै०स०२.१.१.)"—इति गौणाः शब्दाः (मी० भा० १. २.१.)'—इति। तथा चैवमादिभ्यो मन्त्रभागी-येतिहासेभ्यः कथङ्कार माप्नुयामैतिहासिकं तथ्यम्।

ब्राह्मणभागेषु च बहव एवेतिहासा उपलभ्यन्त इत्यपि सत्य मेव। तथा चैतरेयके—"प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् सूर्यां सावित्रीम् (४.२.१.)"—इत्यादयः। पर मेवमादिष्वपि प्रायस्तथैवार्थोऽवगम्यते, तथैव नैरुक्तादिशासनात्। तथाच—"सूर्या, सूर्यस्य पत्नी; एषैवाभिसृष्टकाल-तमा"—इति हि (२भा० २५८ पृ०) निरुक्तम्; "एषैव उषाः, अभि-

---

* महाभारते व०प० १००,१०१अ०; शा० मो०प०१७८—१८१ अ०।

स्पष्टकालतमा यथा यथा सूर्यस्योदयकालं प्रत्यभिस्पष्टतमा भवति, गततमा भवति, तथा तथा सैषा उषाः सूर्या सम्पद्यते (२भा० २६०पृ०)"—इति, "ज्योत्स्नां सोमाय ददाति; यदुक्तम्—आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति (२भा० २६३पृ०) "—इति च तत्राह दुर्गाचार्यः। अथैवं मन्त्रब्राह्मणयोः नास्त्येवैतिहासिकं तथ्य मिति च वक्तुं न शक्नुमः, न चास्माकं तथाभिप्रायः; पर मीदृशगूढतत्त्वागाधसलिलादभिमतैतिहासिकतथ्यरत्नोद्धारस्त्वस्माक मतिदुष्कर एवेति।

पुराणादिष्वपीतिहासा विद्यन्त एवेति च सत्यम्; तेषां प्राचीनेतिहासवर्णनपूर्वकधर्मोपदेशायैवोत्पत्तेः। परं तेष्वपि रोचनाद्यर्थान्येव बहून्युपाख्यानानि रूपकात्मकेभ्यो वेदशब्देभ्य एव सङ्गृह्योपबृंहितानि दृश्यन्ते; अत एव तत्तच्छास्त्रं वेदार्थोपबृंहण मित्याख्यायते (म० भा०१.१.२६४.)। तथाहि—इन्द्रस्याहल्याहरणोपाख्यानं बहुष्वेव काव्येतिहासपुराणेषु समासतो व्यासतो वा वर्णितं दृश्यते। वस्तुतस्तु वेदेषु ऋग्वेदीय-मन्त्रभागे "उदीरय पितरा जार आ भगम् (ऋ०स०७.६.१०.१.)"—इति मन्त्रे श्रुतं जारपद मेव तादृशसर्वप्रसिद्धस्य अहल्योपाख्यानस्य मूलम्; न च तस्य मूलान्तर मस्ति; तस्य च जारशब्दस्य प्रकृतोऽर्थः खल्वेवं भाषितो यास्केन—"अथाप्युपमार्थे दृश्यते—'जार आ भगम्' जार इव भगम्। आदित्योऽत्र जार उच्यते; रात्रेर्जरयिता स एव (२भा०३२०पृ०)"—इति। 'जार आ भगम्'—इत्येतावदेवालम्ब्यैव प्रथमं तावत् ब्राह्मणग्रन्थीय माख्यान माख्यातम्;— "अहल्यायै जार कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाण (तै० आ०१.१२.४.)"—इति, "अहल्यायै जारेति (श०ब्रा०३.३.४.१८.)"—इति च। ततश्च तदेव मूलीकृत्यातिबृंहितं दृश्यते वाल्मीकीयरामायणे वालकाण्डेऽष्टचत्वारिंशोनपञ्चाशत्तमयोः सर्गयोः; तदेव चोपसङ्क्रान्तं क्रमान्महाभारतादिष्वपीतिहासपुराणेषु। भट्टकुमारिलस्वामिनाप्येतस्य ब्राह्मणग्रन्थीयेतिहासस्य प्रदर्शितनैरुक्तानुगत मेव व्याख्यानं स्पष्ट मभिहितं मीमांसाभाष्यवार्त्तिके। तथाहि—"समस्ततेजाः परमेश्वरत्वनिमित्तेन्द्रशब्द-

वाच्याः । सवितैवाहनि लीयमानतया रात्रेरहल्याशब्दवाच्यायाः क्षया-त्मकजरणाहेतुत्वात् जीर्य्यत्यस्मादनेन वोदितेन वेत्यहल्याजार इत्युच्यते; न परस्त्रीव्यभिचारात् (६. १. ४१.)"—इति । मीमांसायाः सूत्र-भाष्य-वार्त्तिक-न्यायमालादिषु सर्वत्रैव सुब्रह्मण्याह्वाननिगदे हरिवच्छब्दस्यानूहाधिकरणेऽन्यानि चैव मुदाहृतानि (६. १. १५. अधि०) ।

एवं बह्वष्वेव पुराणादिषु "उषो न जारः (ऋ० सं० १. ६९. १.—६.—७. १०. १.)"—इत्येतन्मन्त्रमूलकं प्रजापतेः स्वकन्यानुगमनाख्यानञ्च बृंहितं दृश्यते; परं तदपि रूपकत्वेनैव व्याख्यातं ब्राह्मणे । तथाहि—"प्रजापतिर्वै स्वां दुहिर मभ्यध्यायत्; दिव मित्यन्य आहु रुषस मित्यन्ये (ऐ०ब्रा०३.३.९.)"—इत्यादि । तत्रैव मीमांसावार्त्तिके अस्याप्यौपचारिक मेव व्याख्यानं कृतं दृश्यते । तथाहि—"प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारादादित्य एवोच्यते । स चारुणोदयवेलाया मुषस मुद्यन्नभ्येति । सा तदागमनादेवोपजायत इति तद्दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते । तस्याञ्चारुणकिरणाख्यवीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषसंयोगवदुपचारः"—इति । इत्य मस्मदितिहासपुराणादिवचनेष्वपि ऐतिहासिकं तथ्यं कथ मुपलभ्येत? तथ्येष्वपि वा कथं न सन्देहो दुर्वार एव?

कि मधिकेन यदि हि नाम यौधिष्ठिराब्दः प्रचलितो न स्यात्, यौधिष्ठिरीयस्तम्भादिकं च न दृश्येत, तर्हि को नाम महाभारतवचनादेव विश्वस्यादासीत् पुरा युधिष्ठिरो नाम नृपतिरित्यपि? तत्र यौधिष्ठिरीयेतिहासेऽपि अर्जुनस्य स्वर्गीयेन्द्रसभायां गमनादीनि (व० प० ३७—५१ अ०) बहून्येव कविकल्पितानि सन्तीति धीमत्समाजेषु प्रसिद्धान्येव । भारतीयेतिहासग्रन्थेषु च महाभारत मेव सर्वप्रधानम्; अत एवोक्तं तत्रैवादिपर्वणि—"महत्वात् भारतत्वाच्च महाभारत मुच्यते (१.१.२७०.)"—इति । तादृशभारतेतिहासस्य च बृंहणकल्पनातिरञ्जनादिदोषदुष्टत्वात् ऐतिहासिकतथ्यान्वेषिणा मप्रीतिकरत्वं चेत्, पुराणोपपुराणादीनान्तु कथा दूरपराहता एव ।

एवं षड्गुरुशिष्यादयोऽपि टीकाकारा ऐतिहासिकांशेऽलीकवक्तार एव; तेषां हि ग्रन्थकर्तृनामविभ्रमहेतुकं पौर्वापर्यज्ञानविरहत्वं व्यज्यत एव सर्वत्र। तथाहि ऋग्वेदसर्वानुक्रमणीवृत्तौ— "शुनकाच्छौनकोऽभवत्। एतत्सूक्तयुतं पश्यत् द्वितीयं मण्डलं पुनः। * * *। यस्मै व्याचष्टे * * * उग्रश्रवा व्यासशिष्यः * * * महाभारत माख्यानं हरिवंशकथान्वितम्"— इति। इह हि सूक्तद्रष्टृत्व-मण्डलद्रष्टृत्व-व्यासशिष्योक्तभारत-तत्परिशिष्टश्रोतृत्वाना मेकाधिकरण्यं प्रदर्शितम्। पुनरित उत्तर मस्यैव शौनकस्यापरदशग्रन्थकर्तृत्व मप्युल्लिखितम्। तदेतत्सर्वं षड्गुरुशिष्यकथन मस्मच्छ्रुतिषु शूल मिव व्यथयति; कथं हि सम्भाव्यते,—प्रदर्शिताश्वलायनीयगृह्ये ऋषिनामसु गार्त्समद इति गृहीतनाम्नो मण्डलद्रष्टुः अतिवृद्धस्यानिर्दिष्टकालिकस्य शौनकस्य, आचार्यनामसु शौनक इति गृहीतनाम्नः शाखाप्रवक्तुः प्राग्युगीयस्य च शौनकस्य, अद्ययुगीयव्यासशिष्योक्तभारतश्रवणम्? अनतिप्राचीनहरिवंशकथाश्रवणं च?—इति सुधीभिरेवैतदाकल्प्यताम्। वस्तुतस्त्वैतिहासिकांशे षड्गुरुशिष्योक्तानि खलु उन्मत्तप्रलपितानीवेत्यत्र नास्त्येव संशयः; तद्विशदयिष्याम्स्योपरिष्टादिहैव। तत्कथ मेतादृशोऽपि ग्रन्थः प्रामाण्यपद मारोहेदैतिहासिकतथ्यनिर्णयायेति।

अस्त्येवैको ग्रन्थो राजतरङ्गिणी नामेतिहासेषु प्रसिद्धः, भारतेतिहासिकतत्त्वजिज्ञासूनां किञ्चित् प्रीतिपदस्वेति सत्यम्! परं ततस्तु खलु आदिगोनर्दप्रभृतीनां काश्मीरेन्द्राणा मेव वंशावलिर्ज्ञायते, न त्वन्यत् कि मपि विशेषतः।

देशावल्यादिनामेतिहासग्रन्थास्तु आधुनिका अपि समग्रा विशुद्धाश्च नोपलभ्यन्ते, तदल मिह तत्कथयेति।

गुणाढ्यकृतो भूतभाषाख्यो बृहत्कथाग्रन्थस्तु सप्तलक्षश्लोकात्मक इत्येव श्रुतम्, न च दृष्ट मद्यापि, तदलं तदष्टकथान्दोलनेनापीति।

अनन्तपत्न्याः सूर्यवत्याश्चित्तविनोदनाय सोमदेवभट्टेन सम्पादितः कथासरित्सागरस्तु स्त्रीजातिचित्तविनोदायैवालम्, न त्वैतिहासिकतथ्यानुसन्धि-

त्मूनां तोषाय ; वर मद्दो तदुपन्यासपाठादैतिहासिकानां विमलहृत्सरःस्वपि शैवालचया एव समुत्पद्यन्ते । वस्तुतः तद्ग्रन्थपर्यालोचनयेद मेव प्रतीयते सोमदेवस्य तस्य यथाकथ मपि अनन्तपत्नी-चित्तविनोदन मेव उद्देश्य मासीत् ; न त्वैतिहासिकतथ्यप्रदर्शन मिति ; सति हि तत्र पाणिनितो न्यूनाधिकसहस्राब्दीपरजस्यापि कात्यायनस्य पाणिनिसतीर्थत्वं वक्तुं नोत्सहेत ; को हि नामैतिहासिको वृद्धत्वादिहेतुजवाय्वंशहीनः प्रकृतिस्थोऽपि व्याकरणसूत्रकार-पाणिनेः कालान्तरवीजमूलक-भाषाव्यवहारान्तरगतपदसंस्कारक-कात्यायनस्य च समकालिकत्वं मन्येत । अस्मन्मते त्वीदृशासत्यैतिहासिकज्ञानविकाशसहायस्योपन्यासग्रन्थस्य प्रचारव्याघात एवोचितः, प्रचरितश्च सं भस्मसादेव कर्त्तव्य इति । यस्त्वस्मद्देशीयः कश्चित् पण्डितो बह्वन्वेषणासमर्थोऽपि हन्त स्वश्रमकातरतानिबन्धन मनायासलब्ध मेतत्कथन मेव विश्वस्य तदेव च भित्तीकृत्य किञ्चिदप्यलेखीत्, तादृशाविवादिसाधवे च वयं बहुदूरत एव शतं नमस्कुर्मः ।

तदेव मस्मद्देशीयैतिहासिकतथ्याविष्करणाय बहुकालतो बहुश्रमतश्च बहूनां ग्रन्थानां परिदर्शनम्, मधुलिड़िव यथालब्ध मैतिहासिकमधुग्रहणम्, ऐतिह्याद्यवलम्बनञ्च प्रयोजनीयम् । तथा कृत्वा आविष्कृते च तथ्ये न च सर्वावयवशो विश्वस्यात् ; अपि तु कदाचित् खण्डनीय मपीदं भवेदिति चाशङ्कैतैव । एतादृशे च दुष्करे प्रवृत्ता वय मवश्य मेव कृतकृत्याः स्यामेत्यपि दुराशैव ; परं प्रवृत्ताश्चेत् कथं निर्व्रीड़ाः प्रतिनिवृत्ता भवेम इत्यालोच्यैवेह यथाज्ञानं किञ्चिद् वदामस्तत्र "पदे पदे प्रस्खलतां सन्तः सत्त्ववलम्बनम्" । किञ्च, "हिमसङ्घातगा ये तु नोपहास्याः स्खलत्स्वपि । अनन्यगमनानां हि स्खलनं नोपहस्यते ।—

अथ प्रदर्शितेषु अद्यप्रचलितमहाभारतश्लोकेषु निरुक्तकर्तृत्वेन यास्कनाम्नः स्मरणात् तन्महाभारतकारात् प्राचीनोऽयं यास्कः इति त्वविचारित मपि सिद्ध मेव । स च महाभारताख्य इतिहासग्रन्थः पाणिनिभाष्यकारात् पतञ्जलिमुनेः परभव एव ; पतञ्जलिना हि उदाहृतेष्वपि

भारतीयप्रसङ्गेषु अद्यप्रचलितैतन्महाभारतीयवचनान्युद्धृतानि नैव दृश्यन्ते, प्रत्युतान्यथैव श्लोकांशादिकास्तत्रतत्रोपलभ्यन्ते। तथाहि तृतीयाध्याये—"धर्मेण स्म कुरवो युध्यन्ते (२पा० २आ०)"—इति। अवश्य मिदं श्लोकचरणम्, परं नास्त्येतन्महाभारते; अतो नूनं सम्भाव्यते पतञ्जलिसमये नासीदेतन्महाभारत मपि त्वासीदेतन्मूलरूपो युधिष्ठिरादीतिहासाश्रयः कश्चनापरो ग्रन्थ इति। किञ्चेह पातञ्जले ह्युदाहृत मेतत्—"वृद्धकुमारीवाक्यवदिदं द्रष्टव्यम्। तद्यथा। वृद्धकुमारीन्द्रेणोक्ता वरं वृणीष्वेति। सा वर मवृणीत। 'पुत्रा मे मधुक्षीरघृत मोदनं कांस्यपात्र्यां भुञ्जीरन्!'—इति। न च तावदस्याः पतिर्भवति; कुतः पुत्राः? कुतो गावः? कुतो धान्यम्? तत्रानया एकेन वाक्येन पतिः पुत्रा गावः धान्य मिति सर्वं सङ्गृहीतं भवति (८अ० २पा० १आ०)"—इति। एतद्वृद्धकुमार्य्याख्यानन्तु नैवं दृश्यते ऽद्यप्रचलितेऽत्र महाभारते (शा० प० ५२अ०)। अतोऽप्यवबुध्यतेऽद्यप्रचलितमहाभारतकारात् पूर्वज एवायं महाभाष्यकारः पतञ्जलिरिति।

निरुक्तकारोऽयं यास्कः खलु पाणिनिव्याकरण-महाभाष्यकारस्य भगवतः पतञ्जलेरप्यतिपूर्वजः। पश्यतु तावत्—निरुक्तेऽत्र अर्थज्ञप्रशंसाप्रकरणे योद्धृता ऋक् उत त्वः पश्यन्निति, महाभाष्येऽप्यर्थज्ञप्रशंसने सैव प्रदर्शिता; निरुक्तकारकृता अर्था एव तत्र यथावदुद्धृता च (निरु० २भा० १३२पृ०; म० भा० १अ० १पा० १आ०)। किञ्च यद् दृश्यतेऽत्र निरुक्ते "शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते; *** विकार मप्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवणार्थेषु प्राच्येषु; दात्र मुदीच्येषु"—इत्येव (२भा० १६०पृ०)। पातञ्जले तु एतदेवोद्धृत्य किञ्चित् विस्तृतम्—"शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति; विकार एन मार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु; रंहतिः प्राच्यमगधेषु; गमि मेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवणार्थे प्राच्येषु; दात्र मुदीच्येषु (१अ० १पा०१आ०)"—इति। अपरञ्च—"तितउ परिपवनं भवति; ततवद्वा, तुन्नवद्वा, तिलमात्रतुन्न मिति वा (२भा० ४०३पृ०)"—इति नैरुक्तम्। तदेव

तिलमात्रेति परिहायेह पातञ्जले सक्तु मिव तितउनेति मन्त्रव्याख्याने प्रमाणत्वेनोपन्यस्तं दृश्यते (१अ० १पा० १आ०)। अपि च तत्रैव सक्तु-पदनिर्वचनं सचतेरित्यादि; धीरा इत्यस्य, मनसेत्यस्य, अक्रत इत्यस्य च प्रतिवचनानि ध्यानवन्तः, प्रज्ञानेन, अकृषत इत्यपि निरुक्त एव लभ्यानि (निरु० २भा० ४०४पृ०)। अपर मपि—"हंसा हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम् (२भा० ४२१पृ०)"–इति नैरुक्तम्। एतन्नैरुक्तनिर्वचनबलादेवाह पतञ्जलिः—"कः पुनराह हम्मतेर्हंस इति। किन्तर्हि? हन्तेर्हंसः; हन्त्यध्वान मिति (६अ० १पा० २आ०)"–इति। स्पष्टतोऽपि च महाभाष्ये व्याख्यातव्यत्वेन प्रसिद्धग्रन्थनामप्रदर्शनाय निरुक्तनामग्रहणं कृतं दृश्यते। तथाहि —"शब्दग्रन्थेषु चैषा प्रहततरा गतिर्भवति निरुक्तं व्याख्यायते इति (४अ० १पा० १आ०)"— इति।

नन्वत्र निरुक्त मिति शाकपूण्याद्यन्यतमकृतो ग्रन्थो ग्राह्यः? इति चेन्न; शाकपूण्याद्यन्यतमकृतो ग्रन्थः खलु महाभाष्यकालेऽपि स्थित इत्यत्र हि न किञ्चिन्मानं पश्यामः; प्रत्युत लुप्तेष्वेव तादृशग्रन्थेषु नूतनस्यैतस्य निरुक्तस्य प्रचारसम्भवः; प्रचरिते चैतस्मिन्, महाभारते यास्कस्यैव निरुक्त-कर्तृत्वेन ग्रहणं सङ्गच्छते। न च महाभाष्य-महाभारतयोः एव मन्तराल-सम्भवः, यत्र शाकपूण्याद्यन्यतमकृतं निरुक्तं लुप्त मुत्पन्नञ्च सुप्रचलित मिद मिति।

केचिदत्राहुः—यास्कीयैतन्निरुक्ते "स्थाल आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः" –इत्यस्य, "ऋचा समं मेन इति नैदानाः"–इत्यस्य च ( ३भा० १७६, ३६७ पृ० ) दर्शनात् ज्ञायते सामवेदीयस्य निदानसूत्रस्य यास्कतोऽपि प्राचीनत्वं निरुक्तवत्त्वञ्च। अपि च सामवेदीये बौधायनीयकल्पपद्धता-वपि बहुत्र निदाननामश्रवणात् ततोऽपि प्राचीनत्वं तस्यावगम्यते। तथाहि—"निदानकारस्य द्वाविंशत्यक्षरप्रभृतयस्तुरुत्तरास्त्रयः सप्तवर्गाः ०—० परमेष्ठ्यन्तस्येति पथ्यस्येति"–इति। किञ्च तत्रैव किञ्चिदुत्तरम् —"उक्तं हि निदाने ज्योतिष्टोमं षोडशिनं चाधिकृत्य 'संस्था मप्यस्यैतां

विद्यमानानां मन्ये'-इति"—इति च (१५०)। एव मन्यत्रापि तत्र बहुत्र सर्ववेदाङ्गविषयेष्वेव निदानना उपलभ्यते। तत्त्रातिप्राचीनेऽपि निदानसूत्रे दैवतनिर्णयविषयेऽपि शाकपूणिनामोल्लेखो दृश्यते, परं न तु तत्रापि निरुक्त मित्युक्त्या। तथाहि—"ऐन्द्राः प्राजापत्याः सार्पराज्ञश्चान्द्रमसः सौर्य इति शाकपूणिः (४. ६.)"-इति। शाकपूणेर्दैवतप्रत्यक्षकारितां चाह यास्कोऽपि। तथाहि—"शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानामीति। तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव। तां न यज्ञे। तां पप्रच्छ विविदिषाणि त्वेति। सास्मा एता मृच मादिदेशैषा मद्देवतेति (२भा० १८८पृ०)"-इति। तदेतत् सर्वं समालोच्येद मेव प्रतीतं भवति,—शाकपूणिः खलु यास्काचास्मात् बहुपूर्वजो ब्राह्मणकाले स्थितोऽनुब्राह्मणविशेषस्य कर्त्तासीत्; तत्रानुब्राह्मणे एव मन्त्रार्थपदनिर्वचनानि दैवततत्त्वादीनि चोपदिष्टानि। अत एव निदानसूत्रे क्वचिदनुब्राह्मणग्रन्थनामोल्लेखतया क्वचिच्च शाकपूणिनामोल्लेखतया च प्रमाणं प्रदर्शितम्। तदीयः शाकपूणिनामोल्लेखस्तु दर्शितः; अनुब्राह्मणनामोल्लेखोऽप्यत्र प्रदर्श्यते। तथाहि—"किं स्तोमाः? अनुब्राह्मणं स्युरित्येकविंशस्तोमाः" -इत्यादि (८. ३.)। तदेवं शाकपूणेः निर्वचनापरपर्यायनिरुक्तकर्तृत्वेऽपि न पुनः निरुक्तेत्येवप्रसिद्धग्रन्थविशेषकर्तृत्व मिति व्याख्यातव्यत्वेन प्रसिद्धग्रन्थनामप्रदर्शनाय यदुक्तं महाभाष्यकृता निरुक्तं व्याख्यायते इति तन्नूनं यास्कीय मिदं निरुक्त मभिलक्ष्यैवेति।

किञ्च दृष्टं वर मदृष्टत इति न्यायात् कि मदृष्टनिरुक्तकल्पनयेत्यस्यैवेह भाष्ये ग्रहणं न्यायः; अपि च नाम भाष्येऽत्र शाकपूणिकृतस्यैव निरुक्तस्य ग्रहण मिष्ट मित्यत्र नास्ति किञ्चिदपि विनिगमक मतो यास्कीयनिरुक्तस्यापि बोधेन कथं न भवितव्य मिति। वस्तुतस्तु अद्यप्रचलिता या मनुसंहिता, एतस्या अपि प्राचीन मिदं निरुक्तम्; पातञ्जलं महाभाष्यं तु एतन्मनुतः पराचीन मिति ध्रुवम्। सत्येव मस्य निरुक्तस्य पातञ्जलादस्मात् अतिप्राचीनत्वे कोऽस्ति शङ्कावसरः।

पश्यतु तावत् पातञ्जले खलु महाभाष्ये—"पूर्ववयसः अप्रत्युत्थाने दोष उक्तः, प्रत्युत्थाने च गुणः। कथम्? 'ऊर्द्धं प्राणाह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति। प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते'—इति। स च पूर्ववयोमात्रे प्रसक्तः, अतोऽत्राप्यवयवेन शास्त्रार्थः सम्प्रतीयते (६ अ० ५ पा० ४ आ०)"—इति। तदत्रोद्धृत मूर्द्धं प्राणा इति वचनं तु साम्प्रतं मनुसंहितेति प्रसिद्धाया भृगुसंहिताया द्वितीयेऽध्याये (१२० श्लो०) दृश्यत एव। एतावतैव पातञ्जलस्यास्य महाभाष्यस्यैतन्मनुपरत्वं सुव्यक्तम्।

निरुक्तस्यास्य त्वेतन्मनोश्च पूर्वत्व मेवानुमीयते। तथाहि उक्तानि ह्येतन्निरुक्ते—"पुमान् दायादो अदायादा स्त्री"—इति, "स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते, न पुंसः"—इति, "अभ्रातृका इव योषास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे"—इति, "गर्त्तारोहिणीव धनलाभाय"—इति, "नाभ्रात्री मुपयच्छेत"—इति च (२ भा० २५६—२७५ पृ०)। एष्वेकत्राप्यद्यप्रचलितमनुसंहिताया नामोल्लेखोऽपि न कृतः; सति ह्यस्याः संहिताया निरुक्तपूर्वत्वेऽवश्य मेवैतन्नामकीर्त्तनादिक मिह दृश्येतैव। किञ्चाद्यतनीय-मनुसंहितायान्तु पञ्चैव महापातका निर्दिष्टा दृश्यन्ते। तथाहि—"ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह (११ अ० ५४ श्लो०)"—इति। निरुक्ते तु "सप्त मर्यादाः कवयश्चक्रुः। तासा मेका मप्यधिगच्छन्नंहस्वान् भवति। स्तेयम्, तल्पारोहणम्, ब्रह्महत्याम्, भ्रूणहत्याम्, सुरापानम्, दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवाम्, पातके न्रतोद्यम्—इति (२ भा० २५१ पृ०)"—इति सप्त महापातकानि वर्णितानि दृश्यन्ते। तत्र मनुमते भ्रूणहत्याया मुख्यं महापातकत्वं नास्त्येव; नापि त्वातिदेशिकम् (११ अ० ५५—५८ श्लो०); परं विहितञ्च तत्र ब्रह्महत्याप्रायश्चित्त मेव (११ अ० ८७ श्लो०); कुल्लूकमते तु तच्च 'ब्राह्मणगर्भ-विषयम्'। किञ्च कुल्लूकभट्टकृतं तद्व्याख्यानं सङ्गहकारस्य शूलपाणेरपि सम्मत मेव प्रतीयते। तथाहि—"तत्र पुंस्त्वेन ज्ञाते पुम्बधप्रायश्चित्तं स्त्रीत्वेन ज्ञाते स्त्रीबधप्रायश्चित्तम्, अविज्ञाते तु पुम्बधप्राय-

श्चित्त माह मनुः—"हत्वा गर्भ मविज्ञातम् (११. ८७.)"—इत्यादि प्रायश्चित्तविवेकः। अपि चात्र मनुसंहितायां दुष्कृतकर्म्मणः पुनःपुनः सेवने पातककार्यप्रवर्त्तने च महापातकं न दृश्यते; अपि दृश्यते च महापातकिसंसर्गकारिणोऽपि महापातकित्वम् (११. ५४.)। तद्यदि हि नाम निरुक्तप्रचारात् पूर्वस्मिन्नपि काले खल्वेषा संहिता प्रचलिता स्यात्तर्हि ईदृशविरोधभञ्जनाय यास्कस्योष्ठाधरेऽवश्यं मनागपि स्फुरिते दृश्येते एव। अपरञ्चैतद् विचार्यम्,—अस्ति ह्येतदत्र निरुक्ते "तदेतदृक्श्लोकाभ्या मभ्युक्तम्—'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्'—इति। 'अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः। मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् (२भा० २५९ पृ०)"—इति। अत्र ऋक्पदेन न तु ऋग्वेदीयमन्त्रो गृह्यते; नास्त्येव हि तत्र अङ्गादङ्गादिति; अपि तु ऋग्लक्षण एव मन्त्रः; ततश्च शतपथीयायास्तस्या ऋचोऽत्र ग्रहण मिष्टम्; अस्ति चैषा ऋक् शतपथब्राह्मणे (१४. ९. ४. २६.)। अपि चेह श्लोकशब्देन यस्य ग्रहण मिष्टम् 'अविशेषेण'—इत्यादेः, तस्य तु दर्शन मद्यप्रचलितायां मनुसंहितायां नास्त्येव; यास्केन तूक्तं स्पष्ट मेव 'मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्'—इति। सोऽयं कोऽसौ मनुरित्यवश्यं विचारयितव्यम्। विचारिते च तथा, इद मेव प्रतीयते,—सम्प्रति येयं मनुसंहितेति प्रचलिता, सा नूनं यास्कीयादेतस्मान्निरुक्तात् परं प्रणीता; अपि त्ववश्य मासीत् पुरातनोऽपरः कश्चन मनुप्रणीतः स्मृतिग्रन्थः सुप्रचलितो यास्ककालेऽपीति। वस्तुतस्त्वियं न मनुप्रणीता; अपि भृगुप्रणीता भृगुसंहितैवेति च प्रमाणयिष्याम उपरिष्टात्। अन्यच्च—"विद्या ह वै ब्राह्मण माजगाम"-इति शाखान्तरगतास्चत्वारो ये मन्त्रा निरुक्ते उद्धृताः, त एव मन्त्राः किञ्चिन्निवेशपरिहाराभ्यां भाषान्तरीकृतास्त्वाद्यतनीयायां मनुसंहितेति प्रसिद्धायां स्मृतिसंहितायां च लक्ष्यन्त इत्यपि सुवचम् (निरु० २भा० २७२ पृ०; म० स० २ अ० ११३—११६।श्लो०)। अत एव ऋग्भाष्यभूमिकाया

मेव मुक्तं सायणाचार्येण—"विद्याया ग्रहणेऽधिकारिविशेषः शाखान्तरगतै-श्चतुर्भिर्मन्त्रैरुपदर्शितः; तांश्च मन्त्रान् यास्क उदाजहार"—इत्यादि; न चोक्तं तत्र मनुरुदाजहारेति। किञ्चैतस्याः स्मृतिसंहिताया द्वादशे ऽध्याये ऽक्षरशोऽप्युक्तं दृश्यते 'नैरुक्तः'—इति; 'निरुक्तज्ञः'—इति च तद्व्याख्यानं कुल्लूककृतम् (१११ श्लो०)। तदित्थं निरुक्त मिदं पातञ्जलमहाभाष्यतः प्राचीनं न वेति विचारस्तु दूरे आस्ताम्; ततोऽपि पुरातनात् मनु-संहितेतिप्रथितादद्यप्रचलितसर्वप्रधानस्मृतिसंहिताग्रन्थादपि पूर्वं भगवता यास्केन प्रणीत मिति ध्रुवम्।

ततः खलु यास्कीयस्यास्य निरुक्तस्य प्रणयनकालनिर्णयाय प्रवृत्तानां प्रथमं तावत् पातञ्जलस्य, मनुसंहितेत्यद्यप्रसिद्धस्य ग्रन्थस्य चाविःकाल-निर्णय एव कर्त्तव्य इति तत्तत्रैवादौ यतामहे।

(पतञ्जलिः) राजतरङ्गिण्या मवलोक्यते,—यदा काश्मीरप्रदेशस्य शासन-दण्डोऽभिमन्युनामनरपतिकरचालित आसीत्, तदैव चन्द्राचार्यादयः दुर्लभं पातञ्जलं महाभाष्य मलभन्त, नीतवन्तश्च स्वदेश मिति। तथाहि—"चन्द्रा-चार्यादिभिर्लब्ध्वा देशं तस्मात्तदागमत्। प्रवर्त्तितं महाभाष्यं स्वञ्च व्याक-रणं कृतम् (रा० त० १. १७६.)"—इत्यादि। विशेषतश्चावगम्यते वाक्यपदीय-ज्ञापनीपाठात्,— विलोपदशाग्रस्त मेवैकं महाभाष्यपुस्तकं दाक्षिणात्येषु पार्वत्यप्रदेशाल्लब्धम् चन्द्राचार्यादिभिरिति। तथाहि— "प्रायेण सङ्क्षेप-रुचीनल्पविद्यापरिग्रहान्। सम्प्राप्य वैयाकरणान् सङ्ग्रहेऽस्त मुपागते। कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना। सर्वेषां न्यायवीजानां महाभाष्ये निवन्धने। अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्। अस्मिन्न-कृतबुद्धीनां नैवावास्थितनिश्चयः। यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकर-णागमः। कालेन दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः। पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यवीजानुसारिभिः। स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्य्यादिभिः पुनः" —इति। वाक्यपदीयग्रन्थश्चैष कारिकावद्धो महाभाष्यतात्पर्यज्ञापकः, चन्द्राचार्यात्—आचार्यवसुरातात्च परभवेन भर्टहरिणा कृतः। एतदीय-

श्लोका एव 'हरिकारिकाः'—इत्युच्यन्ते सर्वत्र। एवञ्चाभिमन्युनरपतेर्जन्मतोऽपि बहुपूर्व मेव विरचितं महाभाष्य मिति लभ्यत एव।

पाश्चात्याः किल बहव एव धीरा अभिमन्युकालसमालोचने प्रवृत्ताः; तत्र विल्फर्डमहोदयेन ४२३ खी० पू० तद्राज्यान्तो निर्णीतः, प्रिन्सिप्महोदयेन तु ७३ खी० पू० तद्राज्यान्तः स्वीकृतः, लासेन्-महोदयेन तु खीष्टीयचत्वारिंशाब्दगते एव तद्राज्यारम्भ इति स्थिरीकृतम्, बोथ्लिङ्गमहोदयेन तु खीष्टजन्मतः शतवर्षपूर्व मेवाऽभिमन्युः काश्मीरसिंहासन मलञ्चकारेत्युक्तम्*। तदेतन्मतं (बोथ्लिङ्गीयं) प्रिन्सिप्-मतेनैक्यं गच्छति च; राजतरङ्गिण्यां तद्राज्यकालः पञ्चत्रिंशदब्दमित इत्यभ्युपगमात्। तथाच ७३ खी० पू० अभिमन्युराज्यान्त इति स्वीकृते स्वीकृत मेव स्यात् १०८ खी० पू० अभिमन्युराज्यारम्भः प्रिन्सिप्महोदयस्यापि। तदेतदैक्यं गतं मतद्वय मेवावलम्बनीय मिह विभ्रमगताना मस्माक मित्यतः खीष्टजन्मतोऽप्यष्टाधिकशतवर्षपूर्व मपि स्थितं महाभाष्य मिति लब्धम्।

ततः पूर्वप्रदर्शितवाक्यपदीयवचनालोचनादिद मपि प्रतीयत एव तदानीं खल्विदं पुनरुद्धृत मिति। तथाचेदं विचार्यं सम्पन्नम्,—एतादृशो महान् ग्रन्थः कियत्सु कालेषु प्रचरद्रूपो भूतः?—ततः क्रमात् कियत्सु च कालेषु लुप्तदशां गतः? इति। एष महाभाष्यकारस्तु गोनर्द्देशीयः। तथाह्याह स स्वय मेव तत्र बहुत्रैव—"गोनर्दीयस्त्वाह"—इत्येवमादि (पा०१.१.२१.); व्याख्यातञ्च तत् तट्टीकाकृता कैयटेन—"भाष्यकारस्त्वाह"-इति; कैयटटीकाकृन्नागेशोऽपि तथैव व्याचष्टे—"गोनर्दीयपदं व्याचष्टे भाष्यकार इति"—इति। गोनर्द्देशवासित्वादेव च पतञ्जलेर्गोनर्दीयत्वम्। स च गोनर्द्देशोऽद्यतनीयो "गोण्डा"—इति प्रसिद्धोऽयोध्याप्रदेशीय इत्यपि निर्णीत मस्मद्देशीयाध्यापकविशेषेण रामकृष्ण-गोपालभण्डारकेण†। एष

* Otto Boethlingk's Pánini, P. XIV—XVIII.
† Indian Antiquary, Vol. II. P. 70.

एव "गोखडा" गोनर्दो भवतु मा भूद् वा, गोनर्दस्तु प्राग्देशविशेषस्तत्र नास्त्येव संशयः; काशिकायाम्—"एङ् प्राचां देशे (पा० १.१.७५.)" –इत्यस्योदाहरणेषु 'गोनर्दीयः'–इति पदस्यापि दर्शनात्। तदानीं च नासन् खल्विदानीन्तना इव लौहवर्त्मगा अपि धूमयानशकटाः, आसंश्च प्रायः प्रतिनगरान्तेषु दुर्लङ्घ्याः कान्ताराश्च, प्रसङ्गतस्तदप्युक्तं महाभाष्ये– "कश्चित् कान्तारे समुपस्थिते सार्थ मुपादत्ते, स यदा निष्कान्तारीभूतो भवति तदा सार्थं जहाति (१अ० १पा० ९आ० )"–इति। प्रदर्शित-वाक्यपदीयवचनात्त्ववगम्यत एवैतत्,—चन्द्राचार्यादिभिर्दाक्षिणात्येष्वेक मेव लुप्तावशिष्टं महाभाष्यपुस्तक मवाप्त मिति। तदद्य विचार्यतां तावत् धीमद्भिः,—तदानीं खलु प्राच्यदेशतो दाक्षिणात्यं यावत् भाष्यप्रचलनाय कत्यब्दाः प्रयोजनीयाः सञ्जाताः? कतिष्वब्देषु च तत् प्रचरद्रूपं स्थितम्? कियद्भिश्च कालैः पुनर्लोपदशां गत मलाभि च चन्द्राचार्यादिभिरिति।

अस्मन्मते त्वभिमन्युराज्यकालतोऽन्यूनसार्द्धद्विशतवर्षपूर्वं प्रणीत मेत-न्महाभाष्यम्; अन्तरेण हि सार्द्धद्विशताब्दकाल मेतादृशस्य महतो ग्रन्थस्य आर्यावर्त्तीयप्राच्यदेशाद्दाक्षिणात्यं यावत् प्रचारो लुप्तप्रायता च न सम्भवेदिति। तथाच महाप्रभावः खल्वालेग्जण्डरो दिग्विजयाय यदेदं भारतं प्रविष्टः (३२७ खी० पू०), तत्पूर्व मेव प्रणीतं महाभाष्य मिति। अत एव दिग्विजयिना तेन ग्रीक्-न्टपतिना कृतः साङ्कलनगरध्वंसो नाव-गतो महाभाष्यकारस्यैतस्य पतञ्जलेः। सति ह्यवगते "सङ्कलादिभ्यश्च (पा० ४.२.७५.)"–इति सूत्रेऽवश्य मेवोच्येत 'सङ्कलेन निर्वृत्तः साङ्कलो जन-पद इदानीं ध्वस्तः'–इति; कस्य हि नाम ग्रन्थकारस्य शताब्दवृत्तं किञ्चिदधिकशताब्दवृत्तं वा जनपदध्वंसनविवरण मपि न श्रुतं स्यात्? नापि स्मृतिपथ मारोहेत्? अथवा सङ्कलेन निर्वृत्तः साङ्कलो जनपदः आसीदित्येव मप्याशङ्केतैव।

यद्युच्येत इरावत्याः पश्चिमोपतटस्थितं शाकल मेव नगर मासीत् पुरा साङ्कल मिति प्रसिद्धम्, तदेव ग्रीकन्टपतिना विध्वस्त मपि पुनः कालात्

प्रादुर्भूतं, चैनिकपरिव्राजकेन ह्योयेन्थसाङ्गेनापि (६२९—६४५ खी० प०) दृष्ट मिति ह्योयेन्थसाङ्गतो बहुपूर्वजस्य भाष्यकारस्य न तत्र ध्वंसनकथनावसरो नापि सन्देहावसर इति। तत्र ब्रूमः;—शाकलसाङ्कलयोरुभयोरेव पाणिनीये प्रस्थाने पृथगवस्थानात् नैवास्ति तादृशकथनावसरः। किञ्च तेन हि दिग्विजयिना इरावतीं समुत्तीर्य्यैव इरावतीपूर्वोपतटस्थ मराजकप्रायं साङ्कलं विध्वस्त मित्येव मेवैतिहासिकम्*; चैनिकपरिव्राजकस्य ह्योयेन्थसाङ्गस्य निर्देशतस्त्ववगम्यते तत्तीर्थयात्राकाले शाकलं नाम नगरं त्विरावत्याः पश्चिमोपतटे एव स्थित मिति। तथाच नामभेदात् संस्थानभेदाच्चानयोः पार्थक्यं सुव्यज्यत एव। तदिदमवश्य मेव स्वीकार्यम्,— पाणिनिकाले योऽसौ साङ्कलो नामासीत् कश्चन महाजनपदः पूर्वोपतटस्थ एवेरावत्याः, स एव कालात् श्रीभ्रष्टः श्रीमता दिग्विजयिना तेन ध्वस्तश्च; शाकल मिति तु तस्माद् विभिन्न मेव स्थान मिरावत्याः पश्चिमोपतटे चिरात् स्थितम्, तदेव दृष्ट्वा यथावद् वर्णितं तीर्थयात्रागतेन तेन चैनिकपरिव्राजकेनेति। अपि तेन हि चैनिकपरिव्राजकेन यस्य शाकलस्य नगरत्वं वर्णितम्, तस्यैव "शाकलं नाम वाहीकग्रामः (४ अ० २ पा० २ आ०)"—इति ग्रामत्वेन व्यपदेशो दृश्यते महाभाष्ये; ततश्च ज्ञायते,— इह चैनिकपरिव्राजकागमनसमये तस्य स्थितं नगरत्वम्, ततः पुरा भाष्यकारसमये तु ग्रामत्व मेवासीत्तस्येति; ग्राम एव हि नगरत्व माप्तुं युज्यत एव क्रमोन्नत्येति। एवञ्चेह चैनिकपरिव्राजकागमनात् बहुपूर्वम्, तस्य हि ग्रीक्-नरपतेर्विजयागमनाच्च पूर्व मेव सुतरां खीष्टजन्मतः सार्द्धत्रिशतवर्षतोऽपि प्राक् प्रणीतं पातञ्जलं महाभाष्य मिति चावाप्यते।

अन्यच्च; आसन् पुरा केचन मालवाः क्षुद्रकाश्च ('माली', 'अक्सिड्रक') पार्वत्या आयुधजीविनः; दिग्विजयायागतेन हि तेन ग्रीक्नरपतिना

---

* Indian Antiquary, Vol. I. P. 21—23.

प्रायो निर्मूलिता एव त इति च प्रवदन्त्यैवैतिहासिकाः* ; परं पातञ्जले तु महाभाष्ये ऽसकृदुक्तं दृश्यते— "एकाकिभिः क्षुद्रकैः जितम् (१अ० १पा० ५ आ० ; ५ अ० ३ पा० १ आ०)"–इति । तदेतद् विचारयन्तु धीमन्तः,—यदि हि नाम भाष्यकृज्जन्मतः पुरैव मालव्यक्षुद्रकजातयो दिग्विजयिना तेनालेग्जण्डरेण विजिता विनष्टाश्च स्युस्तर्हि तेषां विजयित्वोल्लेखस्तु दूरे आस्तां मस्तित्वोल्लेख एव कथङ्कारङ्कृतः स्यादिति ? तदेतदपि मान मिहालेग्जण्डरागमनादपि प्राक्तनत्वेऽस्य भाष्यकारस्येति ।

कियत्कालकृतं तत् प्राक्तनत्वम् ? अत्र ब्रूमः ;—अस्तीह पातञ्जले महाभाष्ये पाटलीपुत्रनामकीर्त्तन मनेकत्रैव । तथाहि— "साङ्काश्यकेभ्यः पाटलीपुत्रका आढ्यतराः (१ अ० २ पा० १ आ० )"—इति, पुनस्तत्रैव "साङ्काश्यकेभ्यः पाटलीपुत्रका अभिरूपतराः (१अ० ४पा० ३आ०)"–इति च ; एवमादयो द्रष्टव्याः । महावंशनामकस्य बौद्धग्रन्थस्य द्वितीयपरिच्छेद-पर्यालोचनयैतच्च स्थिरीभूत मेव बौद्धधर्म्मस्य सुप्रचारकः शाक्यमुनिः खल्वजातशत्रोः राज्याभिषेकादतीतेऽष्टमे वर्षे ( खी० पू० ५४३) निर्वाणं गत इति †। तस्यैवाजातशत्रोः पुत्रः पौत्रो वाभूत् उदयाश्व इति प्रसिद्धः । तेनैवोदयाश्वेन पाटलीपुत्रं नाम नगरं निर्म्मापित मिति च वायुपुराणादिभ्योऽवगम्यते । तथाहि–"स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयम् । गङ्गाया दक्षिणे कोणे चतुर्थेऽब्दे करिष्यति"–इति‡। त्रिकाण्डशेष-हेमचन्द्रीयाभिधानादिभ्यश्चावगतम्,— पुष्पपुरं कुसुमपुरञ्च तस्यैव नगरस्य नामान्तर मिति । तदेवं शाक्यबुद्धनिर्वाणतोऽन्यूनपञ्चाशद्वर्षानन्तर मेव प्रादुर्भूतं पाटलीपुत्रं नाम समृद्धं नगर मिति च वक्तुं शक्यत एव ; महाभाष्यं तु तत उत्तर मेव प्रणीत मिति ।

किञ्चास्य पतञ्जलेः शाक्यबुद्धपरभवत्वनिर्णयेऽपरश्च हेतुरयम् ;—अस्ति

* Indian Antiquary. Vol. I. P. 21—23.

† Turnour's 'महावंश' Appendix, P. IX.

‡ The Pilgrimage of Fa Hian, Calcutta, 1848. PP. 259, 260.

सूत्रम् "इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते (पा० ५. ३. १४.)"–इति, अनेन च तसिलादयो विधीयन्ते; ते खलु भाष्यकृता भवदादिभिर्योगे एवेष्टाः; भवदादिषु च 'देवानाम्प्रियः'–इत्येतदपि समस्तं पदं पठितम्। दृश्यते च बौद्धग्रन्थे बौद्धानां 'देवानाम्प्रियः'–इति प्रशंसाख्यानम्। अतो ज्ञायत एवास्य भाष्यकारस्य शाक्यबुद्धजन्मपरभवत्वम्। तथैवास्ति "षष्ठ्या आक्रोशे (६.३.२१.)"–इति पाणिनिसूत्रम्। अत्र च सन्ति कात्यायनकृतानि कतिचिद् वार्त्तिकानि; तेषु चैकम् "देवानाम्प्रिय इति च मूर्खे"–इति। भाष्यकारस्तु तत्र 'मूर्खे'–इत्यंशं परित्यज्यैवाब्रवीत् 'देवानाम्प्रिय इति चोपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यम्"–इति। तथाचेद मपि सुव्यक्तम्,—कात्यायनकाले मूर्खाभिधान मेवासीत् देवानाम्प्रिय इति; ततोऽतीते बहुतिथे बौद्धमान्याभिधान मभूत्तदेव; तत्कालज एवैष पतञ्जलिः सामयिकव्यवहारानुरोधत एव विससर्ज ततो वार्त्तिकात् 'मूर्खे'–इति। वस्तुतो यथेह भारते महम्मदीयराज्यस्थापनात् प्रागप्यपरदेशे हिन्दुरिति व्यवहार आसीदेव अधार्मिकेषु; तत उत्तरं सैव समाख्या तदाक्रोशकृतोपचरितैवास्मासु च; ततो वय मपि "हीनञ्च दूषयत्यस्मात् हिन्दुः"–इति (मेरुतन्त्रे) व्युत्पादन मभिमत्यात्मनो हिन्दुनामकथनेऽपि गौरव मेव मन्यामहे; तथैव पुरा खलु पाणिनिकाले 'देवानां प्रियः'–इति पदद्वय मसमस्त मेवासीद् व्यवहार्यम्; एतेन चासमस्तपदद्वयेन यज्ञीयपशोरेव बोधश्च भवति स्म; तत उत्तरं कात्यायनकाले मूर्खे एव तत् समस्त मेकपदीभूतं पशुतुल्यताव्यञ्जकं व्यपदिष्टम्; ततोऽनन्तरं बौद्धानां मूर्खत्व मेवाभिमन्वानैरार्यैः प्रयुक्तं तत् तेषु; काले तदेव पदं प्रशंसावचन मिति कृत्वा गृहीतं स्वस्वनामसु तैर्बौद्धैरिति तदानीं तात्कालिकव्यवहारानुरोधत एव परित्यक्तो वार्त्तिकीयो 'मूर्खे'—इत्यंशो भाष्यकृतेति। एतावता तु सामान्यतः खीष्टजन्मतः सार्द्धत्रिशतवर्षपूर्वम्, शाक्यबुद्धनिर्वाणतस्त्वान्यूनपञ्चाशद्वर्षोत्तरम् (खी० पू० ३५०—५००) प्रणीत मेतत् पातञ्जलं महाभाष्य मित्युपलभ्यते।

परन्त्वत्रापि किञ्चिद् विशेषोऽस्ति द्रष्टव्यः। महावंशे चैतच्च लिखित मस्ति,—जीवत्येव शाक्यमुनौ शोणतीरे पाटलीनामग्रामे अजातशत्रोः आज्ञया दुर्गस्यैकस्य निर्म्माण मारब्धम्, तद् दृष्ट्वा कथिता चैषा भविष्यद्वाणी तेनैव शाक्यमुनिना,— "काले एतदेव भविष्यति प्रधानं नगरम्"—इति। तथाच स एव ग्रामो नगरत्व मुपगत इति प्रथमं तावत् शोणतीरस्थं शोणसङ्गमस्थं वासीत् पाटलीपुत्रम्; ततः पश्चात् कालचक्रपरिभ्रमण-वशात् गङ्गातटे परिशोभित मित्यनुमीयतेऽस्माभिः। यदा तु गङ्गातीरे, तदैवाभूद् वायुपुराणम् (ङौ ए०); तात्कालिक मेव च वर्णनं दृश्यते चन्द्रगुप्तसमसामयिके मुद्राराक्षसे,—"अय मेव सुगाङ्गप्रासादशिखरगतेन देवेनावलोकित मप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवं कुसुमपुरम् (३अ०)"—इति। गङ्गातीरस्थ मेव तत् पाटलीपुत्रं त्वद्यापि दृश्यते। हितोपदेशादिषु अनतिप्राचीनतमग्रन्थेषु च प्रायस्तथैव वर्ण्यते,—"अस्ति भागीरथीतीरे पाटलीपुत्रं नामधेयं नगरम्"—इत्यादि। परं यदा तु शोणतीरे, शोण-गङ्गासङ्गमोपतटे वा स्थितम् पाटलीपुत्रम्, तदैव जातोऽयं गोनर्द्दे पत-ञ्जलिः; अत एव दृश्यते ह्यत्र महाभाष्ये "अनुशोणं पाटलीपुत्रम् (२अ० १पा० २आ०)"—इति; न त्वनुगङ्गम्। ततश्च वायुपुराणमुद्राराक्षसादिवर्णितपाटलीपुत्रात् प्राचीनम् महाभाष्यीयं पाटलीपुत्त्र मिति स्पष्टम्। तदेवं पाटलीपुत्त्रस्यादिमावस्थाया मेवेदं भाष्यं प्रणीत मिति यस्या मेव शताब्द्यां शाक्यबुद्धो निर्वाणं गतः, तच्छताब्द्या मेव पतञ्ज-लिश्च सञ्जात इत्यपि वक्तुं शक्नुयामैव।

वस्तुतोऽयं भाष्यकारः, शाक्यमुनेर्बुद्धात् न बह्वर्वाचीनः; जीवति हि पत-ञ्जलौ नाभवत् शाक्यमतप्रचारः समन्तात्; सुप्रचरिते हि तत्र बौद्धसम्मतो निर्वाणार्थोऽपि कथं न ज्ञात आसीत् पतञ्जलेः? ज्ञाते च तत्र "निर्वाणो-ऽवाते (पा० ८.२.५०.)"—इति सूत्रस्य भाष्ये तद्विषयकविचारोऽपि कथं न दृश्यते? सति हि तदानीं शाक्यमतप्रचारप्राबल्येऽवश्य मेव तत्र तद्विषय-कोऽपि विचारो दृश्येतैव। तादृशप्राबल्याभावस्य चाल्पदिनप्रसरतैव

निदान मनुमीयते। तदेवं कालाशोकप्रतात् द्वितीयमहासङ्गमात् पुरैवेदं महाभाष्यं प्रकाशित मित्यप्युक्तं न दोषाय। स च द्वितीय-महासङ्गमो बौद्धानां ननु खीष्टजन्मतः चतुःशताब्द्या अपि प्रागभूदिति च महावंश-ग्रन्थीयद्वादशपरिच्छेदालोचनात् निर्णीत मेव*। सिद्ध मित्थं खीष्टजन्मतो ऽन्यूनसार्द्धचतुःशताब्दीपूर्वम् (४५० खी० पू०) कलेश्च सप्तविंशशताब्द्यां प्रणीतं पातञ्जलं महाभाष्य मिति।

अथ ये चात्र वादिनो विप्रवदन्ते, तानपीह किञ्चित् प्रतिबोधयामः स्वोपलब्ध्यनुसारतः ; न चेहास्माकं हठकारिता जिगीषा वा।

(क) तत्र केचित्त्वाहुः—"सभाराजाऽमनुष्यपूर्वा (पा० २.४.२३)"—इति सूत्रीयभाष्ये "तद्विशेषणानाञ्च न भवति। पुष्यमित्रसभा ; चन्द्रगुप्तसभा"—इत्युक्तं यतो दृश्यते, ततो गम्यत एवैतत्,—मगधराजविशेषः पुष्यमित्रः, तद्वंशपूर्वभवश्चन्द्रगुप्तश्चासीदेव पतञ्जलेर्ज्ञानविषय इति ; तस्माच्चास्य पतञ्जलेः चन्द्रगुप्तपरभवत्वविचारस्तु दूरे आस्ताम्, तद्वंशपरजात् पुष्यमित्रादप्यव-रजत्वं सम्पद्यत एवेति। अत्र वदामः ;—पुष्यमित्रराज्यन्तु (खी० पू० १७८–१४२) द्विचत्वारिंशदधिकशतवर्षपूर्वं वृत्तं खीष्टजन्मत इति तैरेव निरूपितम्†; अभिमन्युराजाज्ञयैव लोपदशाग्रस्तं भाष्यं पुनरुज्जीवितं चन्द्राचार्यादिभिरिति च सर्ववादिसम्मतम् ; तस्याभिमन्योः राज्यकालश्च खीष्टजन्मतो ऽष्टाधिकशतवर्षपूर्व मित्यपि बोथलिङ्कादिसम्मत्या निरू-पित मेव (ङ पृ०)। तत् कथयन्तु भवन्त एव,—न्यूनाधिकचतु-स्त्रिंशदब्देष्वेव किं मेतादृशस्य महाग्रन्थस्य तदानीन्तनीये कान्तार-पूर्णे भारते ह्यार्यावर्त्तीयप्राच्यप्रदेशात् दाक्षिणात्यं यावत् सुप्रचलनं कालाल्लोपदशाग्रस्तत्वञ्च सम्भवेत् किमु ? येषां सम्भवेत् सम्भवतु नाम ! अस्माकन्तु नायं विश्वासविषयः। अस्मन्मते तु चन्द्रगुप्तः पुष्यमित्रश्चेमा-

* Turner's 'महावंश' p. 71.

† Wilson's Vishnupurana, Vol. IV. 190,

वुभावेव ताद्दृशनामराजानौ भाष्यकारेण कल्पितौ; सन्त्येवैवं हि देवदत्त-यज्ञदत्त-विष्णुमित्रादयो बहव एव व्यक्तयो वैयाकरणादिभिः कल्पिताः। महाभाष्ये दृष्टैव च तथाविधं नामकरणं खलपुत्रस्य कृतं तदुत्तरं तत्तत्पित्रेति च सम्भवपर मेव। अन्यथा हि 'चन्द्रगुप्तसभा'–इति प्रथमं प्रत्युदाहृत्यैव तत उच्येत पुष्यमित्रसभेति, तयोस्तथैवपौर्वापर्य्यात् * ; न हि प्रसिद्धपौर्वापर्य-क्रमोल्लङ्घन मुचितं ताद्दृशस्याशेषशेमुषीसम्पन्नस्य महाभाष्यकारस्येति। किञ्च चन्द्रगुप्तकाले तु पाटलीपुत्रं नगर मनुगङ्ग मेव वर्णितं मुद्राराक्षसादौ (डू॰ ए॰), ततोऽद्यापि तथैव ; तदत्र विचार्यता मिद मपि,—"यदि नाम चन्द्रगुप्तराज्यकाले पुष्यमित्रराज्यकाले वा महाभाष्यं प्रणीतं स्यात्, तर्हि कथन्नाम तत्र "अनुशोणं पाटलीपुत्रम्"–इति ( डू ए॰ ) दृश्येतेति ? अस्मन्मते तु चन्द्रगुप्तराज्यकालात्पूर्वन्त्वासीदेव पाटलीपुत्र मनुशोण मित्युक्त मतो युक्ततरं चैतत् चन्द्रगुप्तादपि प्राचीनत्वं भगवतः पतञ्जलेः किमु पुष्यमित्रादिति।

(ख) यदप्युच्यते "वर्त्तमाने लट् ( पा॰ ३. २. १२३. )"–इति–सूत्रीयभाष्ये "इह पुष्यमित्रं याजयामः"–इत्युत्तमपुरुषप्रयोगात् पतञ्जलेः पुष्यमित्रार्त्विज्य मपि स्फुटम्, तदलं तत्कालिकत्वातत्कालिकत्वविचारेणेतीति ; तदपि न विचारसहम्। यद्येव मुत्तमप्रयोगदर्शनादेव तस्य याजकत्व मङ्गीक्रियेत, तर्हि तत्रैव 'इह वसामः'–इतिप्रयोगदर्शनात् तस्य पाटलीपुत्र-वासित्व मप्यङ्गीकरणीयं भवेत्। न च पुष्यमित्रयागानुरोधेनैव तदानीं तस्य तत्र वासस्यासीदित्येतीष्ट मेवेति वाच्यम्; सति हि तस्य ताद्दृशवक्तव्याभिमते तिष्ठाम इत्येव मेव क्रिया प्रयुज्येत, न तु वसाम इति; गोनर्द्दवासित्वात्तस्य। किञ्च तत्रैव "इहाधीमहे"–इत्यप्युक्त मस्ति ; तत् किं तदानी मपि पतञ्जलिः तत्र पाटलीपुत्रेऽध्ययनार्थं स्थितः? गुरुमुखादर्थग्रहण मेव ह्यध्ययन मार्याचार्य-सम्मतम्; तत् तदानीं तत्र पतञ्जलेर्न कथ मपि सम्भाव्यते केनचिदपि ;

* S. W. Jone's 'Chronology of the Hindus' in Asiatic Dissertation Vol. I. p. 315; and As. Res. Vol. IX. p. 96.

तथाचावश्य मेव वक्तव्यम्,— एवमादिषूत्तमपदप्रयोगदर्शनं न तु पतञ्जलेः स्वस्य तद्व्यापाराश्रयत्वं गमयति ; अपि तु वैयाकरणाना मुदाहरणप्रत्युदाहरणप्रदर्शनायैवं प्रयोगास्त्ववश्य मेव कल्पनीयाः सदैवेति । तदेवं यथैवोक्तम् "इह वसामः"—इति, यथैव च "इह अधीमहे"—इति, तथैव "इह पुष्यमित्रं याजयामः"—इति च ; न च तेभ्यः कि मप्यैतिहासिकं तथ्यं लभ्य मस्ति । वस्तुतः पतञ्जलिर्दृष्टपाटलीपुत्त्र इति वक्तुं शक्यत एव, परं पाटलीपुत्त्रस्थ एवेदं भाष्यं व्यरचयदिति तु न कदापि वक्तुं युज्यते ; यतो भाषित मेतच्च तेनैव— "यथा देवदत्त इह भूत्वा पाटलीपुत्रे भवति, सा नूनं क्रिया (१ अ० ३ पा० १ आ०)"—इति, पुनस्तत्रैव किञ्चिदग्रे—"स इहस्थः पाटलीपुत्त्रस्थं देवदत्त मुपदिशति,— अङ्गदी कुण्डली व्यूढोरस्को वृत्तबाहुर्लोहिताक्षस्तुङ्गनासिको विचित्राभरण ईदृशो देवदत्त इति (१ अ० ३ पा० १ आ० )"—इति च ; एवमादिप्रयोगदर्शनाच्च कः खलु प्रज्ञावान् मनसापि शङ्कितुं समर्थः पाटलीपुत्त्रनगरे स्थित एव पतञ्जलिः प्रणिनायैतद्भाष्य मिति । किञ्च प्रदर्शितयोरुदाहरणयोर्यथा किल देवदत्तो भाष्यकृत्कल्पित एव जनः, ततः प्रख्यातास्त्वाद्यापि दृश्यन्त एव बहवो देवदत्ताः ; यथा च "पश्य देवदत्त कष्टं श्रितो विष्णुमित्रे गुरुकुलम् (२ अ० १ पा० १ आ०)"—इत्यत्र च देवदत्त—विष्णुमित्रौ कल्पितौ, तथैव तत्र पुष्यमित्र—चन्द्रगुप्तावित्यपीत्यत्र च नास्त्येव सन्देहलेशोऽपीति ।

प्रतिपादितञ्च पुरस्तात्,—अद्यप्रचलितमहाभारतात् पूर्वजत्वं त्वेतन्महाभाष्यस्य (६ पृ०) ; तस्माच्चैतस्य खीष्टजन्मतो द्विशताब्दीपूर्वोद्भूतत्वन्तु पाश्चात्यैरपि स्वीकार्य्यम् ; महाभारतस्यास्य हि खीष्टजन्मतो द्विशताब्दीपूर्वप्रणीतत्वे सर्वेषा मेव तेषां मतैक्यात्* । पुष्पमित्रस्य राज्यारम्भकालस्तु तैः खीष्टजन्मतः शताब्दीपूर्वं मित्येव निर्णीतम् ; तथाच स्वकृतसिद्धान्तव्याकोपभियापि तेषां स्वीकार्यं मेवास्य पतञ्जलेः तत्पुष्पमित्त्रतोऽति-

---

* W. W. Hunter's Brief History of the Indian People, P. 59.

पूर्वजत्वम्, तथा तादृशोदाहरणे श्रुतस्य तस्य कल्पितव्यक्तित्वञ्च । स्वीकृते त्वेवं तत्तुल्यतया 'चन्द्रगुप्तसभा'–इत्यत्र चोदाहरणे चन्द्रगुप्तेत्याख्यव्यक्तेरपि भाष्यकृत्स्वकपोलकल्पितत्वं सुवच मेवेत्यल मतिजल्पनेनेति ।

(ग) अस्ति "अनद्यने लङ् (पा० ३. २. १११.)"–इत्येकं सूत्रम् । तद्भाष्ये च वार्त्तिकोदाहरणतया द्वे वाक्येऽवलोक्येते,—"अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकान्"–इति । अत्र कश्चित् धीमान् माध्यमिकानिति नागार्ज्जुनमतानुगतबौद्धसम्प्रदायविशेषस्थितानेव मत्वा पतञ्जलिकालनिर्णये यतितवान्, तदपि भ्रमसङ्कुल मिवैवाभाति ; राजतरङ्गिणी-पर्यालोचनया हि स्फुट मेवावगम्यते नागार्जुनोऽसावभिमन्युसमकालिक एवेति । तथाहि–"अथ निष्कण्टको राजा कण्टकोत्साग्रहारदः । अभीर्बभूवाभिमन्युः शतमन्युरिवापरः । स्वनामाङ्कशशाङ्काङ्कशेखरं विरचय्य सः । परार्द्ध्यविभवं श्रीमानभिमन्युपुरं व्यधात् । चन्द्राचार्यादिभिः * * * व्याकरणं कृतम् । तस्मिन्नवसरे बौद्धा देशे प्रबलतां ययुः । नागार्जुनेन सुधिया बोधिसत्त्वेन पालिताः । ते वादिनः पराजित्य वादेन निखिलान् बुधान् । क्रियां नीलपुराणोक्ता मच्छिन्दन्नागमद्विषः ( रा० त० १. १७४–१७८. )" –इति । अभिमन्युसमये एव च चन्द्राचार्यादिभिर्बङ्कन्वेषणतो ह्येकं महाभाष्यपुस्तकं दाक्षिणात्यादानीत मिति तु सर्ववादिसम्मत मेवेत्युक्तम् ( घौ पृ० ) । तत्कथ मभिमन्युतो बङ्कग्रजस्य पतञ्जलेः किलाभिमन्युसमकालोत्पन्नमाध्यमिकज्ञानसम्भवो यतश्च तादृशानां माध्यमिकाना मवरोधदर्शन मपि तस्य सम्भाव्येत नामेति सुधीभिरेव विभाव्यताम् ।

अस्मन्मते त्विह भाष्ये माध्यमिकशब्दात् मध्यदेशप्रभवा एव ग्रहणीयाः । मध्यदेशस्तु मन्वादौ परिभाषित एव,—"हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग् विनशनादपि । प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः (२. २१.)"–इति । पातञ्जलेश्चैतन्मनूत्तरभवत्वं पुर एव प्रतिपादितम् (घै पृ०) ; तथाचैतन्मनूक्तमध्यमदेशभवाना मेव माध्यमिकत्वं तदभिमतं सम्भाव्यते । बृहत्संहितायाः समालोचनाच्च मध्यदेशजनामपरतयापि भवन्ति माध्यमिका

इति बुध्यते। तथाहि—"भद्रारिमेदमाण्डव्यसाल्वनीपोज्जिहानसङ्ख्याताः। मरुवत्सघोषयामुनसारस्वतमाध्यमिकाः (१४. २.)"—इति। वस्तुतो यवनावरोधानुसारत एव भाष्यकालनिर्णयस्तु सर्वथा असम्भव एव; भारते हि चिरादेव विद्यन्ते यवनोत्पाताः। महाभारतपाठादवगम्यत एव यौधिष्ठिरीयेऽपि काले क्वचित्क्वचित् यवनप्राबल्यसंवादः, हरिवंशपाठात् जरासिन्धुकालेऽपि यवनराजस्य कालयवनाभिधस्यातिबलत्वं विज्ञायत एव*। एव मन्यत्रान्यत्रापि भारते यवनोत्पातवृत्तान्ता बहव एव वर्णिता दृश्यन्ते; तत्र ग्रीक्भूपत्यादीना मपीह पदार्पण मसकृदेवाभूत्। तदेवं यवनावरोधानुसारतो भाष्यरचनाकालनिर्णये प्रवर्त्तनं नूनं दैवविड़म्बन मिति न तदालोचनेऽप्यस्मन्मतिः प्रसरतीति दिक्।

(च) यश्च कश्चित् "तथाच सूत्र्यते हि भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन"—इति षड्गुरुशिष्योक्तं दृष्ट्वैव पाणिनिसमकालिकत्वं पतञ्जलेः स्वीकर्त्तु मिष्टे, पतञ्जलेः पिङ्गल इति नामान्तरश्रवणात्। तस्य खल्वनुत्तमधियः प्रशंसावादाः कथन्नु सम्भवेयुरेकमुखेन? यतोऽनुद्भूतपूर्व मेवैतत्तेन निर्णीतं हिमवद्विन्ध्ययोर्मिलन मिवातीव चित्रम्! पाणिनि—पतञ्जल्योः प्रायोऽष्टादशशताब्द्यान्तरितत्वावगमात्। अत एव भगवता पतञ्जलिना क्वचित् क्वचित् पाणिनि—काले व्यवहृतं लौकिकं किञ्चिद् बोधयितुं 'पुराकल्पे' —इति तदुल्लेखः कृतः। तथाहि—"पुराकल्पे एतदासीत्— * * * शब्दा उपदिश्यन्ते * * * एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्य आचार्य इदं शास्त्र मन्वाचष्टे (१ अ० १ पा० १ आ०)"—इति, "पुराकल्पे एतदासीत्—षोड़शमाषाः कार्षापणं षोड़शपलाश्च माषशंवद्यः (१ अ० २ पा० ३ आ०)" —इति चैवमादि। यद्यपि पाणिन्यनुजस्य पिङ्गलः, महाभाष्यकारस्य च नामान्तरं पिङ्गल इति भवितु मर्हतीति सत्यम्; पर मनयोर्न चैक्यं स्वीकुर्मो वयम्; अपि तु बहुभिन्नकालिकत्व मेव। वस्तुतोऽङ्कवर्णानुसारत

---

* हरिवंशे विष्णुपर्वणि १०९—११४ अध्याया द्रष्टव्याः

एव कृष्ण-पिङ्गल-गौर-श्यामेति नामानि तदानी माख्यातानि भवन्ति स्म। छान्दोग्येऽपि श्रूयते चैकत्र पिङ्गलः। तथाहि—"अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति (८. ६. १.)"-इत्यादि। न चात्रापि पिङ्गलनाम्नः पाणिन्यनुजस्यान्यस्य वा कस्यचित् मते इत्येव मर्थो गम्यते; 'शुक्लस्य'-इत्यादेः, 'आदित्यः पिङ्गलः'-इत्यादेश्चोत्तरत्र तत्रैव श्रवणात्, छान्दोग्यस्य तस्य पाणिनिपूर्वजत्वावधारणाच्च; दृश्यते हि छान्दोग्ये ऽनेकत्र शौनकः कापेयः (पा० ४. ३. ५, ६, ७.), प्रत्युदाहरणञ्च तदेव पद मनुभूयते "कपिबोधादाङ्गिरसे (४. १. १०७.)"-इति पाणिनिसूत्र-स्येतीह दिक्।

(ङ) अपि दृश्यते चात्र महाभाष्ये (पा०४. २. ६०.) आख्यायिकात्वेन वासवदत्ताया ग्रहणम्। "आख्यायिका—वासवदत्तिकः"-इति; सुबन्धुकृतै-वाख्यायिका सेति प्रसिद्धा; सुबन्धुश्च कविः रामायणस्य, महाभारतस्य, तत्परिशिष्टरूपस्य हरिवंशस्य, विक्रमादित्यस्य च परभव एव। तथाहि— "रामायणेनेव सुन्दरकाण्डचारुणा"-इति, 'भारतेनेव सुपर्वणा'-इति, 'हरिवंशैरिव पुष्करप्रादुर्भावरमणीयैः'-इति, 'सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कं कः। सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये"-इति च। तदेव मस्तु हि महाभाष्यस्य वासवदत्ता-पर-भवत्वस्वीकारपूर्वकं रामायणादिपरभवत्व मपि मन्तव्य मित्येव मपि कश्चित् शङ्कितु मुत्सहेतैव। पर मवश्यं तस्येमानि च त्रीणि वितर्काणि भवेयुः,—यदि हि स्वर्गते च विक्रमादित्ये स्थितस्य सुबन्धोः समनन्तर मेव प्रणीतं स्यात् पातञ्जलं नाम महाभाष्यम्, तर्हि काश्मीरराजाभिमन्युसमये विक्रमादित्यजन्ततो बहुपूर्व मपि चन्द्राचार्यादिभिः कथं तद्भाष्यपुस्तक मवाप्त मिति प्रथमम्। सर्वैरेव पुरातत्त्वानुसन्धित्सुभिर्महाभाष्यस्यास्य खीष्टजन्मपूर्वप्रणीतत्व मेकवाक्यतो निर्णीत मेव; स सर्वसिद्धान्तोऽपि कथं न व्याकुप्येतैवेति द्वितीयम्। अपि यदि हि नाम महाभाष्यकारः खल्विदानीं प्रचलितान्महाभारतादपि परभवः स्यात्, तर्हि महाभाष्येऽत्र

प्रदर्शितं वृद्धकुमार्य्युपाख्यानं (वृ० ए०) प्रचलितमहाभारतीयानुरूप मेव कथं न दृश्येतेति तृतीयम्।

अस्मन्मते तु कालान्तराच्चान्तराङ्गते तन्महाभाष्यपुस्तके सुबन्धुपरज एव कश्चित् तत्र 'वासवदत्तिकः' प्रभृत्यभिनिवेश्य तस्य नष्टाच्चरत्व मुद्धारेति। अत एव प्रवादोऽपि "यत्र लालायितः फणी"–इति।

महाभाष्यकृतो भगवतः पतञ्जलेः सुबन्ध्वादिबहुपूर्वभवत्वे, अपरा चैषोपपत्तिः समालोच्या,—यो हि नाम वासवदत्ताकृतः सुबन्धोरप्युत्तरभवः, तेन चावश्यं कालिदासस्य कवेरप्युत्तरभवेन भवितव्यम्; स्वीकृते च तथा कालिदासकृतान् प्रयोगानप्यवेक्ष्यावश्यं तत्र भाष्ये तथैवेष्टयः प्रणीता दृश्येरन्; न च तथा दृश्यन्ते, नापि तेषु भाष्यकृता कश्चन विचारः कृत इति पश्यामः; प्रत्युत सिद्धान्तकौमुद्यादौ तादृशप्रयोगाना मपप्रयोगत्व मेव निर्णीत मवलोक्यते। तथाहि—'अवेहि—इति वृद्धिरसाधुरेव'–इति (अ० पु०); किञ्च 'कथन्तर्हि शार्वरस्य तमसो निषिद्धये इति कालिदासः, अनुदितौषसरागा इति भारविः, समानकालीनम्, प्राक्कालीनम्,—इत्यादि च? अपभ्रंशा एवैते इति प्रामाणिकाः'–इति (तद्धि० वृ०)। अपर मप्यत्रेदं विवेच्यम्,—महाभाष्यप्रयुक्तानां पाणिन्यादिविरुद्धाना मपि प्रयोगानां साधुत्वं मन्यते; कालिदासादीनां तु तत्पूर्वजत्वे तत्तत्प्रयुक्तानां कथ मुच्यतेऽसाधुत्व मिति? यथा दृश्यत एव हि पाणिनीयधातुपाठविरुद्धः प्रयोगोऽसौ भाष्यकारस्य—"आदित्यस्याभिप्राये सज्जते"–इति। न चेदृशप्रयोगस्यासाधुत्व माशङ्कित मपि केनचित्; प्रत्युताह च कैयटः—"सज्जते इति, भाष्यकारवचनादात्मनेपदम् (३अ० १पा० २आ०)"–इति। तत उत्तर मिदानीं तु भागवतादावपि बहुत्रैव प्रयुक्तं दृश्यते 'सज्जते'–इति*; ततो वय मपि तथा प्रयोक्तुं सदैव

* "प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु"—इति भाग० पु० ४.१९.२५.। महाभारतीयभीष्मपर्वान्तर्गतगीतापर्वान्तिमाध्यायीयसप्तदशश्लोकव्याख्यानावसरे श्रीधरस्वामिनापि प्रयुक्तम् "यस्य बुद्धिर्न लिप्यते, दृष्टानिष्टबुद्ध्या कर्मसु न सज्जते"—इति।

सञ्जामहे एव । एवं "भाष्यकारस्तु लकत्यिटको मकत्यिटक इति रूपे इष्टापत्तिं कृत्वेदं सूत्रं प्रत्याचख्यौ"–इत्येवमादयश्चोक्ता दीक्षितादिभिः (वै० सि० कौ० अ० पु०)। अहो मतप्राबल्यं तस्य भगवतो व्याकरणेषु ! अस्ति सूत्रं पाणिनीयम्—"अवाद् ग्रः (१.३.५१.)"—इति, एतेन पाणिनिमते ऽनुभूयत एव 'अवगृणाते'–इत्येवमादीना मपि प्रयोगाणां साधुत्वम्; परं मत्र भाष्यकृता "गृणातिस्त्ववपूर्वो न प्रयुज्यत एव"–इत्युक्तम्; एतस्मादेव शासनादद्य 'अवगृणाते'–इत्येवमादीन् प्रयोक्तुं न क्षमते कश्चिदपि। तदेवं कालिदासादीना मपप्रयोगानवेक्ष्य तेषां साधुत्वाख्यापनाय पातञ्जले महाभाष्ये कस्याप्येकस्य यत्नस्यानुपलाभात्, पाणिन्यादिमतविरुद्धाना मपि भाष्योक्तानां प्रयोगाणां शिष्टगृहीतत्वोपलाभात्, पाणिनिमतसिद्धाना मपि प्रयोगाणां पतञ्जलिवारितानां व्यवहारादर्शनाच्चावश्य मेव महाभाष्यकारस्य भगवतः पतञ्जलेः किल कालिदासादितो बहुप्राचीनत्वं मन्तव्य मेवेति किं तस्य सुबन्धुपूर्वजत्वविचारेणेत्यलम् ।

अथ पतञ्जलिविषये ऽपर मपि किञ्चिद् समालोचयितव्य मस्ति। तथाहि —'अय मेव पतञ्जलिः वैद्यशास्त्रप्रणेतापि, योगशास्त्रप्रणेतापि'–इत्येवं प्रवादः सुप्रचलितः श्रूयत एव। पर मस्य नामैक्य मेव वीज मनुगच्छामो नान्यत् किञ्चनेत्यग्राह्य एवैषः प्रवादः। "योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन। योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि"–इत्येष श्लोकोऽपि तदनुगत एव। अपि वा वैद्यशास्त्रे आसीदस्य महाभाष्यकारस्यावगम इति तु प्रतीयते; इह हि भाष्ये बहुत्र तथाप्रयोगदर्शनात्। तथाहि—"वातिकम्, पैत्तिकम्, श्लैष्मिकम् ० —०सान्निपातिकम् (५ अ० १ पा० १ आ०)"–इति, "दधित्रपुसम्प्रत्यक्षो ज्वरः०—०। नड्वलोदकं पादरोगः०—०। आयुर्घृतम्०—०। (६ अ० १ पा० २ आ०)"–इति, "हितभोजन मारोग्यस्यादिः (६अ० ४ पा० ४ आ०)"–इत्यादि च। तदेवं कश्चित् वैद्यकभाष्यविशेषस्य कर्तृतां च पतञ्जलेरस्य स्वीकर्तुं मुत्सहेत चेत् स्वीकरोतु नाम, परं योग-

शास्त्रीयमूलसूत्रकर्त्तृत्वं तस्य नैव स्वीकार्यम्; न ह्यत्र क्वापि योगविषयकोदाहरणानि दृश्यन्ते, येन चास्य योगशास्त्रज्ञत्वस्यापि परिचय उपलभ्येत; नापि हि व्याकरणे वैद्यके वा मूलसूत्रकर्त्तृत्वं दृश्यतेऽपि तु भाष्यकर्त्तृत्व मेव; तथा च यदि नाम योगेऽप्यस्य किञ्चित् कृतित्वं स्वीकार्यं भवेत्तदपि तद्भाष्यविषये एव सम्भवो न कदापि तत्सूत्रांशे। तादृशं योगभाष्य मस्ति लुप्तं वेत्यन्यदेतत्। षड्गुरुशिष्यलेखोऽपि च तादृशप्रवादमूलक एव। हन्त! यदा हि तेनालेखि "यत्प्रणीतानि वाक्यानि भगवांस्तु पतञ्जलिः। व्याख्यत् * * *। योगाचार्यः स्वयं कर्त्ता योगशास्त्रनिदानयोः"—इति (ऋ० भा०)। तदेतन्न स्मृतं कि मस्ति व्यासकृतं भाष्यं तस्य योगशास्त्रस्येति। पाणिनिसूत्राणां भाष्यस्य कर्तुः पतञ्जलेः पाणिनिपरभवत्वे क्वास्ति वक्तव्यता;—"पाराशर्यशिलालिभ्याम् (पा०४.३.११०.)"—इति सूत्रदर्शनात् पाणिनेश्च पारशर्यव्यासपरजत्वं व्यज्यत एव। तदत्र कथयतु नाम नामैक्यश्रवणादेव व्यक्त्यभिन्नवादी भवान् योगशास्त्रं खलु पाणिनिपरभवञ्चेत् कथं तद्भाष्यकारत्व मुपपद्येत तत्पूर्वजस्य तस्य व्यासस्येति?

अस्मन्नये तु,—योगशास्त्रस्य पातञ्जलस्य भाष्यकारो व्यासः, भिक्षुसूत्रकृतो व्यासात् विभिन्नो बहुपरभवश्चेति; "भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् (पात० ३.२४.)"—इति सूत्रीयभाष्येऽनतिप्राचीनपुराणादिसम्मतभुवनवर्णनदर्शनात् तस्य अद्यप्रचलितमहाभारतकारादेरिवानतिप्राचीनत्वावगतेः, लिपेरार्षत्वानवगमादिभ्यश्च। एवं बभूव च कश्चिदपरः पतञ्जलिर्योगसूत्रकृत् दर्शनशास्त्राविर्भावकालिकः, पाणिनितोऽपि प्राचीनः। तथाच पातञ्जलं नाम योगशास्त्रं पाणिनितो बहु प्रागेव प्रणीतम्; प्राचीनतमे भिक्षुसूत्रेऽपि "एतेन योगः प्रत्युक्तः (२.१.३.)"—इत्येवमादिदर्शनात्। अत एव सम्पृचानुरुधा० (३.२.१४२.)"—इति पाणिनीयसूत्रेण पातञ्जलशास्त्रविहितयोगाभ्यासकारिण्येवार्थे साध्यते 'योगी'—पदम्; न हि पातञ्जलात् पुरातनं किमप्यस्ति आसीद्वा योगशास्त्रम्। अत एव च पतञ्जलिशब्दस्य व्यक्तिविशेष-

नामत्वादव्युत्पन्नप्रातिपदिकमिति पाणिनिना उपेक्षितस्यापि कात्यायनकृते "शकन्ध्वादिषु पररूपम् (पा० ६. १. ९४.)"—इति वार्त्तिके ग्रहणं लक्ष्यते ; शकन्ध्वादिगणपाठे दृश्यते हि "पतञ्जलिः"—इत्यपि। न चात्र किञ्चिदुक्तञ्च भगवता भाष्यकारेण ; गणपाठो हि येन केन चित् कृतः स्यात् पर मस्मान्महाभाष्यकारात् प्राचीनतरेणैव केनचित् कृत एवेत्यत्र च नास्ति सन्देहः ; अत एव "सिद्धन्तु रौढ्यादिषूपसङ्ख्यानात् । * * * । के पुन-रौढ्यादयः ? ये क्रौड्यादयः ( पा० ४. १. ७९.)"—इत्येवमाद्युक्तं सङ्गच्छते तत्र तस्येति ।

आदिमीमांसाचार्यात् काशकृत्स्नेश्चाप्ययं परभव एव, नास्त्यत्र संशयः। अत एवोक्त मिह—"काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी (४अ० १अ० १आ० पुनः ३पा० २आ०)"—इति । इह प्रोक्तत्वोल्लेखदर्शनादस्य च काशकृत्स्नेः पाणिनितो बहु पूर्वजत्व मपि ध्वन्यते ; तत्पूर्वजस्यैव हि तेन प्रोक्तत्वेन ग्रहणोपदेशात् । अद्यप्रचलितमीमांसाशास्त्रसूत्राणां कर्त्ता खलु जैमिनिस्तु पाणिनिसमकालिकः ; व्यासशिष्यत्वात्, वैशम्पायनादिवत् । अतो जैमिनेश्चार्वाचीनोऽयं पतञ्जलिरिति च सुवचम् ।

वेदान्तसूत्राणां प्रणेतुश्चायं परभवः। यदस्यैतत् सूत्रं पाणिनीयम्—"पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (४.३.११०.)"—इति, अत्र पारा-शर्यशब्देन वेदान्तसूत्रकृतो व्यासस्यैव बोधात् ; अद्य वेदान्तेतिप्रसिद्धाना मेव हि सूत्राणां पाणिनिकाले भिक्षुसूत्रेति व्यपदेश आसीत्, न चान्यत् किञ्चन भिक्षुसूत्रं नामेति। अत एव वेदान्तसूत्रभाष्यवार्त्तिककृत् बालकृष्णा-नन्दोऽपि सर्वेष्वधिकरणेषु भिक्षुसूत्रकृत मित्याद्युक्त्या पाराशर्यं व्यास मेव प्रणनाम विविधप्रकारेण वर्णयन्। तथाहि, आत्माधिकरणभाष्यवार्त्ति-कारम्भे (सू० ४. १. २.—'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' )—"पाराशर्यः प्रथयतु परं भाव मव्याहतं स्वम्, सूत्रे स्वीये सकलविदुषां मोदमूलस्वभावम्। शिष्यैर्विश्वैरपि परिवृतः पैलपूर्वैः प्रतीतैः, आचूड़ं मे सजलजलदाकारदायादमूर्त्तिः"—इति, तथाध्यक्षाधिकरणभाष्यवार्त्तिकारम्भे

(सू० ४. २. ३.—'सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः' )—"भिक्षुयोगकृतं व्यासं शङ्करश्च गुरुं परम्। स्मृत्वा व्याकुर्महेऽध्यक्षसूत्रभाष्यस्य वार्त्तिकम्"—इति। एवञ्च यान्यखिलसूत्राणि भिक्षुसूत्राणीति पाणिनिकाले प्रथितानि, तान्येवेदानीं ब्रह्मसूत्राणीति वेदान्तसूत्राणीति च कथ्यन्त इति स्फुटम्। सङ्ग्रहकारस्तु व्याड़िः पतञ्जलेरस्मात् पूर्वतन इति तु "सङ्ग्रहेऽस्त मुपागते (प्रौ ए०)"—इति वाक्यपदीयवचनादिभ्यश्च सिद्ध मेव; तस्मिन् व्याड़िकाले ऽप्यस्य वेदान्तदर्शनस्य ब्रह्मविद्येति प्रसिद्धिरासीत्। तथाहि विकृतिवल्ल्यारम्भे श्लोकित मेतद् स्वय मेव व्याड़िना,—"ब्रह्मविद्या-गुरुं श्रेष्ठं भारद्वाजं बृहस्पतिम् (१.३.)"—इति। तदेतस्य ग्रन्थस्य पातञ्जलात् प्राक्तनत्वस्य तु का कथा? व्याडितः, पाणिनितश्चापि प्राक्तनत्व मेवेति।

न्यायवैशेषिककाराभ्या मप्ययं पतञ्जलिः परभव एव। दृश्यत एव हि नैयायिकाद्यनुमानप्रणाल्यादिकं तत्कृते महाभाष्ये। तथाहि—"धूमं दृष्ट्वा अग्निरत्रेति गम्यते (२ अ० १ पा० १ आ० )"—इत्यादि। वैशेषिक-न्याय-कारयोः कणभक्षाक्षचरणयोश्च वेदान्तसूत्रकार-पाराशर्य-समकालिकत्व-मत्रैवानुपदं प्रतिपादयिष्यामः।

साङ्ख्याचार्यात् कपिलाचार्यं परभवः। अत एवात्रोक्तं दृश्यते कापिल-मतम्—"अथवा भवति वै कश्चित् जाग्रदपि वर्त्तमानं कालं नोपलभते। तद्यथा। वैयाकरणानां शाकटायनः रथमार्ग आसीनः शकटसार्थं यान्तं नोपलेभे। किं पुनः कारणं जाग्रदपि वर्त्तमानं कालं नोपलभते? मनसा संयुक्तानीन्द्रियाण्युपलब्धौ कारणानि भवन्ति, मनसोऽसान्निध्यात् (३ अ० २ पा० २ आ० )"—इति। अपरञ्च चैवम् "षड्भिः प्रकारैः सतां भावाना मनुपलब्धिर्भवति। अतिसन्निकर्षात्, अतिविप्रकर्षात्, मूर्त्यन्तरव्यवधानात्, तमसावृतत्वात्, इन्द्रियदौर्बल्यात्, अतिप्रमादादिति ( ४ अ० १ पा० १ आ०)"—इति। तदेवमादीनां दर्शनात् कापिलशास्त्रप्रचारात्परभवत्वं चास्य पतञ्जलेः सुव्यक्तम्। अपि वास्य कपिलपरभवत्वविचारस्तु दूरे आस्ताम्, तत्सम्प्रदायीयद्वितीयपुरुषादासुरेश्चायं पतञ्जलिर्बहुर्वाचीन एव;

एतत्पूर्वजेनापि हि वार्त्तिककारेण कात्यायनेन "आसुरेरुपसङ्ख्यानम् (पा० ४. १. १९.)"–इत्युक्तत्वात्। आसुरिर्हि साङ्ख्याचार्येषु द्वितीय इति दृश्यते। तथाह्युक्त मीश्वरकृष्णेन—"पुरुषार्थज्ञान मिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्। * * *। एतत् पवित्र मग्र्यं मुनिरासुरये ऽनुकम्पया प्रददौ-( सा० त० कौ० ६९, ७० )"–इति। 'परमर्षिणा कपिलेन'–इति च तत्र वाचस्पतिमिश्रकृता टीका। प्रवचनभाष्येऽप्युक्तम्—"आदिविद्वान् निर्माणचित्त मधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच ( १. २५. )"–इति।

पाशुपतदर्शनकाराच्चासौ भाष्यकारः कनीयान्। अत एव तत्कृतेऽत्र महाभाष्ये दृश्यते—"शिवभागवतः (५ अ० २ पा० १ आ०)"-इति पदम्। "भगवान् भक्तिरस्य भागवतः, शिवस्य भागवतः इति षष्ठीसमासः"–इति च तत्र व्याख्यातं कैयटेन। एव मिह "सौर्यभगवता उक्तम् ( ८ अ० २ पा० २ आ०)"–इति दर्शनाच्चावगम्यतेऽस्य पतञ्जलेः सौरसम्प्रदायारम्भाच्च परभवत्व मेव ; सौर–सौर्ययोर्न ह्येव भेदः। वस्तुतः सौरसम्प्रदायः खलु शैवसम्प्रदायादपि बहुपुरातन एवेति प्रामाणिकाः।

चार्वाकादिनास्तिकदर्शनशास्त्राणि तु बहुपुरातनान्येव न वेत्यत्र स्यात् विचार्यम्, परं नास्तिकभावः खलु पाणिनिकालेऽपि स्थित एव। अत एव स हि सूत्रयामास—"अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः (४. ४. ६०.)"–इति। मनुसंहितायाम पि नास्तिकशासनवचनानि सन्त्येव, तानि चानुपदं प्रदर्शयिष्यामः। पतञ्जलिनापि स्वस्य नास्तिकमतज्ञता प्रकाशितैव। तथाहि—"किञ्च भोः श्लोका अपि प्रमाणम्? किञ्चातः? यदि प्रमाणम्, अय मपि प्रमाणं भवितु मर्हति–"यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत्। पीतं न गमयेत् स्वर्गं किन्तु क्रतुगतं नयेत्'–इति। प्रमत्तगीत एषः। भवतो यस्त्वप्रमत्तगीतः तत् प्रमाणम् ( १ अ० १ पा० १ आ० )"–इति। 'यदुदुम्बरेति। अयं श्लोकः सौत्रामणीयागे सुरापानस्य दुष्टत्व मुद्भावयति। प्रमत्तगीत इति। प्रमादेन विप्रतिपन्नत्वेन गीत इत्यर्थः"—इति च

तत्र कैयटः। अस्मन्मते तु 'उदुम्बरवर्णानाम्' उदुम्बरकाष्ठनिर्मितानाम्, 'घटीनाम्' ग्रहेतिप्रसिद्धानां सोमपात्राणां 'यत् महत् मण्डलम्' शुक्र-मन्थ्यादिसमूह माध्वर्यवे प्रसिद्धम्, तत् 'पीतं' सत् पानकारिणं 'स्वर्गं न गमयेत्' 'किन्तु' 'ऋतुगतं' कर्म्मानुगतं श्रमकष्टादिक मेव 'नयेत्' प्रापयेत्। इत्येव तदर्थः। किञ्चेहत्यः प्रमत्तशब्दो नास्तिकपर एव भाष्यकाराभिप्रेतः।

काश्मीरेन्द्रात् जलूकाच्चाय मर्वाचीनः। यतो ह्युक्तम् "यत्तेन कृतं न च प्रोक्तम्—वाररुचं काव्यम्, जालूकाः श्लोकाः (४ अ० ३ पा० १ आ०)" —इति। एष च वररुचिः कात्यायन एव; स एव व्याकरणस्य वार्त्तिककारः; पतञ्जलेरस्य तत्परभवत्वे कोऽस्ति विचारः; परं जलूकेन राज्ञा कृताः श्लोका अप्यस्य महाभाष्यकारस्य पतञ्जलेरासीद् विदिता इतीत्थं ततोऽपि पराचीनत्वं व्यक्तम्।

वार्त्तिककार-कात्यायनात् परभवत्वन्त्वस्याविचारित मपि सिद्ध मेव, परं ततो बहुकालकृतावरजत्व मस्येत्यपि प्रतीयत इति तु प्रदर्शनीयम्। तथाहि पठितञ्चेदं वार्त्तिकम्, —"ढ-ग्रहणे सानुबन्धस्योपसङ्ख्यानम्"—(पा० ४. १. १५.)"—इति; "कथं स्त्रीनाम सभायां साध्वी स्यात्"—इत्युक्त्वा च (४ अ० १ पा० २ आ०) खण्डितं तद्वार्त्तिकम्। "यज्ञसभायां विदुषा मेव पुरुषाणां साधुत्वाधिकारादिति भावः"—इति च तत्राह तट्टीकाकारः कैयटः। तथाचेदं सुव्यक्त मेव कात्यायनकाले यज्ञसभादौ स्त्रीणां गमनं न दोषावह मासीदिति तेन पठितं तथा वार्त्तिकम्; पतञ्जलिसमये तु यज्ञसभादौ स्त्रीणां गमनं दोषावह मेवेति परिहृतं तदितीत्थं सिद्ध मेव वार्त्तिककाराद् बह्वर्वाचीनोऽयं पतञ्जलिरिति।

(मनुसंहिता) मनुसंहिता तु या खलु सूत्रनिबद्धा, सैवातिप्राचीना, मानवकल्पसूत्रादिभिः समानवयस्का, समानमाना च। महाभाष्ये (१अ० १पा० ७आ०) यदुक्तं "नैव ईश्वर आज्ञापयति, नापि धर्म्मसूत्रकाराः पठन्ति"—इति, तत्तादृशमन्वाद्यभिप्रायेणैव। इदानीं प्रचलितो मनुसंहितेति प्रसिद्धो ग्रन्थस्तु भृगुप्रोक्त इति भृगुसंहितेत्येव व्यवहार्यः; परं ज्योतिष-

शास्त्रे भृगुसंहितेति ग्रन्थविशेषस्य, इतोऽपि प्राचीनस्य दुष्टचरत्वात् न तथा व्यवहृतोऽयं लोकैः । एतस्य ह्युपक्रमे प्रत्यध्यायावसाने चास्य भृगुप्रोक्तत्वं स्पष्ट मेवेति न च तत्रास्ति प्रमाणप्रदर्शनीयतेति । तदुक्तं साङ्ख्यीयकौमुदीप्रभायां सप्रेश्वरेणैतत्,—"पञ्चशिखः सूत्रकारः आसुरिशिष्यः; कापिल मिति प्रसिद्धिस्तु सम्प्रदायप्रवृत्तेः; भृगुप्रोक्तसंहितायां मिव मनुसमाख्या" —इति ।

तस्यैतस्य मनुसंहितेतीदानीं प्रसिद्धस्य भृगुसंहिताग्रन्थस्य प्रणयनकाल-निर्णयस्तु सुदुष्कर एव ; सामान्यतस्तु एतन्मनुसंहिताकारः बौद्धधर्म्म-प्रचारकात् खलु शाक्यमुनेः, रामायणलेखकादादिकवेर्वाल्मीकाच्च प्राचीन-तमो वार्त्तिककारकात्यायनात्तु पराचीन इति वक्तुं शक्यत एव । यत-स्त्वत्र संहितायां महाभारते इवाहिंसाधर्म्मो विशेषतो नोपदिष्टः, न च बौद्धधर्म्मप्रकाशितनिर्वाणमुक्तिप्रसङ्गस्य, अत एवास्याः बौद्धधर्म्मप्रचारात् प्राचीनत्व मवगम्यते। बौद्धधर्मसुप्रचारोत्तरप्रकाशिते हि महाभारते ऽहिंसाधर्म्मो निर्वाणमोक्षस्योक्तः ।—"बहूनां यज्ञतपसा मेकार्थानां पिता-मह ! धर्म्मार्थं न सुखार्थार्थं कथं यज्ञः समाहितः"—इत्यादिः, अहिंसा सकलो धर्म्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः । सत्यस्तेऽहं प्रवक्ष्यामि यो धर्म्मः सत्यवादिनाम्"—इत्यन्तस्याध्यायो द्रष्टव्यः ( शा० प० २७१ अ० १–२० श्लो०) । अस्मिन्नध्याये यज्ञगतवधस्यापि दुष्कृतत्वं वधत्वञ्च वर्णितम् ; तदे-तन्महाभारतकारस्य बौद्धसंसर्गफल मेवावबुध्यते । मनौ तु–"मांस-स्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्ज्जने"—इत्यारभ्य त्रिंशच्छ्लोकेषु मांसस्य भक्षणवर्जने विहिते (५ अ० २६–५६ श्लो०) । तत्र वृथामांसभक्षणे प्रवृत्ति-श्चेत् भक्षयतु, निवृत्तिश्चेत् महाफल मित्येव प्रतिपादितम् (५६) । देव-पितृकृत्यादौ तु मांसभक्षणे न कोऽपि दोष उक्तः (३२) ; मधुपर्कादौ तु विहित मेव मांसभक्षणम् (४१), यज्ञादौ तु कृता हिंसा, अहिंसैवेत्यपि कथितम् । अत एव ब्रूमः,—अहिंसाविधेः प्रशंसनान्महाभारतस्य शाक्य-बुद्धपरजत्वम्, तथैव हिंसाविधेर्विधानाच्च मनोस्तत्पूर्वजत्व मपि । एव मेव

भीष्मपर्वणि—"कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्। अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् (२९अ० २६श्लो०)"—इत्येवमादि। मनौ तु प्रथमाध्याये (१०४–१०६) त्रिषु श्लोकेषु यानि फलान्युक्तानि, न तत्रास्ति निर्वाणं नाम; तत्रैव द्वादशाध्यायेऽपि "प्राप्यते ह्यमृतं ततः (८५)"—इति, "स्वाराज्य मधिगच्छति (९१)"—इति। "नैःश्रेयस मिदम् (१०७)"—इत्यादीनि तु दृश्यन्ते, परं न क्वापि बौद्धप्रचारितं निर्वाणपद मिति। तदेवं शाक्यस्य ज्ञानलाभात् पूर्व मेवेदं शास्त्र मिह प्रथित मित्यत्र नैव संशयः। शाक्यज्ञानलाभस्तु खी० पू० ५८८ वर्षेऽभूदिति निर्णीत मेवेति। न खलु कस्य चिदपि धर्म्मशास्त्रस्य शतवर्षान्यूनकाले एव भवेदभ्युदयः, नापि तन्न्यूनतो भवेत् प्रभावाल्पत्वम्, न च तत्प्रभावाल्पत्व मन्तरा अन्यधर्मे मतिर्भवति कस्यचिदपीत्यन्यधर्म्मशास्त्रोत्थानसम्भवः। अतः शाक्यमुनिकालादन्यूनशताब्दीद्वयपूर्व मेवेदं मानवं धर्मशास्त्रं समुत्पन्न मिति च सुतरां सम्पद्यते।

अपि नाम रामायणलिपिस्तु शाक्यमुनेर्जन्मतः पुरैवेति अध्यापक-लासेनादीना मपि सम्मतम्। तत्र मनुवचनोद्धृतिदर्शनात् मनुसंहितायास्तस्यास्तत्पूर्वकालिकत्व मपि व्यक्तम्। तथाहि तत्र किष्किन्धाकाण्डे—"श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ। गृहीतौ धर्म्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया। 'राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः। निर्म्मलाः स्वर्ग मायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥ शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात्प्रमुच्यते। राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् (१८. ३०, ३१, ३२.)"—इति। राजभिर्धृतदण्डास्त्वेत्यादी श्लोकौ तु मनुसंहिताया अष्टमाध्याये (३१६. ३१८.) दृश्येते एव। तदेव मपि प्रतीयते मनुसंहितायाः समुत्पत्तिर्नूनं शाक्यबुद्धजन्मतो बहुपूर्व मेवेति।

किञ्च H. H. उइल्सन्-महोदयस्य विचारतो ज्ञायत एवैतत्,—जलूकाख्यो नरपतिरासीत् खीष्टजन्मतः पूर्वं सप्तमशताब्द्या मिति; राजतरङ्गिणी-प्रथमतरङ्गदर्शनाच्चावगम्यते आसीत् स शैव इति। तथाहि—

"विजयेश्वरनन्दीशक्षेत्रज्येष्ठेशपूजने । तस्य सत्यगिरो राज्ञः प्रतिज्ञा सर्वदाऽभवत् (१३.)"–इति । तदेवं जलूककाले विजयेश्वरादिलिङ्गनामस्मरणात् ततः पूर्वं शैवधर्म्मः सुप्रचलित इत्यपि व्यक्तम् । एवं हि शैवधर्म्मप्रचारोऽवश्यमन्यूनाष्टशताब्दीतोऽपि पूर्वं मभवत् खीष्टजन्मतः इत्यप्युक्ते न कश्चिद्दोषो लक्ष्यते । मनुसंहिताकाले तु नैव शिवोपासनोद्भूता; सत्यां हि तस्यामवश्य मेव तत्र शिवपूजाप्रकारादिक मुपदिष्टं दृश्येतैव; नात्र तु क्वचित् प्रसङ्गतोऽपि शिवपूजाविधिराख्यातः; "मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम् । वाच्यग्निं मित्र मुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् (१२. १२१.)"–इति दर्शनात् बलाधिष्ठातृत्वं हरस्येति मनुसंहिताकारसम्मत मित्येव बुध्यते, तथा चन्द्रादेश्च मनोऽधिष्ठातृत्वादिकम्; परं नेत्थं शिव-लिङ्गस्थापनपूजनादीनि तत्समये प्रचलितानीति ज्ञायन्ते । तथाच शैवधर्मा-विर्भावाच्च प्रागेव प्रणीतैषा संहिता भृगुणा मनुप्रणीतधर्म्मसूत्रानुसारत इति स्फुटम् । एतावता हि कलेरत्यधिकत्रयोविंशशताब्द्याम्, खीष्टजन्मतोऽन्यूननवमशताब्द्या मेतस्याः स्मृतिसंहितायाः सम्पन्नं प्रणयन मिति लभ्यत एव ।

यद्युच्येत,— मनुसंहितायाम् "पाषण्डिनो विकर्म्मस्थान् (४अ० ३० श्लो०)"–इत्यस्य व्याख्यानावसरेऽवदत्तट्टीकाकारः कुल्लूकः—"पाषण्डिनो वेदबाह्यव्रतलिङ्गधारिणः शाक्यभिक्षुक्षपणकादयः"–इति; तथाच बौद्ध-धर्म्मप्रादुर्भावकालजत्व मेवास्याः संहितायाः सम्पद्यते ? इति । अत्र ब्रूमः; —तथोक्त्या तस्यैव कुल्लूकस्याधुनिकत्वं प्रकटितम्; किं तेन मूलकारस्य ? मूले हि न क्वचिदपि तादृश आभाषोऽपि दृश्यते । वस्तुतः कुल्लूकभट्टकृता मनुटीका नातिप्राचीना, नैव समीचीना; ततः क्वचित् क्वचित् तत्र व्याख्यादोषोऽपि लक्ष्यत एव । तथाहि—मनुसंहितायाः सृष्टिप्रकरणे "मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानञ्च शाश्वतम् (१.१३.)"–इति व्याख्याना-वसरे तूक्तं तेन "समुद्राख्य मपां स्थानम्"–इति, पुनस्तत्राग्रे "सरितः सागरान् (१. २४.)"–इति व्याख्यानावसरेऽप्युक्तम् "सागरान् समुद्रान्"–इत्येव ।

तदेवं कथिते पुनरुक्तिदोषो भवति ; अपि पूर्वत्र 'मध्ये'—इत्युक्तम्, दिग्व्योम्नोः साहचर्यञ्चास्ति ; तदेतानि नैवालोचितानि । अस्मन्मते तु पूर्वत्र माध्यमिकं जलस्थान मेवेष्टम् । मेधातिथिनाप्युक्तं तथैव "अपां स्थानम् = अन्तरिक्षे समुद्रम्"—इति (१. १३.) । इतोऽप्याश्चर्य मेतत्,—प्रथमेऽध्याये "पाषण्ड-गणधर्म्मांश्च (११८.)"—इतिव्याख्याने सः स्वय मेवोक्तवान् कुल्लूकः—"पाषण्डिनः = विकर्मस्थान्—इत्यादयः (४.३०.), तेषां पृथग्धर्म्मानभिधानात्"—इति ; चतुर्थाध्याये तु पूर्व मुक्तं विस्मृत्यैव किं व्याचष्टे "पाषण्डिनः = वेद-बाह्यव्रतलिङ्गधारिणः शाक्यभिक्षुक्षपणकादयः, विकर्म्मस्थाः = प्रतिषिद्ध-वृत्तिजीविनः"—इति । कुल्लूककृत-प्रथमाध्यायीय-व्याख्यानानुसारत एवास्य चतुर्थाध्यायीयवचनस्य व्याख्यानं भवेच्चेत्, तथापि विकर्मस्थादीनां तच्छ्लोका-भिहिताना मेवात्र पाषण्डित्वेन ग्रहणं क्रियेत ? न तु शाक्यादीनाम् । तत् कथ मुक्त मेव मिति विचारिते, मेधातिथिकृतव्याख्यानानुसारित्व मेवात्र कुल्लूकस्येदृशे स्वोक्तविस्मरणे निदान मुपलभ्यते । मेधातिथिर्नाम मनु-टीकाकारस्तु नूनं भागवतपुराणप्रचारादुत्तरभवः ; भागवत मपि तत् शाक्यबुद्धधर्म्मप्रचारात् पराचीन मेव । श्रीधरस्वामिना च बोधितं तत्र भागवते शाक्यादिमतानुगाना मेव पाषण्डित्वम् । तथाहि—"यानि रूपाणि जगृहे इन्द्रो हयजिहीर्षया । तानि पापस्य खण्डानि लिङ्गं खण्ड मिहोच्यते । एव मिन्द्रे हरत्यश्वं वैण्ययज्ञजिघांसया । तद्गृहीतविसृष्टेषु पाषण्डेषु मतिर्नृणाम् । धर्म्म इत्युपधर्मेषु नग्नरक्तपटादिषु । प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु (भाग० पु०४. १९. २३-२५.)"—इति । "नग्नाः = जैनाः, रक्तपटाः = बौद्धाः, आदिशब्देन कापालिकादयश्च"—इति च तत्राह स्वामी । तदेतत् पाषण्डलक्षणं मेवानुलक्ष्य भाषित मिह तेन मेधातिथिना—"पाषण्डिनो बाह्यलिङ्गिनो रक्तपटनग्नचर-कादयः"—इति । कुल्लूकस्तु श्रीधरकृतां तां भागवतटीकां संस्मृत्य, मेधा-तिथिकृता मेताञ्च मनुटीकां संलक्ष्यैव विसस्मार मनुप्रथमाध्यायीयं

स्वक्टत मपि व्याख्यानम्,—तत एवोक्तम् 'पाषण्डिनो वेदवाह्यव्रतलिङ्ग-धारिणः शाक्यभिक्षुक्षपणकादयः'—इति ।

वस्तुतो ये खलु लोकविमोहनार्थं यथासमयं यथेच्छधर्म्मचिह्नानि धारयन्ति, त एव पाषण्डाः ; अत एवोक्त ममरसिंहेन—"पाषण्डाः सर्वलिङ्गिनः (२. ७. ३५.)"—इति । एवञ्च पाषण्डाः खलु नास्तिका एव गम्यन्ते । ते तु चिर मेव स्थिताः ; ततश्चैतन्मनुसंहिताकालेऽपि तादृशनास्तिकाना मस्तित्वे कोऽस्ति शङ्कावसरः ? नास्तिकानां ग्रन्थाश्च पुरा बहव आसन्नित्यपि प्रतीयते । अत एवोक्त मेवम्—"योऽनधीत्य द्विजो वेद मन्यत्र कुरुते श्रमम् (म० सं० २. १६८.)"—इति । 'अन्यत्र = नास्तिकादि-शास्त्रे'—इत्येव मेवात्रास्मद्गुरूपदेशः । पातञ्जले महाभाष्येऽपि दृष्टं प्रदर्शितम् पुरस्तात् "यदुदुम्बरवर्णानाम् (चै ए०)"—इति । पतञ्जलिना किलोद्धृतः स च श्लोकोऽवश्यं कुतश्चिन्नास्तिकागमादेव । सर्वदर्शनकार-सङ्गृहीताः चार्वाकदर्शन मिति प्रदर्शिताः 'न स्वर्गो नापवर्गो वा'—इत्यादयः श्लोका अपि नास्तिकागमनिदर्शनभूता एव । तादृशानां नास्तिकाना मेव पाषण्डिन इति पदेन तत्र मनुश्लोके ग्रहण मिष्टम् ; अतिथि-भावापन्नैश्च तैः वाङ्मात्रालापेनाप्यर्च्चनं न कार्य्य मित्येव तद्विधेराशयः । ये तु न नास्तिकाः पर मालस्यदोषादिभिः विकर्म्मस्थाः, किञ्च ये केचित् आस्तिका अपि उदरपूरणाद्यर्थं वैडालव्रतिकादयः सम्पन्नाः ; तैश्च संसर्गः परित्याज्य एवेति च तच्छ्लोकाशयः । तदेव मत्र श्लोके शाक्यबुद्धगन्धो ऽपि न लभ्यतेऽस्माभिस्तत्किं कुर्मो वदाम एवैतद्यपि शाक्यजन्मतो बहुपूर्व मेव जातोऽयं मनुसंहिताकार इति ॥

एतत्संहितासमालोचनादेतदप्यवगम्यते,—अयञ्च भृगुः, योगसूत्रकृतः आदिपतञ्जलेः, वेदान्तमतपोषकभिक्षुसूत्रकृतः पाराशर्याद् व्यासात्, मीमांसादर्शनीयादिसूत्रकृतः काशकृत्स्नेरपि जैमिनेश्च, वैशेषिकसूत्रकृतः कणादात्, न्यायसूत्रकृतो गौतमात्, साङ्ख्यसूत्रकृतः कपिलात्तच्छिष्यादा-सुरेश्चावरज एवेति । समासतः प्रदर्शयामश्चैतत् क्रमेण । षष्ठेऽध्याये

यतिधर्म्मप्रकरणे—"अङ्गा राघ्या"—इत्यादिचतुर्द्दशश्लोकानाम् (६९—८२) विशेषतश्च तेष्वेव "प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम्। प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् (७२)"—इत्यस्य, पुनः सप्तमेऽपि—"इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् (४४)"—इत्यस्य च दर्शनात् ज्ञायत एव,—आदिपतञ्जलिकृताद्योगशास्त्रात् परस्तात् प्रणीतेयं संहितेति। तत्रैवाग्रे "आध्यात्मिकञ्च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् (८३)"—इति, "वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा (९४)"—इति, पुनः सप्तमेऽपि—"आत्मविद्याम् (४३)"—इति, पुनर्द्वादशेऽपि "सर्व मात्मनि सम्पश्येत् सच्चासच्च समाहितः। सर्वं ह्यात्मनि सम्पश्यन् नाधर्म्मे कुरुते मनः॥ आत्मैव देवताः सर्वाः सर्व मात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥"—इति (११८, ११९) च। तदेवमादीनां दर्शनात् ज्ञायत एव,—पाराशर्यव्यासकृताद् वेदान्तशास्त्राच्च परस्तात् प्रणीतेयं संहितेति। मीमांसामूलिकाया एवास्या धर्मसंहिताया मीमांसापरत्वप्रमाणायाल मायासेनेति। अस्ति सप्तमाध्याये "आन्वीक्षिकीञ्च (४३)"—इति, द्वादशे "तर्की (१११)"—इति च। एवमादीनां दर्शनात् ज्ञायते वैशेषिकसूत्रेभ्यो न्यायसूत्रेभ्यश्च परस्तात् प्रणीतेयं संहितेति। प्रथमेऽध्याये षष्ठ-चतुर्द्दश-पञ्चदश-षोड़शश्लोकानां दर्शनात्, द्वादशाध्याये पुनः साङ्ख्योक्तप्रमाणत्रयाणा मेव स्मरणाच्चावगम्यतेऽसौ संहितावश्यं साङ्ख्यशास्त्रात् परं प्रणीतेति च। इह च द्वादशाध्याये दशावरापरिषद्विधौ (१११ श्लो०) यद्दृश्यते 'हैतुकः'—इति पदम्, तत् साङ्ख्यविद एव बोधकम्; साङ्ख्यस्यैव हेतुशास्त्रत्वात्। दृश्यते हि—"मूले मूलाभावादमूलं मूलम् (सा० प्र० १.६७)"—इति साङ्ख्यसूत्रम्, "प्रकृतिरिह मूलकारणस्य सञ्ज्ञामात्रम्"—इति च विज्ञानभिक्षुकृतं भाष्यम् (१.६१. सूत्रीयम्), "मूलं प्रकृतिरविकृतिः"—इतीश्वरकृष्णवचनञ्च; एवमादीनां दर्शनात् साङ्ख्यशास्त्रस्य मौलिकत्वं प्रतीयते सम्यगेव। अत्रैवैकं सूत्रम् "ईश्वरासिद्धेः (१. ९२)"—इति, तदेवमादीनां पर्य्यालोचनया नास्तिक्य-

सम्पादन मपि सुकर मिति मत्त्वैवोक्त मिहैव भृगुप्रोक्तायां मनुसंहिता-याम्—"योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः । स साधुभिर्बहि ष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ( २. ११. )"—इति । अपरञ्चैकं सूत्रं सा-ङ्ख्यस्य "सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः ( १. ९८. )"—इति, "तस्मादपि चासिद्धं परोक्ष माप्तागमात् सिद्धम्"—इति च तदनुगता ऐश्वरकृष्णीय-कारिका ; तदेवमादिभ्यः प्रतीयत एव साङ्ख्यदर्शनस्य वेदानुगतत्वञ्च । अत एव चात्र संहितायां दशावरायां साङ्ख्यविदोऽपि नियोगो विहितो "हैतुकः"—इति (१२. १११) । पाणिनिवार्त्तिककाराच्च कात्यायनात् परभवत्व मस्या अनुपद मेव प्रतिपादयिष्यामः ; तेन च कात्यायनेनोक्तं वार्त्तिकम्—"आसुरेरुपसङ्ख्यानम् ( पा० ४. १. १९. वा० )"—इति ; ततश्चास्यासुरिपरभवत्व मपि सुतरां सम्पद्यते । तदेवं प्रदर्शितनामभ्यः षड्भ्योऽपि दर्शनशास्त्रेभ्योऽर्वाचीनैषा मनुसंहितेति प्रथिता भृगुसंहितेति स्फुट मवगम्यत एवेति ॥

एषाञ्च षसां दर्शनानां पौर्वापर्यविषये बहव एव वादा उपलभ्यन्ते । अस्मन्मते तु साङ्ख्यदर्शनस्यैवास्तिकदर्शनेषु प्राथम्यम् ; साङ्ख्यप्रथमाचार्यस्य कपिलस्यैव "आदिविद्वान्"—इति प्रसिद्धेः ; तादृशप्रसिद्धौ चाय मेव हि हेतुरुपलभ्यते,—यद्यपि सर्वविद्यानिधानेषु वेदेषु दार्शनिकभावा अपि चिरादेव स्थिताः, परं पृथक्त्वेन दर्शनशास्त्रस्य प्रचारस्तु तेनैव विद्वता प्रथमं प्रारब्ध इति । भागवतादौ भगवदवतारेषु वर्णितक्रमदर्शनाच्चावगम्यते—'आन्वीक्षिकी"—इति प्रसिद्धाया अध्यात्मविद्यायाः प्रथमोपदेशकात् आत्रेयाचाग्रजोऽयं हि कपिल इति । तथाहि—"पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् । प्रोवाचासुरये साङ्ख्यं तत्वग्रामविनिर्णयम् । षष्ठ मत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया । आन्वीक्षिकी मलर्काय प्रह्रा-दादिभ्य ऊचिवान् (भाग० पु० १. ३. १०, ११. )"—इति । सैषान्वीक्षिकी विद्यैव इदानीं प्रचलितानां वैशेषिकन्यायवेदान्तसूत्राणां वीज मित्यनु-मीयते ; स्मर्यते हि जैमिनीयमीमांसायां वादरायणनामकीर्त्तनात् पुरैव

चात्रेयनाम। तथाहि—"मुख्यानन्तर्यं मात्रेयः * * *। अन्ते तु बादरायणः * * * ( मी० द० ५. २. १८, १९ )"–इति। बादरायण एव वेदान्तसूत्रकृदिति तु प्रसिद्धः; वेदान्त–न्याय–वैशेषिक–जैमिनीयमीमांसासूत्राणाञ्च समकालिकत्व मेवाभ्युपगम्यते। अतो निरवद्य मेवैतदुक्तं साङ्ख्यदर्शन मेव सर्वप्रथम मिति। अत एव श्लोक्यते च श्वेताश्वतरोपनिषदि—"ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्त मग्रे, ज्ञानैर्बिभर्त्ति० ( ५. २. )"–इत्यादि, "नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना मेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तत् कारणं साङ्ख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः (६. १३.)"–इति च। "न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत् (१अ० २५सू०)"–इति साङ्ख्यसूत्रन्तु द्वितीयकपिलस्य वा पञ्चशिखाचार्यस्य वा भवितु मर्हति; तथाच सति नैतत्सूत्रदर्शनादपि वैशेषिकादिपरजत्वं सिध्यति साङ्ख्यादिग्रन्थस्य; अपि तु साङ्ख्यशास्त्रीयषड़ध्याय्या एव। उक्तं हि कौमुदीप्रभायाम्—"पञ्चशिखः सूत्रकार आसुरिशिष्यः। कापिल मिति प्रसिद्धिस्तु सम्प्रदायप्रवृत्तेः भृगुप्रोक्तसंहिताया मिव मनुसमाख्या"–इति। किञ्च "य माहुः कपिलं साङ्ख्याः परमर्षिं प्रजापतिम्। स मन्ये तेन रूपेण विस्मापयति हि स्वयम् ( शा० मो० प० २१८ अ० ९ श्लो०)"–इतिमहाभारतीयश्लोकव्याख्याने नीलकण्ठोऽप्याह—"स कपिलः, तेन पञ्चशिखसञ्ज्ञेन तच्छिष्यत्वात् तत्तुल्यत्वम्"–इति। तत्वसमासव्याख्यायां सर्वोपकारिण्यां तु सुस्पष्ट मेवोक्तं कपिलद्विकादिकम्। तथाहि—"अथाज्ञानादिक्लेशकर्मवासनासमुद्रनिपतितानाथदीनानुद्दिधीर्षुः परमकृपालुः स्वतःसिद्धतत्वज्ञानो महर्षिर्भगवान् कपिलो द्वाविंशति सूत्राणि उपादिक्षत्। * * *। सूत्रषड़ध्यायी तु वैश्वानरावतारभगवत्कपिलप्रणीता; इयन्तु द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेति वृद्धाः"–इति। विज्ञानभिक्षुकृतसाङ्ख्यप्रवचनभाष्याच्चैव मेवावगम्यते। तथाहि—"तत्वसमासाख्यं हि यत् सङ्क्षिप्तं साङ्ख्यदर्शनम्, तस्यैव प्रकर्षेणास्यां निर्वचनम्"—इत्यदि।

आदिपतञ्जलिनापि कृतं योगशास्त्र मादिसाङ्ख्यपरज मेव । अत एवोक्तं दृश्यते साङ्ख्यप्रवचनभाष्ये—"तत्वसमासाख्यं हि यत् सङ्क्षिप्तं साङ्ख्यदर्शनम्, * * *, षड़ध्याय्यां तत्वसमासाख्योक्तार्थविस्तरमात्रम् ; योगदर्शने त्वाभ्या मभ्युपगमवादप्रतिषिद्धस्यैवेश्वरस्य निरूपणेन न्यूनतापरिहारोऽपीति"—इति । वेदान्तदर्शने तु "एतेन योगः प्रत्युक्तः (२. १. ३. )" —"योगिनः प्रति च स्मर्यते (४. २. २१.)"—इत्यादिदर्शनात्, तस्य योगशास्त्रादप्यवरजत्वं सुव्यक्त मेव ।

कणादगौतमकृतयोः सूत्रात्मकयोर्वैशेषिक–न्यायशास्त्रयोः समानतन्त्रत्वन्तु सर्वसम्मत मेव ; तत्रापि वैशेषिकस्य प्राथम्यं स्वीकृत मस्मत्प्रियसुहृदा महामहोपाध्यायचन्द्रकान्ततर्कालङ्कारेणेति* । तत्र हि न्यायशास्त्रे २. ६९.—४. २५.—६७. सूत्रेषु वेदान्तमतपरिदर्शनात्, वेदान्ते च २. २. ११, १३, १४. सूत्रेषु न्यायवैशेषिकमतदर्शनात्,—एवं वेदान्ते "साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः (वे० सू० १. २. २८.)"—इत्यादिषु जैमिनेर्नामकीर्त्तनात्, मीमांसायाञ्चाद्यप्रचलितायां "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः ०———०वादरायणस्यानपेक्षत्वात् (मी० सू० १. १. ५.)"—इत्यादिषु वादरायणस्योल्लेखात् न्याय–वैशेषिक–वेदान्त–मीमांसा–सूत्रकाराणां समकालिकत्व मेव गम्यते । तत्रापि आत्रेयकृता आन्वीक्षिकी, काशकृत्स्नकृता मीमांसा च एभ्यो बहुप्राचीनैव ; तयोर्विरलप्रचारकाले एवाद्यप्रचलितानां वेदान्तादीनां जैमिनीयमीमांसायाश्च प्रयोजनीयत्वात् ।

सिद्ध मित्यम् साङ्ख्यदर्शनाविष्कर्त्तुः कपिलस्यैव दर्शनकारेषु प्राचीनतमत्वम् ; आदिपतञ्जलेस्तत्परजत्वम् ; आत्रेयस्य, काशकृत्स्नस्य ततोऽव-

---

* तत्कृतस्य वैशेषिकभाष्यस्य भूमिकायाम्—'न्यायवैशेषिकयोस्तु'-इत्यारभ्य 'अतोऽनुमीयते, कणादेनैव रीतिरेषा समुद्भाविता, उत्तरकाल मक्षपादेन विस्तारिता परिशोधिता समीचीनतया निबद्धा चेति'—इत्यन्तः प्रबन्धो द्रष्टव्यः ।

रजत्वम्; कणभक्षाक्षचरणपाराशर्य्यजैमिनीनां ततोऽप्यर्वाचीनत्व मिति॥

(कात्यायनः) सैषा शैवमतप्रभवात् पाशुपतदर्शनादग्रजा, प्रदर्शित-साङ्ख्यादिदर्शनेभ्यस्त्वनुजा, मनुसंहितेति प्रथिता, भृगुसंहिता, कात्यायनकृताद् वार्त्तिकसूत्राच्चावरजैवेत्यसकृदुक्तं पुरस्तात् (चौ, कू ए०)। क्रमप्राप्तं तदेवेहोपपादयामः।

तथाहि—"शूद्राणा मनिरवसितानाम् (२. ४. १०.)"–इति सूत्रस्य भाष्ये, "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टं तथैव साधूनि (६. ३. १०९.)"–इति सूत्रीयभाष्ये च दृश्यते तावदेतदार्यावर्त्तलक्षणम्—"प्राक् आदर्शात्, प्रत्यक् कालकवनात्, उत्तरेण हिमवन्तम्, दक्षिणेन पारियात्रम्"–इति। एतच्च लक्षणम्, सङ्ग्रहग्रन्थकारेण भगवता व्याडिनोपदिष्टम्, वार्त्तिककारकात्यायनसम्मतञ्च पतञ्जलिनोद्धृत मिति वृद्धोपदेशः। एतल्लक्षणे विन्ध्यगिरेः पश्चिमस्थः पारियात्र एवार्यावर्त्तदक्षिणसीमेति गम्यते, अपि च सिन्धुसङ्गमात् पश्चिमसमुद्राद् बहुपश्चिमस्थ आदर्श एव पश्चिमसीमेति गम्यते, ब्रह्मपुत्त्रसङ्गमात् पूर्वसमुद्रात्तु बह्वर्वाक्स्थत्वेन निर्दिष्टः कालकवन एव पूर्वसीमेत्यपि गम्यते। मनूक्तार्यावर्त्तलक्षणे तु सिन्धुसङ्गमपश्चिमे न आर्यावर्त्तः; अपि ब्रह्मपुत्त्रसङ्गमान्तस्त्वार्यावर्त्तः; किञ्च पूर्वविन्ध्योत्तरस्थः कीकटोऽप्यार्यावर्त्तान्तर्गत एव। तथाहि—"आ समुद्रात् तु वै पूर्वादा-समुद्राच्च पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योः (विन्ध्यहिमागमयोः) आर्यावर्त्तं विदुर्बुधाः (२. २२.)"–इति मनुः। तथाचेद मेवावधार्यते यावन्नामार्या-वर्त्तोऽयं न हि पूर्वस्यां विस्तृतो नापि पश्चिमतः सङ्कुचितः, तावदेव जातः कात्यायनः, तदुत्तरभवश्च मनुसंहिताकारः स्वानुभूतानुरूप मेवार्यावर्त्त-लक्षणञ्चकार पूर्वोक्त मिति।

शिष्टलक्षणद्वयदर्शनाच्चानयोस्तथैव पौर्वापर्य मवगम्यते। तथाहि—"धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः। ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुति-प्रत्यक्षहेतवः (१२. १०९.)"–इति मनुः। सङ्ग्रहकारलिखितं कात्या-यनसम्मतन्त्वेवं दृश्यते शिष्टलक्षणम्—"एतस्मिन्नार्यावर्त्ते निवासे ये

ब्राह्मणाः, कुम्भीधान्याः, अलोलुपाः, अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण, कस्याश्चिद् विद्यायाः पारङ्गताः, तत्र भवन्तः शिष्टाः (६अ० ३पा० ३आ०)" —इति । एवञ्च कात्यायनकाले आर्यावर्त्तवासादेव शिष्टत्व मपि तदानीन्तनानां ब्राह्मणानां कुम्भीधान्यादित्वञ्च साधारणो धर्म इति गम्यते; मनुकाले तु विशेषतोऽध्ययनेनैव शिष्टत्व माप्यं स्थित मिति । तदेतल्लक्षणद्वयपर्यालोचनया चावगम्यते कात्यायनस्यैतन्मनुसंहिताकारात् पूर्वजत्वम्,—तत्रापि बहुपूर्वजत्वम्; न ह्यल्पपौर्वापर्यत एव एतादृशी साधारणाचारभिन्नता सम्भवेन्नाम ।

नास्तिकलक्षणद्वयालोचनेनाप्येव मेवावबुध्यते पौर्वापर्यम् । तथाहि—अस्त्येकं पाणिनिसूत्रम्—"अस्ति-नास्ति-दिष्टं मतिः (४. ४. ६०.)"—इति । "अस्तीत्यस्य मतिः— आस्तिकः, नास्तीत्यस्य मतिः— नास्तिकः, दिष्ट मित्यस्य मतिः— दैष्टिकः ( ४अ० ४पा० ४आ०)"—इति च तद्भाष्यम् । दिष्टम् = भाग्यम् । एतदेव साधारणं लक्षणं कात्यायनकालेऽपि स्थितं सर्वसम्मतम् । ततः परं क्रमात् शिथिलिते वेदविश्वासे पुनस्तद्दार्ढ्यायैवेदं समुद्भूतं लक्षणान्तरम्—"योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः । स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः (म० सं० २. ११.)"—इति । यद्दि हि नाम कात्यायनोऽयं मनुसंहिताकाराचास्मादवरजः स्यात्, तर्हि एतदनुगतं वार्त्तिकञ्च नास्तिकादिविधायकसूत्रे उच्येतैव; न च तथोक्तम्; तदेव मप्यगम्यते वार्त्तिककारकात्यायनस्यैतन्मनुसंहिताकारात् प्राचीनत्व मिति ।

एव मिह मनौ आचारपर्यायो वृत्तशब्दः (५. १६६.); पूर्वं मृतेत्यर्थे 'पूर्वमारिणी' (५. १६७, १६८.)—इति; एवमादयश्च दृश्यन्ते, परं नैवमादिषु वार्त्तिककारस्यैतस्य कानिचिन्नूतनशासनान्युपलभ्यन्ते; यदि हि नामैतन्मनुसंहितातः परभवः स्यात् कात्यायनः, तर्ह्येवश्य मवश्यदेव तथैव वार्त्तिकानि यथा सिध्येयुरेव वृत्तादीनि आचारादर्थेष्वपीति । अतश्च सिध्यत्येवैतन्मनुपूर्वजत्वं कात्यायनस्य ।

एवं "वृषो हि भगवान् धर्मः, तस्य यः कुरुते ह्यलम्। वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् (८. १६.)"—इत्येतच्च निर्वचनं यास्कस्य त्वविदित मेव, कात्यायनवार्त्तिकपाठादपि पर उत्पन्नम्; अन्यथा हि नैवं ब्रूयाद् यास्कः,—"वृषलो वृषशीलो भवति, वृषाशीलो वा (२भा० ३११ए० )"—इति; न चेह मौन माचरेत् कात्यायनः खल्विति। तदेवं मनुसंहितेतिप्रथितायाः किल भृगुसंहिताया अन्यूनशताब्दीत्रयपूर्वं मेवाभवत् कात्यायनीयो वार्त्तिकपाठ इति सुवचम्; न हि तन्न्यूनेन कालेन देशसीमपरिवर्त्तन माचारपरिवर्त्तनं नास्तिकलक्षणपरिवर्त्तनादिकञ्च सम्भाव्य मिति। सिद्ध मित्थम्—कलेर्विंशशताब्द्याम्, खीष्टजन्मतः पूर्वं मन्यूनद्वादशशताब्द्याञ्चाभवत् व्याकरणवार्त्तिककारो भगवान् कात्यायन इति॥

अपर मप्यस्तीह तावत् किञ्चिद् विचारयितव्यम्।—कैश्चित् पुरातत्त्वानुसन्धित्सुभिः दाक्षिणात्येषु पाण्ड्यराज्यस्थापनं ननु खीष्टजन्मतः पुरा षष्ठ्या मेव शताब्द्यां बभूवेति निर्णीतम्; अस्ति च कात्यायनवचनम्—"पाण्डोर्ड्यन् (पा० ४. १. १६८. वा०)"—इति; तथाचैतस्य कात्यायनस्य खीष्टजन्मतोऽत्यधिकपञ्चशताब्दीपूर्वजत्व मेव सम्पद्यते। नैतच्चतुरस्रम्; खीष्टपूर्वाष्टमशताब्द्यां शैवमतं प्रचरित मित्यत्र तेषा मपि सम्मतिदर्शनात्; तादृशशैवमतप्रचारतोऽपि प्राचीनात् किल मनुसंहिताकारात् प्राचीनोऽयं वार्त्तिककारः कात्यायनः, कथङ्कारं स्यात् खीष्टपूर्वषष्ठशताब्दीतोऽपि परज इति? अतः पाण्ड्यराज्यस्थापन मवश्यं बभूव खीष्टजन्मतो द्वादशाब्दीतोऽपि प्रागेव; अथ वा "पाण्डोर्ड्यण् (पा० ४. १. १६८. वा०)"—इत्यादिवचनानि नैव कात्यायनीयानि, अपि भाष्यकाराद्युक्तान्यनतिप्राचीनान्येवेति सर्वैर्मन्तव्यम्; अन्यथा हि सर्वमत एव सर्वं भवेत् पिण्डीभूत मिति धीमद्भिरेव विचार्यं पूर्वापरदर्शिभिः समन्तादिति॥

(यास्कः) तस्मादेतस्माच्च कात्यायनात् प्राचीनोऽयं यास्कः। तदत्र चत्वारो हेतवः।— "अरण्यानी अरण्यस्य पत्नी"—इत्युक्त मिह निरुक्ते

(४ भा० ४७ पृ०) ; यदि हि नाम वार्त्तिकग्रन्थात् पुरातनं न स्यादेत-न्निरुक्तम्, तर्ह्यवश्य मेवैवं निरुच्येत "अरण्यानी महदरण्यम्"—इति ; "हिमारण्ययोर्महत्त्वे (४. १. ४९. पा० वा०)"—इति वार्त्तिकानुरोधात् । एवञ्च ज्ञायत एव निरुक्तप्रणयनकालं यावत् नाभवद् वार्त्तिकग्रन्थ इति । यदा चाभूत् वार्त्तिकग्रन्थः, तदा तु अरण्यपत्नीत्यर्थे अरण्यानीति व्यव-हारो दूरङ्गतः, समुत्पन्नश्च महदरण्य मित्यर्थे अरण्यानीति ; तत एव प्रणीतं तत्कालानुगतं लक्षण मिदं 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे'—इतीति प्रथमः ।

वेदे "सुकिंशुकम् (ऋ० सं० ८. ३. १३. ५.)"—इत्येवमादौ श्रुतस्य 'सूर्या'—इति पदस्य पुंयोगानुगता सूर्यस्य पत्नीति व्याख्या नासीत् पाणिनिकाले प्रचलिता, ततो बहुतिथेऽतीते तादृशव्याख्याने प्रचलिते जातोऽयं यास्को वेदे सर्वविधेर्बाहुल्यं पाणिनेरपि सम्मत मेवेत्यालोच्य निरवोचत् "सूर्या=सूर्यस्य पत्नी (४ भा० २५८ पृ०)"—इति ; तद्दृष्ट्वेवेदं वार्त्तिक मारचितम् "सूर्याद् देवतायाम् चाप् (पा० ४. १. ४८. वा० )"—इति । इतश्चोभयं गम्यते— अस्य पाणिनितो बह्वर्वाचीनत्वम्, कात्यायनात् प्राचीनत्वञ्चेतीति द्वितीयः ।

अस्यैव मत्र निरुक्ते जरयितेत्यर्थकं जारशब्दव्युत्पादनम्—"आदित्योऽत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता (२ भा० ३२० पृ०)"—इति । नून मेतद् दृष्ट्वेवेदं वार्त्तिक मारब्धम्—"दारजारौ कर्त्तरि णिलुक् च ( पा० ३. ३. २०. वा० )"—इति । एवमादिभ्योऽपि प्रतीयते यास्कस्य कात्यायनपूर्वजत्व मिति तृतीयः ।

चतुर्थस्त्वय मतिप्रबलः— पाणिनिसूत्रेषु ऋणशब्दे परे वृद्धिविधानं न विद्यते, ततः खलु पाणिनिकाले 'प्रर्णम्', 'अपर्णम्', 'वत्सतरर्णम्'— इत्यादयः प्रयोगा एवेष्टा इति गम्यते । ततो बहुकालान्तरे जातोऽयं यास्कः, तदानीं क्वचित् क्वचिद् वृद्धियुतः प्रयोगोऽपि ऋणशब्देऽवश्यं प्रचलित इत्यनुमेने ; लक्ष्यत एव हि निरुक्ते "अपार्णम् (३ भा० ११ पृ०)"— इति प्रयोगः । ततो बहुकालगते जातः कात्यायनः, तदानीं तेन हि

बट्स्वेव स्थानेषु ऋणशब्दे वृद्धिः प्रचलिता दृष्टा, तथैव वार्त्तिके पठिते "प्रवत्सतरकम्बलवसनानां चर्णे"—इति, "ऋणदशभ्यां च"—इति च (पा० ६ १.८९. वा०)। आभ्यां वार्त्तिकाभ्यां सिद्ध्यन्त्येव प्रार्णं मित्यादीनि ; परमपार्णं मितिपदस्य साधनाय न कश्चिद्यत्नः कृतो दृश्यते, ततोऽवगम्यते तदानीं तथा व्यवहारो लुप्त एवेति। अतएवावश्य मेवं मन्तव्यम्— यास्कोऽयं पाणिनितो बह्वर्वाचीनः, कात्यायनतस्तु बहुप्राचीन इति ; नान्यथा ह्यपार्णं मिति नैरुक्तं मुपपद्यते। यदि ह्ययं यास्कः कात्यायनतोऽप्यर्वाचीनः स्यात्, तर्ह्यवश्यं वदेदपर्णं मिति, सूत्रवार्त्तिककारयोस्तथैवानुशासनात् ; यदि ह्ययं पाणिनितोऽपि प्राचीनः स्यात्, तर्ह्यवश्य मेव पाणिनिस्तथैव सूत्रं विदध्यात्, यथा च सिद्धं भवेदपार्णं मिति। तदेतदेक मेव पदम् यास्कसमयनिर्णये बहु मन्यतेऽस्माभिः "अपार्णम्— अपार्णम्— अपार्णम्"—इति ॥

(पाणिनिः) यास्कस्य पाणिनिपरजत्वे त्वन्येऽपि हेतवः समुपलभ्यन्ते। तथाहि—(१) निरुक्तस्यास्य प्रथमेऽध्याये एव (२ भा० ११९ पृ०) "परः सन्निकर्षः संहिता (पा० १. ४. १०९.)"—इति पाणिनीयं संहितालक्षण मुद्धृतं दृश्यत इति प्रथमः। (२) पाणिनिपरजन्मनो बह्वृक्प्रातिशाख्यकृतः शौनकाचार्यं यास्कः पराचीनः सुतरां पाणिनितो बह्वर्वाचीन इति द्वितीयः। यथाच स शौनको यास्कात् पूर्वभवः, पाणिनिः खलु ततोऽपि पूर्वभवः, तदनुपद मेव स्फुटीभविष्यति। (३) उक्तञ्च निरुक्ते— "नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च ; न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानाञ्च (२भा० ८३ पृ०)"—इति। इह, वैयाकरणशब्देन पाणिनीयवेत्तृणा मेव ग्रहणं भवितु मर्हति ; पाणिन्यष्टके एव हि तादृशमतनिदानसूत्रद्वयदर्शनात्। तथाहि— "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्, कृत्तद्धितसमासाश्च (१. २. ४५, ४६.)"—इति। एते एव सूत्रे अवलम्ब्य 'प्रातिपदिका व्युत्पन्ना अव्युत्पन्नाश्च'—इति पाणिनिमतं वर्णितं महाभाष्यादौ ; न चान्यत्र (प्रातिशाख्यादौ) नाम्नां तादृशोभयविधत्व मुपदिष्टं क्वचिदपि।

एवञ्चेह पाणिनीयवेत्तृणा मेव मत मुपन्यस्तं यास्केन 'वैयाकरणानाम्'–इतीदं सुवच मिति तृतीयः । (४) निरुक्तस्यास्य चतुर्थाध्याये (२ भा० ४७५ पृ०) यद् दृश्यते 'अस्याः', 'अस्य' —इत्यनयोर्निर्वचनादिकम्, तत्तु "इद-मोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ ( २. ४. ३२. )"–इत्यस्य पाणिनीयसूत्रस्य व्याख्यानपर मेव स्फुट मिति चतुर्थः । (५) अयञ्च हेतुः पञ्चमः,—उक्त मिह निरुक्तद्वितीये "चायनीफणादिति फणतेश्चर्करीतवृत्तम् (२ भा० २४६ पृ० )"–इति ; "चर्करीतम् = अभ्यस्तम्"–इति महाभाष्यम् ( ७ अ० १ पा० १ आ० ) ; न हि चर्करीतवृत्तस्य ज्ञानं भवितु मर्हति शाक-टायनीयादिभ्य ऋक्तन्त्रादिभ्य इति । (६) तत्रैवाध्याये (२ भा० १६० पृ०) "तद्धितसमासेषु"–इति च दृश्यते ; महाभाष्यकारेण तूक्तं पस्पशा-याम्– "न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्"–इति ; इह महाभाष्यवाक्ये व्याकरणपदेन पाणिनीयस्यैव ग्रहण मन्यथा तत्प्रयो-जनान्वाख्यान मेव व्याकुप्येतेति सोऽयं षष्ठः । (७) तत्रैवाग्रेऽस्ति निरुक्ते —"निर्ब्रूयान्नावैयाकरणाय (२ भा० १६८ पृ०)"–इति, इतश्च ज्ञायते निरुक्तादस्मात् पूर्व मेव व्याकरणम् ; व्याकरणज्ञानपूर्वकं ह्येव निरुक्तज्ञान माचार्यस्याभिमत मिति । न हि तद् व्याकरणं सर्वतोमुखं पाणिनीय मन्तरान्यत् कि मप्यासीदादिम मित्यवश्य मेवैवमादिषु सर्वत्रैव निरुक्ते पाणिनीय मेवेष्टं यास्कस्यति सप्तमः । (८) अपि चाय मष्टमः—निरुक्त-प्रयोजनकथनावसरे यास्कः स्वय माह—"व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधनञ्च (२ भा० १०२ पृ० )"–इति । ततः सिद्ध मस्य निरुक्तस्य व्याकरणपरि-शिष्टरूपत्वम् ; यतश्चायं ग्रन्थो व्याकरणपरिशिष्टरूपः, अतो व्याकरण-परभव एव ; तच्च व्याकरण मिह पाणिनीय मेवेत्यप्यस्माकम् ; दृश्यते ह्यत्र "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ( ६. ३. १०६. )"–इति पाणिनिसूत्र मेव प्रपञ्चितं लोपागमवर्णविकारादिप्रदर्शनपरेण नैरुक्ताधिकभागेन—(२ भा० १४७—१६८ पृ०) । अत एव तत्र महाभाष्ये उक्तम्—"पृषो-दरादीनीत्युच्यते, कानि पृषोदरादीनि ? पृषोदरप्रकाराणि । कानि

पुनः पृषोदरप्रकाराणि ? येषु लोपागमवर्णविकाराः श्रूयन्ते, न चोच्यन्ते (६ अ० ३ पा० ३ आ०)"—इति। अत एवेहैव चैषा हरिकारिका—"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्"—इति ॥

अपि नाम व्याकरणं तु सर्वतोमुखं पाणिनिनैव प्रथमं प्रणीत मिति वैयाकरणानां सिद्धान्तः। अत्र च बहूनि प्रमाणानि देदीप्यन्ते; किञ्चिदिहोपवर्णयामः। —

प्रथमं तावत्, नन्दिकेश्वरकृतकाशिकायां चतुर्दशसूत्रव्याख्यायाम्—"नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्। उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद् विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥ अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यवर्णचतुर्दशम्। धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये"—इति। "धात्वर्थं धातुमूलकशब्दशास्त्रप्रवृत्त्यर्थम्"—इत्यादि च तत्र नागेशभट्टः। तदेवमादीनां समालोचनयोपलभ्यत एव पाणिनेरादिव्याकरणकर्तृत्वम्।

द्वितीयन्त्विमानि पाणिनीयशिक्षावचनानि—"शङ्करः शाङ्करीं प्रादात् दाक्षीपुत्राय धीमते। वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य देवीं वाच मिति स्थितिः ॥ येनाक्षरसमाम्नाय मधिगम्य महेश्वरात्। कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥ अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया। चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः ॥"—इति। पाणिनेरादिव्याकरणकर्तृत्वे इतोऽपि स्फुटतरं मानं किं भवितु मर्हतीति।

तथैव फणिभाषितभाष्याब्धेः पस्पशाह्निकं प्रायः सर्व मेवात्र मतेऽनुकूलम्। तथाहि—"अथ शब्दानुशासनम्"—इति प्रतिज्ञालक्षणाधिकारवचनपर्यालोचनेनैव प्रतीयते,—इतः पूर्वं नासीदेवं लौकिकवैदिकोभयविधसर्वशब्दानां लघुनोपायेनानुशासन मपरं किञ्चिच्छास्त्रं व्याकरणं नामेति। अन्यच्च—"अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। एवं हि श्रूयते—'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, न चान्तं जगाम'। बृहस्पतिश्च वक्ता, इन्द्रश्चाध्येता,

दिव्यं वर्षसहस्र मध्ययनकालः, न चान्तं जगाम; किम्पुनरद्यत्वे? यः सर्वथा चिरञ्जीवति, स वर्षशतं जीवति। चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवन्ति—आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति। तत्र चागमकालेनैव कृत्स्न मायुः पर्युपभुक्तं स्यात्। तस्मादनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। कथं तर्हीमे प्रतिपत्तव्याः? किञ्चित् सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्त्यम्; येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्।"—इत्यादेः भगवत्पतञ्जलिविरचितायाः पाणिनीयव्याकरणावतरणिकायाः पाठादेवावगम्यते नैतत्पूर्व मेवं सर्वतोमुखं सर्वावयवसम्पन्नं कि मपि व्याकरणं स्थित मिति तृतीयम्।

श्रूयन्ते च सर्वेष्वेव वेदेषु पदसंहिताः। "अग्निम्। ईळे। पुरः अहितम्"—इत्येवं मन्त्रीयपदविभागादिकं कुर्वन्त एव ता अध्यापयन्त्याचार्याः। तादृशपदपाठग्रन्थास्तु महाभाष्योक्तप्रतिपदपाठश्रेणीगता एवेत्यपि स्फुट मवगम्यते। तथा प्रतिपदपाठाश्च तदैव शोभन्ते स्म, यदा नासीत् सामान्यविशेषवल्लक्षणात्मकं किञ्चिदपि सर्वतोमुखं व्याकरणम्। ईदृशपदपाठानां चाविष्कर्त्ता शाकल्य एव। "वायः * * * वेति च य इति च चकार शाकल्यः (३ भा० २५५ पृ०)"—इति यास्कोक्तेः। इमा मेव त्रयीपदसंहिता मभिलक्ष्याह महाभाष्यकारः—"शाकल्यस्य संहिता मनु प्रावर्षत् (१ अ० ४ पा० ४ आ०)"—इति। स एष च शाकल्यो नाम ऋषिः, पाणिनितः पुरातन एव; तदीयाष्टाध्याय्याम् "सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे (पा० १. १. १६.)"—इत्यादौ शाकल्यनामस्मरणात्। तदेवं ज्ञायते नासीदेव पाणिनेः पूर्वं शाकल्यसमयेऽपि पाणिनीयसदृशं सर्वतोमुखं व्याकरणं कि मपीति चतुर्थम्।

एव मस्ति च सर्वेषां वेदानां क्रमपाठो नाम ग्रन्थ एकैकः; त एव क्रमसंहिता उच्यन्ते। एतत्क्रमपाठनियमस्तु यद्यपि शाकल्यस्य पदपाठप्रवृत्तेः परकालभव एव, सति कुड्ये चित्र मिति न्यायात्; परं पाणिन्यष्टकात् पुरैवाविरासीदित्यपि सत्यम्; तत्र हि क्रमाध्येत्रर्थे क्रमक

इति पदसाधनायैव "क्रमादिभ्यो वुन् ( पा० ४. २. ६१. )"—इति सूत्रस्य दर्शनात्। क्रमस्यैतस्यादिप्रवक्ता, एतादृशाध्ययनविधेः प्रवर्त्तकः खलु बाभ्रव्य एव। तच्चोक्तमृक्प्रातिशाख्ये—"इति प्र बाभ्रव्य उवाच च क्रमम्, क्रम-प्रवक्ता प्रथमं शशंस च (११. ६१.)"—इति। "इत्येवं बभ्रुपुत्रः भगवान् पाञ्चालः, क्रमस्य वक्ता शिष्येभ्यः, क्रमं प्रथमं प्रोवाच प्रशशंस च हिताय" —इत्यादि च तत्र तद्व्याख्यान मुव्वटस्य। महाभारतेऽपि शान्तिपर्वान्तर्गत-मोक्षधर्म्मणि तथैवोक्तम्—"पाञ्चालेन क्रमप्राप्तस्तस्माद् भूतात् सनात-नात्। बाभ्रव्यगोत्रः स बभौ प्रथमं क्रमपारगः (महाभा० शा० मो० ३४२ अ० १०० श्लो०)"—इति। एष च बाभ्रव्यः, पाणिनेः पूर्वभवः; यतः "मधुबभ्रोर्ब्राह्मणकौशिकयोः (पा० ४. १. १०६.)"—इति सूत्रस्य दर्शनात्। एतस्य च क्रमाध्ययनस्य प्रयोजनकथनावसरे चोक्त मिदं बह्वृक्प्रातिशाख्य-भाष्ये "भवति चात्र श्लोकः—'शरदुज्ज्वलो वितिमिरो विभाति भगवान् यथांशुमान्। सत्यवचनवित्तमः क्रमकः क्रमते हि संशयं तमस्तथात्मवान्' —इति (११. २७.)। एवञ्च वेदसंहितासु श्रुतानां मन्त्राणा मर्थबोधोप-योगिपदच्छेदादिविषयकसंशयनाशायैव क्रमग्रन्थाः प्रादुर्भूताः पुरा इत्येव क्रमहेतुसारम्। तादृशसंशयस्तु भवेन्नामेदृशसर्वतोमुखव्याकरणाविर्भावात् प्रागेव; आविष्कृते ह्येतादृशे व्याकरणे नैव तादृशसंशयस्य प्रसरतेति। अतश्च ज्ञायते पाणिनेः पूर्वं बाभ्रव्यकाले ऽपि नासीदेवं सर्वतोमुखं सर्वाङ्ग-सम्पन्नं व्याकरणं नाम किं मपीति पञ्चमम्।

बाभ्रव्यः खलु ऋग्वेदस्य क्रमकारः; अतो बह्वृक्प्रातिशाख्ये तस्यैव नाम-ग्रहणम्; तथा हयग्रीवो यजुर्वेदस्य। स एव चैतस्याः पद्धतेः प्रथमोद्भावकः। अत एवोक्तं महाभारते तत्पूर्व मेव—"यत्तद्धयशिरः पार्थ समुदेति वरप्रदम्। सोऽह मेवोत्तरे भागे क्रमाक्षरविभागकृत्। वामादेशित-मार्गेण मत्प्रसादान्महात्मना"—इति; एतदुत्तर मुक्तं प्रदर्शितं पुरस्तादिहैव "पाञ्चालेन०—०क्रमपारगः"—इति। एवं कण्डरीकः खलु गालवस्त्वर्षिः सामसंहितायाः छन्दोविभागस्य क्रमकृत्, ब्रह्मदत्तस्त्वार्थर्वसंहितायाः।

ताविमौ बाभ्रव्यस्यावरजाविति चास्ति तत्रैव महाभारते तदुत्तरम्—"नारायणाद् वरं लब्ध्वा प्राप्य योग मनुत्तमम् । क्रमं प्रणीय शिक्षाञ्च प्रणयित्वा स गालवः । कण्डरीकोऽथ राजा च ब्रह्मदत्तः प्रतापवान् (महाभा० शा०मो० प० ३४२ अ० १०१, १०२ श्लो० )"—इति । अपि च गालवस्यायं बाभ्रव्यपरजोऽपि पाणिनितः पूर्वज एव; तदीयाष्टके हि "इको ह्रस्वो ऽङ्यो गालवस्य (पा० ६. ३. ६१.)"—इत्यादौ गालवनामस्मरणात् । तथाच गालवकालेऽपि नाविष्कृत मेवं सर्वतोमुखं व्याकरण मन्यथा कृतं नाम सामयोनिक्रमपाठेनेति षष्ठम् ।

अस्ति चैको ग्रन्थो वैदिकानां "चातुर्ज्ञानम्"—इति । ततश्च ऋक्संहिताग्रन्थे विसर्गसन्धीनां, सन्ध्यक्षरसन्धीनाम्, नान्तपदानाम्, समस्तासमस्तानां च बोधो भवति । तथाहि—ऋग्वेदसंहितायाः प्रथमेऽष्टके अग्निमीळे—इति वर्गे—"सुता विश्वा दधाना अजोषा इन्द्रताः सोमपा इमा जुष्टा मत्सरा द्रप्सा घृतपृष्ठा यजत्रा द्रविणोदा धानाः शुभ्राः पश्चदश । तुविजातौ दधानाइन्द्रे योगे चक्षसे महाधने ये वृहते हूमहे यज्ञे सुजिह्वौ श्रियत एकादश; यएकस्वर्षणीनां कक्षीवन्तं य इति वर्जयित्वा । अवीवृधन् दुहन् आदित्यान् विश्वान् पर्वतान् पञ्च । पावकासने तदिमं द्वैपदम्, दुहन् रोहयञ्चेष आश्रुत्कर्णैकपदम्, सहस्रसातमं द्वितीयं नेष्टरिति दीद्यग्नी इति दीद्यग्नी ऋतेन द्वैपदम् ( १. १. १. )"—इति । पदगाढ़ादयो वैदिकग्रन्था अप्येव मेव । एतादृशाश्च ग्रन्थाः स्युस्तावदेव कृतार्थाः यावन्नैवाभिभूतं पाणिनीयसदृशं कि मपि सर्वतोमुखं व्याकरणम्; प्रचलिते ह्येतादृशव्याकरणे विसर्गसन्ध्यादिसंशयानां प्रसरतैव कथ मिति सुधीभिरेवाकल्यतां समन्तादिति सप्तमम् ।

एव मस्ति चापरो ग्रन्थो वैदिकानां "सप्तसङ्ख्या"—इति नाम । तत्र ऋग्वेदसंहितायाः प्रतिवर्गस्य पदानाम्, इतिकरणानाम्, द्विःखण्डानाम्, विसर्गानाम्, मकारान्तानाम्, नकारान्तानाम्, तकारान्तानाञ्चेति सप्तानां सङ्ख्याः अङ्काक्षरैर्निर्दिष्टाः । तथाहि—"अयं देवाय"—इति—प्रथमाष्टकीयद्वितीया-

ध्यायीयाद्यवर्गे "४३ । २ । ८ । १४ । ६ । २ । ० ।"–इति (२. १.१.)। एतेन तु निःसंशयं विज्ञायत एतत् ;— तत्र वर्गे त्रिचत्वारिंशदेव पदानि ; द्वे एव इतिकरणे ('हरी इति', 'पुनरिति') ; अष्टौ एव द्विःखण्डानि ('रत्नऽधातमः', 'वचःऽयुजा', 'परिऽज्मानम्', 'सुऽखम्', 'सबःऽदुघाम्', 'सत्यऽमन्त्राः,' 'ऋजुऽयवः', 'राजऽभिः')। द्विःखण्ड मित्युक्ते समस्तस्यासमस्तस्य चावग्रह्यस्यान्तःपदस्य पदस्य बोधो भवति। तथाहि—"अन्तः पदं येषां स्याद् विकारोऽनन्यकारितः। एतानि परिगृह्णीयाद् बहुमध्यगतानि च (ऋ० प्रा० १०. ६८)"—इत्याह शौनकः। 'अवग्रह्याणि द्विःखण्डानि पूर्वोत्तरपद्यभूतानि'–इत्यादि च तत्रोव्वटः। प्रदर्शितेष्विह तु 'रत्नऽधातमः'–इत्यत्र 'रत्नानां धातमः'–इत्येवं समास इष्टः पदकारस्य शाकल्यस्य, तथैवान्येषा मपि पाणिनिपूर्वजानाम्; किञ्च राजभिरित्यत्र अन्तः-पद-कार्यस्य न-लोपस्य कर्त्तव्यत्वात् तस्यापि द्विःखण्डत्व मन्तःपदत्व मिति। एवं तत्र वर्गे सन्ति चतुर्दशैव विसर्गाः; नवैव मकारान्तानि पदानि; द्वे एव स्तो नकारान्ते पदे; तकारान्तं पदन्तु नास्त्येक मपीति। तदेवमादीनां ग्रन्थानाञ्च प्रादुर्भावदर्शनात् गम्यत एवास्मात् पाणिनीयाष्टकात् पूर्वं नासीदेव कि मपि व्याकरणं सर्वतोमुखं सर्वाङ्गसम्पन्न मीदृशम्, यथा चैवमादीनां ग्रन्थानां प्रादुर्भाव एव न स्यादिति ; को हि नामाधीतपाणिनीयः पदच्छेदप्रभृतिज्ञानाय, विशेषतो द्विःखण्डज्ञानाय चैतादृशस्यापि ग्रन्थस्याध्ययने यतते साम्प्रत मित्यष्टमम्।

एवं सन्ति च "वैठ"–प्रभृतयः सङ्केतग्रन्थाः प्राचीनतमाः। तत्तदनुगतान्येव सङ्केताक्षराणि दृश्यन्ते वर्गाणां सूक्तानां साम्नां चान्तेषु। तादृशाक्षरसन्निवेशैश्च तत्तद्वर्गादिषु प्रगृह्यसङ्ख्यादीनां निश्चयतावगम्यते। तथाहि— "अग्निमीळे (ऋ० स० १. १. १.)"-इत्यस्य वर्गस्यान्तेऽधीयत एव "ङै"–इति सङ्केताक्षरम्। तेन च ज्ञायते—तत्र वर्गे नान्त-विसर्गान्त-पदानां विषमत्वम्, द्विःखण्डानां तु समत्वम्, प्रगृह्याभावः, स्यन्तवैषम्यञ्चेति। वस्तुतः सन्ति तत्र वर्गे विसर्गान्तानि सप्तदश, द्विःखण्डान्यष्टौ ; अस्ति च

एक मेव नान्तम्, स्यन्तश्चैकम्, प्रगृह्याभावश्चेति। एवं "घृतवती (ऋ० सं०५.१.१४.)"—इत्यस्य वर्गस्यान्तेऽधीयत एव खलु 'भ्रू'—इति सङ्केताक्षरम्। एतेन च तत्र वर्गे नान्त-स्यन्त-द्विःखण्डानां वैषम्यम्, विसर्गान्तानां साम्यम्, प्रगृह्यास्वैकत्रिंशत्,—इत्येवं बोधितं भवति। नास्ति च तत्र नान्तं स्यन्तं वा पद मेक मपि; सन्ति च द्विःखण्डानि सप्तविंशतिः, विसर्गान्तानि च पदानि चतुर्दश, प्रगृह्याख्यपदानि चैकत्रिंशदेवेति। तदेवमादीनां ग्रन्थानां तदैवोपयोगो विशेषत आसीत्, यदा नासीत् पाणिनीयसदृशं सर्वतोमुखं व्याकरणं कि मपि; पाणिनीये व्याकरणे, पाणिनीयसदृशापरव्याकरणे वा व्युत्पन्नानां हि कि मेतादृशसङ्केताक्षराभ्यासेन; ननु ते हि मन्त्रान् प्रपठ्यैव किमु नावगच्छेयुः प्रगृह्यादीनि? गच्छेयुरेवेति चेदवश्यं मन्तव्यं नासीत् पाणिनीयात् पूर्वं पाणिनीयसदृशं कि मपि सर्वतोमुखं व्याकरण मित्यत एव तादृशसङ्केतोपदेशाः समुद्भाविताः समादृतास्च तदानीन्तनैरिति नवमम्।

यच्च वोपदेवकृतस्य कविकल्पद्रुमस्य भूमिकाया मिन्द्रादीनां शाब्दिकाना मुल्लेखो दृश्यते—"इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः। पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥ मतानि तेषा मालोच्य सर्वसाधारणः स्फुटः। * * *। कविकल्पद्रुमो नाम पद्यैर्निष्पाद्यतेऽत्र च॥"—इति, तेनापि व्याकरणेषु पाणिनीयस्यादिमत्ता न विहन्यते; शाब्दिकत्वव्याकरणकर्तृत्वयोः सामानाधिकरण्यनियमाभावात्;— न ह्येवं कश्चिन्नियम उपलभ्यते, ये ये शाब्दिकाः, स्युरेव ते ते व्याकरणकर्त्तार इति; व्याकरणकर्तृत्वाभावे हि शाब्दिकत्वं न भवतीत्येवं नियमो नैव विचारसहः। तदेव मस्मन्मते, ष्वचोक्तेषु शाब्दिकेषु इन्द्रस्य प्रतिपदपाठाध्येतृत्वेन शाब्दिकत्वं महाभाष्ये वर्णित मेव, प्रदर्शितञ्च पुरस्तादिहैव (जु पृ०)। चन्द्रस्तु व्याकरणकर्त्तेति सत्यम्, परं न स पाणिनितः प्राचीनः; पाणिनिभाष्यानुसारत एव तेन व्याकरणान्तरं प्रणीतं यतः। तथाहि राजतरङ्गिण्याम्—"चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देशं तस्मात्तदागमम्। प्रवर्त्तितं महाभाष्यं स्वञ्च व्याकरणं

कृतम् (१.१.७६.)"–इत्युक्तं पुरस्तात् प्रदर्शित मेव। काशकृत्स्निस्तु शाब्दिक इति सत्यम्, परं न वैयाकरणः; अपि तु मीमांसकः। तथाहि महाभाष्ये—"काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी (४ अ० १पा० १ आ०)"–इति। शाब्दिकाना मन्यतमः खल्वापिशलिर्यतो "वा सुप्यापिशलेः (६.१९२)"–इत्युक्त्या पाणिनिना सम्मानितो दृश्यते, अतः पाणिनिसमकालिकः तत्पूर्वकालिको वेति प्रतीयत एव, परं नैतेन तस्य व्याकरणकर्तृत्व मङ्गीकर्तव्य मेव; न ह्युपलभ्यते इदानीं प्राचीनतमे वा भाष्यादौ तद्व्याकरणस्य सत्तेति; सामतन्त्रस्य च कर्त्ता खल्वापिशलिरित्यस्ति च प्रवादः क्वाचित्कः। शाकटायनस्य तु ऋक्तन्त्रं व्याकरण मद्यापि विद्यत एव, परं न तेन समासतद्धितादीनां सर्वेषां बोधो भवति सर्वथा; नापि च तेन सुद्युपास्य इत्यादीनां साधनिका ज्ञायन्ते। न च तस्यात्र निरुक्ते व्याकरणत्वेन ग्रहण मिष्टं गम्यते; यास्केन हि प्रायो वैयाकरणेभ्यः पृथक् कृत्वैव तन्नामग्रहणं कृत मिति दृश्यत एव। तथाहि— "नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च; न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां च (२भा० ८३पृ०)"–इति। अमरोऽपि न व्याकरणकृत्, नापि पाणिनेः पूर्वभव इति तु सुप्रसिद्ध मेव। जैनेन्द्रस्तु सत्य मभवत् सर्वतोमुखस्यैव व्याकरणस्य प्रणेतेति; दृश्यत एव हि तद्व्याकरण मद्यापि, परं तस्य पाणिनिपरजत्वं तु सर्वसम्मत मेवेति दिक्॥

यश्चैष प्रवादः,—आसीत् पुरा माहेशं नाम व्याकरणं पाणिनीयतोऽपि बृहत्तरं पुरातनञ्चेति। तथा चोद्भटश्लोकोऽप्ययम्—"यान्युज्जहार माहेशाद् व्यासो व्याकरणार्णवात्। किं तानि पदरत्नानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे"–इति। तदेतस्य मातृपितृनिर्णयहीनत्वात् अप्रामाण्य मेवेति विदुषां परामर्शः। मधुसूदन-सरस्वती तु प्रस्थानभेदे इद मेव व्याकरणं माहेश्वर मित्याह। तथाहि—"तत्र वृद्धिरादैजित्याद्यष्टाध्यायात्मकं महेश्वरप्रसादेन भगवता पाणिनिनैव प्रकाशितम्; अत्र कात्यायनेन मुनिना पाणिनीयसूत्रेषु वार्त्तिकं विरचितम्; तद्वार्त्तिकस्योपरि च

भगवता मुनिना पतञ्जलिना महाभाष्य मारचितम्। तदेतत् त्रिमुनि व्याकरणं वेदाङ्गं माहेश्वर मित्याचक्षते"—इति। "अइउण्"—इत्यादिषु चतुर्द्दशसु सूत्रेषु पुरासीत् बृहद्व्याख्यानं नन्दिकेश्वरकृतम्, तदेव माहेश मिति व्यपदिष्ट मिति च वृद्धाः। अस्मन्मते तु पाणिनीयद्वेषिणा केन चिदाधुनिकेनैवैष श्लोकः प्रकाशितः, आसीन्माहेशं नाम अतिबृहद् व्याकरण मिति प्रवादोऽपि तदनुगत एव; ततो माहेशन्तु वस्तुतः खपुष्प मिव त्रैकालिकाभावसम्पन्न मेवेति॥

किञ्चेह पाणिनीये अत्रि–शाकल्य-काश्यप–भृगु–कुत्स–वसिष्ठ–गोतम–कौण्डिन्य–जावाल–वडवा–यस्क*–शाकटायन–कौरव्य–मण्डूक–मधु–बभ्रु–पीला–कलापि–वैशम्पायन–तित्तिरि–वरतन्तु–कौशिक–शौनक†–गालव–भारद्वाज–चाक्रवर्म–स्फोटायन–आपिशलि-आङ्गिरस-छागलि–कठ–चरक–पाराशर्य्य–शिलालि–प्रभृतिबह्वाचार्यनामस्मरणात् तेभ्यो ह्यवरजत्व मस्य पाणिनेः स्फुट मेवेत्यवश्यं स्वीकार्यम्; परं न तथा स्वीकारे स्वीकृतं भवेत्,—एतत्पुरापि कश्चिदासीद्व्याकरणग्रन्थ ईदृश इति। वस्तुतस्तेषु केचिदाचार्याः पाणिनिसमकाला एव, तेषां भाषाव्यवहारतो ज्ञातानि तेन भगवता तेषां शाब्दमतानि; ये केचन तत्पूर्वभवाः, तेषा मपरशास्त्रीय-ग्रन्थादिदर्शनादपि सम्भवेन्नाम तदीयशाब्दमतज्ञानम्; ये तु व्याकरण-कर्त्तारोऽपि, तेषां तान्यपि व्याकरणानि, न ह्येतादृशानि सर्वतोमुखानि सर्ववेद–लोक–विषयाणीति चावश्य मुररीकर्त्तव्य मस्मत्प्रदर्शितहेतुभिः, निर्बीजादृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च।

गरुडपुराणोक्तस्य कुमारव्याकरणस्य तु वोपदेवकृतात् मुग्धबोधादपि आधुनिकत्वम्; तच्च "तिप्तसन्ति प्रथमो मध्यमः सिप्थस्थोत्तमपूरुषः। मिब्वस्मसः परस्मै तु पदानाञ्चात्मनेपदम्"—इत्यादिपाठादेव स्फुटम्। अग्नि-पुराणाद्युक्तानि व्याकरणानि तु वालक्रीड़नानीव। कार्त्तिकेयोक्तव्याकरणा-दीन्यपि पाणिनीयप्रवेशाय कृतान्येवेत्यल मिह बहुजल्पनेनेति।

---

* नायं निरुक्तकृद् यास्कः। † नायं प्रातिशाख्यादिकृत्।

तदेवं पाणिनीयस्यैवादिव्याकरणत्वात् यास्कीयेऽत्र निरुक्ते यत्र क्वचित् व्याकरणनामोल्लेखो दृश्यते, तत्सर्व मेव यास्कस्य पाणिनीयपरभवत्वे विनिगमकम्; न हि यास्कीयनिरुक्तात् पूर्वं किञ्चन सर्वतोमुखं व्याकरणं पाणिनीय मन्तरेण स्थित मिति पाणिनेर्यास्कपूर्वजत्वं सुवचम् ॥

सोऽयं भगवान् पाणिनिः खलु युधिष्ठिरवासुदेवार्जुनेभ्यः परभव एव ; तदीयेऽष्टके "गवियुधिभ्यां स्थिरः (८. ३. ९५.)"—इत्यस्य, "वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् (४. ३. ९८.)"—इत्यस्य च सूत्रस्य दर्शनात्। किञ्च पारिक्षिताद् जनमेजयाच्चायं किञ्चिदुत्तरभवः ; एतदीये ह्यष्टके जनमेजयपदसाधनायैव "एजेः खश् ( पा० ३. २. २८. )"—विधानात्। जनमेजयस्तु युधिष्ठिर-तृतीयभ्रातुरर्जुनस्यैव पौत्रः। अर्जुनः खलु "शतेषु षट्सु सार्द्धेषु अधिकेषु च भूतले। कलेर्गतेषु वर्षाणा मभवन् कुरुपाण्डवाः (१. ५०.)"—इतिराजतरङ्गिणीलेखदर्शनात् कलेः सप्तमशताब्द्यां स्थित इति ध्रुवम्। ततश्च जनमेजयः खलु कलेरष्टमशताब्दीज इत्येव सम्भाव्यते। व्यासोऽपि कश्चित् तदानी मासीदिति च महाभारताख्यानादिभिर्ज्ञायत एव; तस्य व्यासस्य पुत्रः शुकोऽपि तच्छताब्दीज एव भवितु मर्हति, परं यतश्च व्यासपुत्रशुकवाचकवैयासकिसाधनाय न कश्चिद् दृश्यते योगः पाणिनीयः, दृश्यते च "व्यासवरुण० (पा० ४. ३. ९७. वा०)"—इति वार्त्तिकम्, अतोऽवगम्यते वैयासकिपरिचयो नैव विदितः पाणिनेरित्यपि। एतावता व्यासपुत्रस्य शुकस्य लोके ख्यातिप्रतिपत्तिलाभात् पुरैव प्रणीत मिद मष्टकम्पाणिनीय मिति। तदित्थं सम्पद्यते,—कलेरष्टम्या मेव शताब्द्यां खीष्टजन्मतश्च प्राक् चतुर्विंशशताब्द्यां किल भूषयामास स पाणिनिरिम मार्यावर्त्त मितीति ॥

(व्याडिः) उक्तं पुरस्तात् (जि पृ०) ऋक्प्रातिशाख्यकृतः शौनकस्य पाणिनिपरजत्वम्, यास्कस्य तु ततोऽप्यर्वाचीनत्वम् ; तदेवावसरप्राप्त मिदानीं निर्णेतु मादौ व्याडिविषयेऽपि किञ्चिद् ब्रूमः। तथाहि— अस्ति पाणिनेरष्टके स्वरप्रकरणे "आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी (६. २. ३६.)"—

इति सूत्रम्; अत्र च कृतः सन्देहो वार्त्तिककारेण—"आचार्योपसर्जने ऽनेकस्यापि पूर्वपदत्वात् सन्देहः"—इति; "आपिशल-पाणिनीय-व्याड़ीय-गौतमीयाः, एकं पदं वर्जयित्वा सर्वाणि पूर्वपदानि, तत्र न ज्ञायते कस्य पूर्वपदस्य स्वरेण भवितव्य मिति"—इत्येवं च तद्भाष्ये तत्सन्देहोपपादनम्। अत्र हि सन्देहोदाहरणे आपिशलादीनां ननु "अभ्यर्हितञ्च (पा० २. २. ३४. वा०)"—इति शासनात् अभ्यर्हितक्रमेणैवास्ति सन्निवेशः; अभ्यर्हितत्वञ्च तेषां स्वस्वाचार्यपौर्वापर्यमूलक मेवेति। तथा च आपिशलितः पराचीनः पाणिनिः, पाणिनितस्च पराचीनोऽयं व्याड़िरिति तु व्यज्यत एव; किञ्चेह कात्यायनीयोदाहरणे व्याड़ीयशब्ददर्शनात् कात्यायनात् खलु प्राचीनोऽयं व्याड़िरित्यत्र च कास्ति वक्तव्यता? तदेतस्मादेकस्मादेवोदाहरणविन्यासाद् द्वे एव विज्ञाते,— व्याड़ेः पाणिनितोऽवरजत्वं कात्यायनतः पूर्वजत्वञ्चेति।

स च व्याड़िः, 'सङ्ग्रह'—नामकस्य पाणिनीयव्याख्यानविशेषस्य प्रणेता। तत एवोक्तं महाभाष्ये पस्पशायाम्—"सङ्ग्रहे एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्,—नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः,— यद्येव नित्यः अथापि कार्यः उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्त्य मिति"—इति। "सङ्ग्रहे = ग्रन्थविशेषे"—इति च तद्व्याख्यायां कैयटः। "सङ्ग्रहो व्याड़िकृतो लक्षश्लोकसङ्ख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धः"—इति च तद्विवरणे नागेशभट्टः। तदेतस्मादेकस्माच्चेमे विदिते—व्याड़िरेव सङ्ग्रहस्य कर्त्तेति, स तु पाणिनितोऽवरजस्चेति।

स च दाक्षायण इत्यप्युच्यते। अस्ति पाणिनिसूत्रम्—"उभयप्राप्तौ कर्मणि (२. ३. ६६.)"—इति। "शेषे विभाषा"—इति च तत्र कात्यायनस्य वार्त्तिकम्। "शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः, शोभना खलु पाणिनिना सूत्रस्य कृतिः; शोभना खलु दाक्षायणस्य सङ्ग्रहस्य कृतिः, शोभना खलु दाक्षायणेन सङ्ग्रहस्य कृतिः"—इति च तदुदाहरणानि। तदेतदामूलसमालोचनया च त्रीणि विज्ञातानि भवन्ति,— दाक्षायण इति

सङ्ग्रहकर्त्तुर्व्याडेरेव नामान्तरम्, स च पाणिनितोऽवरजः, कात्यायनतोऽग्रजश्चेति ॥

ये केचिदाहुः— दाक्षायण इति युवप्रत्ययदर्शनात् तस्य खलु व्याडेः दाक्षीपुत्र-(पाणिनि)-समकालिकत्वम्, तदसङ्गत मेव; न हि समकालिकग्रन्थे एवेदृशी श्रद्धा समुत्पद्येत, यत् तत्र लक्षश्लोकात्मकं व्याख्यान मारचयेदिति। नापि हि पाणिनिकाले एव पाणिनीयसूत्राणा मेवं व्याख्यानं प्रयोजनीयं भवितु मर्हति; तदानीन्तनानां सर्वेषा मेवातिबुद्धित्वात्; किञ्च सूत्रकाले एवैवं व्याख्यानं प्रयोजनीयं चेत्, तादृशसूत्रप्रणयनं सूत्रकाराणा मसङ्गत मेव स्यात्; न हि लोकहितचिकीर्षुभिः पाणिन्यादिभिः लोकविडम्बनायैव दुर्बोधसूत्ररचनं सम्भाव्यते। अतोऽस्मन्मते तु पाणिनिजन्मतोऽन्यूनद्विशताब्द्यन्तरे जातोऽयं व्याड़िः, तदानीन्तनानां पाणिनीयावगमे कष्ट मेवानुभूय सुहृद्भूत्वैवान्वाचचक्षे तद्व्याख्यानं सङ्ग्रहं नाम; न हि द्विशताब्दी मन्तरा तथा मन्दबुद्धित्वं सम्भाव्यते, यथा च सूत्रबोधाय तादृश मतिबृहद् व्याख्यान मतिप्रयोजनीयं भवेदिति।

आदिदक्षस्यैवापत्यं युवा स्याद् दाक्षायणो नान्यः, एव मपि न नियमः; दक्षगोत्रीयस्य शततमस्यापि यस्य कस्याप्यपत्यं युवा भवितु मर्हत्येव दाक्षायण इति; तत्र वाधादर्शनात्, जीवद्वंश्यत्वमात्रस्यैव युवसञ्ज्ञानिदानत्वाच्च। जीवद्वंश्यत्वन्तु शततमस्यापि हि उपलभ्येत चेत्, तत्रापि युवसञ्ज्ञया भवितव्य मेवेति वैयाकरणानां सिद्धान्तः।

किञ्च युवप्रत्ययस्तु जीवद्वंश्यादावेव भवति नान्यत्रेति च न नियमः, अपि जीवद्वंश्यादौ भवत्येवेत्यपि नायं नियमः; वार्त्तिककार—कात्यायनेन हि "वृद्धस्य च पूजायाम्" युवसञ्ज्ञा विहिता, "यूनश्च कुत्सायां गोत्रसञ्ज्ञा" अपि कृतैवेति युवसञ्ज्ञा मधिकृत्य महाभाष्ये लघुशब्देन्दुशेखरे चैतत् सर्व मेव सुव्यक्तम्। तदेवं दक्षगोत्रजो मान्यः कश्चिदद्यतनीयोऽपि दाक्षायण इत्युच्येतैव, किं सङ्ग्रहकारस्य व्याडेः दक्षगोत्रविभूषणस्य ?

अन्यच्च; यदि हि नाम स व्याड़िः पाणिनेः समकालिको मातुलपौत्रश्च

स्यात्, तर्ह्यवश्यं दृश्येत सूत्र मध्ये ‘व्याड्यादयः शालायाम्’—इत्येव;— न च “छाद्यादयः शालायाम् (६.२.८६.)”—इति; व्याडिशालाया एव पाणिनेर्मनसि पूर्वोदयसम्भवात्। तत्रैव छात्र्यादिगणे व्याडिशब्दस्य पाठः खलु व्याडेः पाणिनिसमकालिकत्वं बोधयतीत्यपि वक्तुं न युज्यते; गणपाठे हि काले काले शब्दाः सन्निवेश्यन्ते,—इति तु सर्वैरङ्गीकर्त्तव्य मेव। सिद्ध मित्थं व्याडेराचार्यस्य आदिव्याकरणाचार्यात् पाणिनितो बहुकालपरजत्वं वार्त्तिककाराच्च कात्यायनात् बहुपूर्वजत्व मपीति ॥

(शौनकः) प्रातिशाख्यकृत्-सङ्ग्रहकृतोः शौनक-व्याड्योश्च समकालिकत्व मवगम्यते। अस्ति हि शौनकीये ऋक्प्रातिशाख्येऽसकृद् व्याडेरुल्लेखः, अस्ति च व्याडिकृतायां विकृतिवल्ल्यां मसकृच्छौनकस्यावगमश्च। तद्यथा,—

शौनकीये ऋक्प्रातिशाख्ये व्याडेरुल्लेखः—“परिग्रहे त्वनार्षान्तात्तेन वैकाक्षरीकृतात्। परेषां न्यास माचारं व्याडिस्तौ चेत् स्वरौ परौ (३प० ८.)”—इति। “अनार्षादितिकरणात् परेषा मक्षराणां न्यास मनुदात्तत्व माचारं गम्यते व्याडिराचार्यः”—इत्येवमादिकञ्च तत्रोव्वटकृतं भाष्यम्। तथा “उभे व्याडिः समस्वरे (३प० १३.)”—इति। “व्याडिस्त्वाचार्यः”—इत्यादि च तद्भाष्यम्। “व्याडेः सर्वत्राभिनिधानलोपः (६प० २१.)”—इति। “व्याडेराचार्यस्य”—इत्यादि च भाष्यम्। अपरञ्च “समापाद्यं नाम वदन्ति षत्वं तथा णत्वं सामवशांश्च सन्धीन्। उपाचारं लक्षणतश्च सिद्ध माचार्या व्याडिशाकल्यगार्ग्याः (१३ प० ३८.)”—इति। “तथा वदन्ति के? आचार्याः,—व्याडि-शाकल्य-गार्ग्याः”—इत्यादि च तद्भाष्यम्। अपर मपि “व्याडिर्नासिक्य मनुनासिकं वा (१३ प० ४४.)”—इति। “व्याड़िराचार्यः”—इत्यादि च तत्र भाष्यम्। तान्येवमादीनि व्याडिमतानि तु पाणिनीयव्याख्यानरूपात् सङ्ग्रहग्रन्थादेव शौनकेन सङ्गृहीतानीत्यपीह ध्येयानीति।

एवं व्याडिकृतायां विकृतवल्ल्याञ्च शौनकस्यावगमः— “अनुलोमे यथाक्रमम् (वि० व०१.८.)”—इत्यत्र “यथाक्रमशब्देन प्रातिशाख्योक्ता अन्व-

त्वरच्चैप्रादयो द्रष्टव्याः"—इत्याह विकृतिकौमुदीकृत्। तथा 'व्युत्क्रमे क्रमवत् सन्धिः (१.११.)"—इत्यत्र च "विपर्ययक्रमसन्धौ शौनकोक्ताः चैप्रादिसन्धयो भवन्तीत्यन्वयः"—इत्यादि चाह स एव कौमुदीकृद्भट्टाचार्यः। तत्रैव "डकारादिविधानम्"—इतिव्याख्यायां चोक्तम्— "डकारस्य ळ्हकारादेशः शौनकोक्त एव"—इत्यादि। तथाग्रेऽपि "एकारौकारपरस्तु अकारोऽभिनिहन्यते (१.१३.)"—इत्यस्य कौमुद्याम् "उद्ग्राहसन्धौ शौनकाचार्यैः प्रकृतिभावनिमित्तं प्रापितः 'प्रकृत्यान्तः (पा० ६.१.११५.)'—इत्यनेन सूत्रेण"—इत्यादि। स्पष्टं चास्ति तत्र शौनकनामोल्लेखः "उदात्तादिविधानं तच्छौनकोक्तं भवेदिह (वि० व० १ प० १५ श्लो०)"—इति।

अतो मन्यते सुष्ठ्वनुमितं शौनकव्याड्योः समकालिकत्व मिति। तत्र च प्रथमं तावत् व्याडिराचार्यः पाणिनेरष्टक मवलम्ब्य सङ्ग्रह मारचितवान्; ततः शौनकाचार्यः शाकलसंहितायां विशेषाख्यापनाय प्रातिशाख्यं प्रणीतवान्; ततस्त तत्परिशिष्टस्थानीया अष्टप्रकरणा विकृतिवल्ली कृता पुनस्तेनैव व्याडिनेत्यपि प्रतीयते तत्तद्ग्रन्थसमालोचनादिभिरिति॥

एतौ च शौनक-व्याडी गुरुशिष्यौ,—इत्येतदपि विज्ञायते, तत एव विकृतिवल्लीग्रन्थात्। तथाहि तन्मङ्गलाचरणे—"नत्वादौ शौनकाचार्यं गुरुं वेदमहानिधिम्। मुनीन्द्रं सर्ववेदज्ञं ब्रह्मज्ञं लोकविश्रुतम् (२)"—इति। एव मपि सिद्ध मेतयोः समकालिकत्वम्। तस्मान्नून मसौ प्रातिशाख्यकृच्छौनकः पाणिनेः परभव एवेति॥

ननु शौनकस्य पाणिनिपरभवत्वं सत्य मेवेति चेत्, कथं न तत्कृते ब्रह्मक्प्रातिशाख्ये पाणिनेर्नामोल्लेखः? अत्रेदं सम्भाव्यते,— यथा च सम्प्रति भट्टोजिदीक्षितकृता वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी नाम वृत्तिः प्रचलिता, अत एवाविशेषेण 'पाणिनीयव्याकरण मधीते'—इत्युक्ते तद्वृत्तिसमन्वितस्यैवाध्ययनस्य बोधो भवति, 'कौमुदी मधीते'—इत्युक्ते च पाणिन्यष्टकान्विताया एव तस्या वृत्तेरध्ययनं प्रतीयते, अपि च व्याकरणकारोल्लेखप्रसङ्गे तद्वृत्तिकर्त्तुः दीक्षितस्यापि नामोल्लेखः क्रियत एव; तथैव शौनककाले

अपि सङ्ग्रहसङ्ग्रहस्यैव व्याकरणत्वेन प्रसिद्धिरासीत्, सङ्ग्रहकारस्य च तस्य व्याडेर्व्याकरणकर्तृत्वेनेति । तदुक्तं मस्ति हेमचन्द्रीये चाभिधानचिन्तामणौ —"सङ्ग्रहवृत्त्यर्थपदं महार्थम् (१२. २८.)"—इति सङ्ग्रह-विवरणम् । तदेवं व्याडेरुल्लेखादेव पाणिनेरुल्लेखः सिद्धः । सत्येवं शौनकीयप्राति-शाख्यादौ यत्र क्व च व्याकृतिविषये व्याडेराचार्यस्य नामोल्लेखो दृश्यते, तत्सर्वमेव पाणिनिमतस्मारकम्; व्याडेः खलु पाणिनीयव्याख्यातृत्वेनैव वैयाकरणत्वसिद्धेः; न हि व्याड़िर्व्याकरणसूत्रकारः । तथाच— यद् दृश्यते ऽत्र "व्याड़िर्नासिक्य मनुनासिकं वा (ब० प्रा० १३ प० ४४.)"—इति, तदिदं "मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (१. १. ८.)"—इत्यस्य पाणि-नीयस्य सूत्रस्यैव व्याड़िकृतं व्याख्यानं शौनकेन संस्मृत्योल्लिखित मित्येव गम्यते । एव मन्यत्रापि । भाष्यकृताप्युक्तं पस्पशायाम्— "अथ व्याकरण मित्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः? सूत्रम् । * * * । न हि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते । किन्तर्हि? व्याख्यानतश्च । ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति? न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्— 'वृद्धिः, आत्, ऐच्'—इति । किन्तर्हि? उदाहरणम्, प्रत्युदाहरणम्, वाक्याध्याहारः—इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति"—इति । अत एव चोक्तं दृश्यते वृत्तौ— "ससङ्ग्रहं व्याकरण मधीते"—इति ( पा० ६. ३. ७९.) । अपि च शौनकीये हि तत्र प्रातिशाख्ये आचार्यपदेनापि पाणिनेः स्मरणं बहुत्र लभ्यते । तथाहि—"अष्टावाद्यानवसानेऽप्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान् स्वरान् । तन्निमित्ते शाकला दर्शयन्त्याचार्यशास्त्रा-परिलोपहेतवः ( १. ४. १. )"—इत्यत्रावश्यं पाणिनिकृतम् "अणोऽप्रगृह्य-स्यानुनासिकः (८.४.५७.)"—इत्येव सूत्रं लक्ष्यीभूत मिति स्वीकार्य मिति ॥

किञ्च पाणिनीयप्रणयनात् पुरा कस्यापि प्रातिशाख्यग्रन्थस्य प्रचारः समभवदित्यपि न प्रतीयते, क्वचिदपि पाणिनीयसूत्रे प्रातिशाख्यशब्दा-दर्शनात्; प्रातिशाख्यशब्दव्युत्पत्तये वार्त्तिककृत्कृतयत्नस्योपलाभाच्च । तथाहि—"गम्भीराञ्ञ्यः(४.३.५८.)"—इति सूत्रे उक्तं कात्यायनेन "अव्ययक-

रणे परिमुखादिभ्य उपसङ्ख्यानम्"–इति ; परिमुखादिगणे एव च दृश्यते "प्रतिशाख"–इति । परिषच्छब्दस्तु दिदृश्यते पाणिनीयेऽपि, परं न तत्र तत्र प्रातिशाख्यार्थोऽवगम्यते ; अपि तु गाथकार्थं एव । तथा "पार्षदकृतिरेषा तत्र भवतां नैव लोके नान्यस्मिन् वेदे अर्द्ध एकारोऽर्द्ध ओकारो वास्ति (१ अ० १ पा० ७ आ०)"–इति महाभाष्यवचनस्य नागेशादिकृतं व्याख्यानं चालोच्यम् ।

वस्तुतस्तु शाखाविशेषेषु व्याकृत्यादिविशेषबोधनपरा एव प्रातिशाख्य-ग्रन्थाः, सामान्यतः सर्वशब्दानुशासनाय प्रवृत्तात् पाणिनीयाद्व्याकरणादवरजा एव भवितु मर्हन्ति । अतस्तथैवोक्तं बह्वृक्प्रातिशाख्यशास्त्रप्रयोजनश्लोक-व्याख्यानावसरे तत्तृतीयवृत्तिकृतोव्वटेन, कृतश्च तत्र पाणिनिसूत्रोद्धरणम् । तथाहि—"तथा व्याकरणे यत् सामान्येन, यथा—'ऋचि तु-नु-घ-मक्षु-तङ्-कु-त्रोरुष्याणाम् ( पा० ६. ३. १३३. )'-इति, तद् व्यवस्थापयितु मिद मारभ्यते ; न सर्वत्रैतानि पदानि अस्यां शाखायां दीर्घा भवन्ति । यथा— "–इत्यादि । एव माथर्वणप्रातिशाख्येऽप्युक्तं स्वयं सूत्रकृतैव "एव मिहेति च विभाषाप्राप्तं सामान्येन"–इति । सामान्येन लक्षणेन पाणि-नीयेन यद् विकल्पेन प्राप्तम्, तदेव मस्यां शाखायां व्यवस्थितं भवतीति च तदर्थः । अत एवोक्तं महाभाष्यकारेण च—"अवश्यं खल्वप्यस्माभिरिदं वक्तव्यम्, बहुल मन्यतरस्या मुभयथा वा एकषा मिति । सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्, तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम् (म० भा० २ अ० १ पा० ३ आ० )"–इति ।

अथ केषाञ्चिन्नये प्रातिशाख्यकृच्छौनक एवैकः सूक्तद्रष्टा, मण्डलद्रष्टा, कल्पकृत्, शाखाप्रवक्ता चेति । पूर्वप्रदर्शितानि षड्गुरुशिष्यवचनान्येवात्र वीज मुपलभ्यते ; तत्रापि नामैक्य मेव, नान्यत् किञ्चनेत्यस्माकम् । समा-सतः खण्डितञ्चैतत् पुरस्तादेव (चि ए०) । वस्तुतस्तु शुनकवंशीयाः अद्य-तनीया अपि शौनका एव ; तस्मान्नामैक्यवीजकं तादृश मद्भुतमतं त्वतिभ्रमविजृम्भित मिवैव प्रतिभाति ; न हि तत्र किमपि मानं लभ्यते,

प्रत्युत लभ्यन्त एव वादा बहवः। तेषां कतिचित् पुरस्तादेव ध्वनिताः*, प्रदर्शयिष्यामश्चोपरिष्टादपि (वेदसमालोचने) कतिचिद्। इह च किञ्चित् प्रकटयामः।—

प्रातिशाख्यकारस्य शौनकस्य तु मुनित्वेन व्यवहारदर्शनात् ऋषिकालात् परभवत्व मध्ययुगीयत्वञ्च। तथाहि—"नत्वादौ शौनकाचार्यं गुरुं वन्दे महानिधिम्। मुनीन्द्रं सर्ववेदज्ञं ब्रह्मज्ञं लोकविश्रुतम्"—इति विक्षतिवल्ल्यां व्याड़िवचनम् (२); न हि तेन तत्रोक्तम् ऋषीन्द्र मिति। पाणिन्यादीनां पतञ्जल्यन्ताना मध्ययुगीयाना मेव हि मुनित्वेनैव व्यवहारो दृश्यते प्रधानतः सर्वत्र, ऋषित्वेनापि व्यवहारस्त्वापेक्षिकः पूजार्थश्च; पतञ्जलेः परभवानां महाभारतकारादीनां तु सर्वेषा मेव कवित्वेनैव व्यवहारो दृश्यते प्रधानतः सर्वत्र, मान्यार्थ एवर्षित्वेन व्यवहारस्त्वौपचारिकः; पाणिनिपूर्वजाना मापिशलि-शाकटायन-गार्ग्य-शाकल्य-कल्पकृच्छौनक-माण्डव्य-पाराशर्यप्रभृतीनां त्वाचार्यत्वेनैव व्यवहारो दृश्यते प्रधानतः सर्वत्र, ऋषित्वेन व्यवहारस्त्वातिदेशिकः; तेभ्योऽपि प्राचीनतमानां पुराकल्पश्रुतानां वसिष्ठ-वामदेव-सूक्तमण्डलदृक्शौनकादीनां मन्त्रद्रष्टृणा मेव ऋषित्वं मुख्य मिति तु प्रतिपादितं पुरस्तादेव (खु—गी पृ०)। तदेवं प्रातिशाख्यकृच्छौनको नून मध्ययुगीयः; तत्रापि व्याड़िसमकालिक इति पाणिनिपरजस्तातो नास्य कथ मपि युज्यते सूक्तद्रष्टृत्वादिक मितोऽप्यपास्तं षड्गुरुशिष्यमतम्॥

एवञ्च यद्यपि बहूना मेव वैदिकग्रन्थानां प्रणेतनाम शौनक इत्येवं श्रूयत एव, परं न हि तन्मात्रेणैव तेषां सर्वेषा मेक एव प्रणेतेति प्रामाण्य मुपगन्तु मर्हतीति शौनकानां विभिन्नव्यक्तित्व मसमकालिकत्वञ्च सुतरां सम्पद्यत एव। वर मनुमीयते,—शिक्षाकृत् शौनकाचार्यः खलु पाणिनेः पूर्वजः; प्रोक्ताधिकारे "शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४. ३. १०६.)"—इतिसूत्रीयशेखरे "छन्दसि किम्? शौनकीया शिक्षा"—इतिप्रत्युदाहरणदर्शनात्।

---

* खा, गि, गी, घि, जि, भा, भि, भू, भे, भै, भो पृष्ठासु।

कल्पकृत् शौनकाचार्यस्तु ततोऽपि पुरातनः; तत्रैव तद्ग्रन्थस्यैवोदाहरणत्वेन बोधनात्; छन्दस्त्वसामानाधिकरण्येन प्रोक्तत्व मेव हि तादृशोदाहरणत्वेबीजम्। यस्तु कल्पकृत्, स एव कर्त्ता शाखाप्रवचनस्यापि। तथा ह्युद्धृतं विद्वत्तिकौमुद्यां गङ्गाधरभट्टाचार्येण—"शाकलाः शौनकाः सर्वे कल्पं शाखां प्रचक्षते(१. ४.)"—इति। तत्त्वतः पाठभेदकल्पभेदावेव शाखाभेदहेतू। मण्डलद्रष्टुः शौनकर्षेस्तु द्रष्टृत्वेन व्यवहारात् ततोऽपि प्राचीनत्व मन्ययुगीयत्वञ्च; न ह्येतद्युगीयस्य कस्यापि द्रष्टृत्वेन परिचयः क्वाप्युपलभ्यते; अस्ति चैतस्य शौनकस्य द्रष्टृत्वेनैव व्यपदेशः,—"द्वितीयं मण्डल मपश्यत्"—इति ( खू० ए० )। मण्डलशब्दस्तु वैदिकमन्त्रसूक्तानां सङ्ग्रहविशेषस्यैव वाचकः; तदाह सर्वानुक्रमणीकृच्छौनकोऽपि—"तत्तदृषिदृष्टानां बहूनां सूक्ताना मेकर्षिकर्तृकः सङ्ग्रहो मण्डलम्"—इति, "सम्पूर्ण मृषिवाक्यन्तु सूक्त मित्यभिधीयते"—इत्यादि च। ततस्तस्माच्च तादृशसङ्ग्रहकारात् शौनकात् प्राचीनोऽन्य एव शौनकर्षिः सूक्तकारः,—इत्यप्यविचारित मेव सिद्धम्। 'आर्ष्यनुक्रमणी'-प्रभृतीनां दशाना मृग्वेदीयग्रन्थानां तु प्रणेता बभूव चैकः शौनक इति च सर्वानुक्रमणीवृत्तौ षड्गुरुशिष्यः। तथाहि——"शौनकीया दशग्रन्थास्त ऋग्वेदस्य गुप्तये। आर्ष्यनुक्रमणीत्याद्या छान्दसी दैवती तथा। अनुवाकानुक्रमणी सूक्तानुक्रमणी तथा। ऋक्पादयोर्विधाने च बार्हद्दैवत मेव च। प्रातिशाख्यं शौनकीयं स्मार्त्तं दशम मुच्यते"—इति। नात्र वादं पश्यामः। एवञ्च य एव प्रातिशाख्यकृत् स एव आर्ष्यनुक्रमण्यादीना मपि प्रणेतेति सर्व एवैते ग्रन्थाः पाणिनीयतो बहुत्तरभवाः; प्रातिशाख्यकृत्सङ्ग्रहकृतोर्गुरुशिष्यत्वेन समकालिकत्वप्रतीतेरिति (भो ए०)॥

स एष शौनकः, षड्गुरुशिष्यकथितो महाभारताख्यानप्रसिद्धो गृहपतिरित्येव चेत्, पाणिनेरर्द्धशताब्दीपरजः स्यात्। तथाचाह षड्गुरुशिष्यः—"आसीद् गृहपतिर्यो वै नैमिषारण्यवासिनाम्। शतानीकाय राज्ञे वै जनमेजयसूनवे"—इत्यादि। तदपि न; व्याड़िसमकालिकत्वादस्य;

व्याड़ेश्च हि पाणिनितोऽन्यूनद्विशताब्दीपरजन्मत्व मनुमित मितः पुर एव (भू पृ०)। तदेवम् सर्वानुक्रमणीभाष्ये दृष्टानि षड्गुरुशिष्योक्तानि शौनक-परिचायकवचनानि सर्वाण्येवास्मान् विस्मापयन्ते एव। तत्त्वतो ऋक्प्राति-शाख्यकारः खल्वेष शौनको यतो व्याड़िसमकालिकः, तत एव कलेरन्यूनै-कादशशताब्द्यां खीष्टजन्मतश्च द्विसहस्राब्दीतः प्रागिहाक्रीड़दिति चोप-लभ्यत एवेति ॥

(यास्कः) निरुक्तकारोऽयं यास्कस्तु तस्मादस्माच शौनकात् परा-चीन एव। दृश्यते ह्यत्र निरुक्ते (२ भा० ११९ पृ०) शौनकीयप्राति-शाख्यसूत्र मुद्धृतम्—"पदप्रकृतिः संहिता (ऋ० प्रा० २. १.)"—इति। उक्तञ्चेह—"पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि (२भा०११९पृ०)"—इति। अतोऽस्मान्निरुक्तात् पूर्व मेव प्रणीताः प्रायः सर्व एव प्रातिशाख्य-ग्रन्था इत्यप्यनुभवाम एवेति ॥

यत्तु केन चित् "न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वैयास्कः"—इतिप्राति-शाख्योक्तिदर्शनात् यास्कस्यैतस्य शौनकाग्रजत्वं निर्णीतम्; तस्य तु मूले एव कृतः कुठाराघातः पुरस्तादेवेति (खा पृ०)॥

तथाच निरुक्तकारोऽयं यास्कः खलु शौनकपरशताब्दीज इत्यपि वक्तुं शक्यते, सम्पद्यते च तथा पाणिनितः त्रिशताब्दीपरजन्मत्व मस्य; नापि हि त्रि-चतुःशताब्दी मन्तरा मनुजाना मेतादृशं बुद्धिवैजात्यं सम्भाव्यते,— यत्रैकेनैव सूत्रेण कृतार्थो मुनिः, तदर्थं एवैवं बृहद्ग्रन्थः प्रयोजनीयो भवेत्;—पृषोदरादीनीति सूत्रेणैव साधितं पाणिनिमुनिना प्रायः सर्वनैरुक्तकार्यं मिति तु बोधित मेव पुरस्तात् (ए, जी पृ०)। एवञ्चेद मेव स्फुटं प्रतीयते पाणिनिकाले शिष्टानां भाषाव्यवहारत एव पदाना मर्थाः प्रतीयन्ते स्म, अत एव सूत्रयामास पृषोदरादीनीति; तत उत्तर-कालम् जाते हि शिष्टाना मपभाषाव्यवहारबाहुल्ये, सञ्जाते च बुद्धि-मालिन्ये ऽवश्य मेव विशेषतो निर्वचनादेर्वक्तव्यत्व मुपगत मत एव प्रवृत्त मिदं निरुक्तं यास्कीय मिति। तदेवं कलेर्दादशशताब्द्यां खीष्ट-

जन्मतस्त्रीनविंशशताब्दीतोऽपि प्राक् समभवदयं यास्क इति सिद्धम् ॥

पाश्चात्याध्यापकगोल्ड्स्टूकरोद्भावितप्रणालीतो बोथ्लिङ्गीयं स्रव मारुह्य च अपारकालपारावारे विचरन्तो वय मिमं यास्क मपश्याम ;—कस्यां नु वेलाया मासीनः स प्रणिनायेदं निरुक्त मिति ।

साधवो येन गच्छन्ति तेन गच्छन् न दोषभाक् ।
निन्दा वा यदि वा शंसा नानुगानां हि युज्यत इति शम् ॥

---

## ( ८ )

अथेदानीं विचार्य मस्ति,—कैमर्थिकी तस्यैषा प्रवृत्तिर्यास्कस्येति ; "प्रयोजन मनुद्दिश्य न मन्दो हि प्रवर्त्तते"। किञ्च, "सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्य चित् । यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते ?" न केनापीति भावः। अतोऽस्य च यास्कस्यात्र प्रवृत्तेः प्रयोजनं वक्तव्य मेव। न चात्र साङ्ख्यकर्तुः सृष्टिविषयकः प्रश्न इवायं विचारः स्वार्थः परार्थो वास्यारम्भ इति निर्णयायेति ; न ह्यन्धप्रकृति-रिव कोऽपि केवलं परार्थं कि मपि कर्त्तु मुत्सहतेऽत्रेति धीमतां सिद्धान्त एव। अत एवाह भगवान् पतञ्जलिः—"नेह कश्चित् परोऽनुगृहीतव्य इति प्रवर्त्तते, सर्व इमे स्वभूत्यर्थं प्रवर्त्तन्ते। ये तावदेते गुरुशुश्रूषवो नाम, तेऽपि स्वभूत्यर्थं प्रवर्त्तन्ते ;—पारलौकिकञ्च नो भविष्यति, इह नः प्रीतो गुरुरध्यापयिष्यतीति। तथा य एते दासाः कर्मकरा नाम, एतेऽपि स्वभूत्यर्थं प्रवर्त्तन्ते ; भक्तं चैलञ्च लप्स्यामहे, परिभाषाश्च न नो भविष्य-न्तीति ("परिभाषाः = दण्डनादिकाः" कै०)। तथा य एते शिल्पिनो नाम, एते च स्वभूत्यर्थं प्रवर्त्तन्ते ; वेतनञ्च लप्स्यामहे, मित्राणि च नो भविष्यन्तीति ( ३ अ० १ पा० २ आ० )"—इति। हरिणाप्युक्त मेव मेव—"निमित्तेभ्यः प्रवर्त्तन्ते सर्व एव स्वभूतये। अभिप्रायानुरोधोऽपि स्वार्थस्यैव प्रसिद्धये"—इति। एष चाशयोऽस्य प्रश्नस्य— यथा च खलु ऋक्तन्त्र-व्याकरणस्य ऋग्वेद एव विषयः, सामतन्त्र-व्याकरणस्य सामवेद

एव ; तथैवास्यापि शास्त्रस्य कश्चिद्वेद एवैको विषयतया निर्दिष्ट उत यथा पाणिनीयं नाम व्याकरणं लौकिकानां सर्ववेदगतानां च सर्वविधसाधुशब्दाना मविशेषेण व्युत्पादनाय प्रवृत्तम्, तथैवेद मपि ?–इति । अत्र ब्रूमः ;— नेद मकृतन्त्रादिवदेकवेदविषयम्, इह सर्ववेदीयाना मेव निगमानां दर्शनात् ; नापि पाणिनीय मिवेदं लोकवेदयोरविशेषेण शासकम्, इह केवललोकविदितानां केवलब्राह्मणगतानाञ्च पदानां निर्वचनाना मनालोचनात् ; ततोऽयं ग्रन्थः तृतीयश्रेणीकः सर्ववेदमन्त्रव्याख्यामार्गबोधनायैव प्रणीतः । अत एवाह यास्कः स्वय मेव—“अथापीद मन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते”–इत्यादि, “अथापीद मन्तरेण पदविभागो न विद्यते”–इत्यादि च (२ भा० १०२—१३७ पृ०) ।

अपरञ्चास्य विशेषतः समालोचनयेद मपि व्यज्यते,— यथा मन्त्राणा मेवार्थादिज्ञापनाय प्रवृत्ता ब्राह्मणग्रन्थाः, तथैवेद मपीति । मन्त्रात्मकानां वेदाना मर्थादिकाशनोपकारितयैवास्य च वेदाङ्गत्व मपि वा वेदेतिप्रसिद्धानां (कू, को पृ०) ब्राह्मणग्रन्थाना मंशविशेषत्वात् परिशिष्टरूपत्वाद्वा सिद्ध मस्य निरुक्तशास्त्रस्य वेदाङ्गत्वम् । ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि हि निरुक्तनामोल्लेखं निर्वचनानि च पश्यामो बहुत्रैव ; ततोऽनुब्राह्मणग्रन्थेषु तच्छास्त्रं सुपुष्ट मनन्तरञ्च निदानसूत्रग्रन्थेषु बहु लीलायितं दृष्ट मेव तद् भगवता यास्केनाबद्धं पृथग् ग्रन्थरूपेणेति । एवञ्च नेदं शास्त्रं ब्राह्मणग्रन्थीयपदादिव्याख्यामार्गबोधनाय ; अपि तु यदर्थं प्रवृत्तं ब्राह्मणं तदर्थ मेवेद मपीति सर्वेषां वेदानां मन्त्रगतपदादीना मेव व्याख्यानप्रकारबोधनायैवेदं शास्त्रं निरुक्तं नामेत्यनादिसिद्धं ग्रन्थीकृतं यास्केनेत्यस्माकम् ।

सर्ववेदभाष्यकारः सायणाचार्यस्तु ऋग्भाष्यभूमिकाया माह— “अथ निरुक्तप्रयोजन मुच्यते”—इत्यारभ्य “तस्माद्वेदार्थाववोधायोपयुक्तं निरुक्तम्”–इत्यन्तम् । तथा वृत्तिकारः खलु दुर्गाचार्योऽप्याह—“वेदस्यार्थपरिज्ञानविषये निरुक्तं नामेद मङ्ग मारभ्यते”–इति । प्रस्थानभेदकारो मधुसूदनोऽप्येव माह— “वैदिकमन्त्रपदाना मर्थज्ञानाकाङ्क्षायां * * * निरुक्त

मारचितम्"-इति। तदत्र सायणीयवचनादिषु मन्त्रब्राह्मणाविशेषेण सर्वेषा मेव वेदाना मर्थादिबोधनायैवेद मारब्ध मिति प्रतीयते स्फुटम्।

तदिमावुभौ पक्षौ सम्पन्नौ,—मन्त्राणा मेव व्याख्यानमार्गादिप्रदर्शनायेदं प्रवृत्तं निरुक्तं नाम वेदाङ्गशास्त्र मित्येकः; मन्त्राणां ब्राह्मणवचनानाञ्च व्याख्यानमार्गादिप्रदर्शनाय प्रणीत मिदं निरुक्त मित्यपरः; तदनयोः पक्षयोः कतरो ज्यायानिति बलवत्पक्षपातशून्यहृदयैर्धीमद्भिरेवानुसन्धीयता मिति शम्॥

---

(९)

अथ कोऽसौ वेदः?—वेदशब्दस्य कीदृशी व्युत्पत्तिरिष्टा आर्याणाम्, तथा वेदस्य किं लक्षणम्, स्वरूपञ्च तस्य कि मिति त्रयः प्रश्नाः स्वत एव सर्वमनःसु समुत्पद्यन्त एव; तत्समालोचनायैवैतर्हि किञ्चिदिह यतामह इति यावत्।

(वेदः) "विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्म्मादिपुरुषार्था इति वेदाः"—इत्येतद् वेदशब्द-व्युत्पादनं कृतं दृश्यते देवमित्रपुत्रेण विष्णुमित्रेण ऋक्-प्रातिशाख्यस्य वृत्त्युपक्रमे। अन्यान्यविधानि च सन्ति बहूनि वेदशब्दव्युत्पादनानि, तानि चान्यत्रान्यत्र द्रष्टव्यानि।

"प्रत्यक्षानुमानागमेषु (प्रमाणेषु) अन्तिमो वेदः" —इति, "समयबलेन सम्यक् परोक्षानुभवसाधनं वेदः"—इति, "अपौरुषेयं वाक्यं वेदः" —इत्यादीनि च वेदलक्षणानि सायणीये ऋग्भाष्यादौ द्रष्टव्यानि। "इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिक मुपायं यो वेदयति स वेदः"—इत्येकेनैव वाक्येन च वेदस्य व्युत्पादन-लक्षणे ऽप्युक्ते कृष्णयजुर्भाष्यभूमिकायां सायणेनैव। "प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता"—इति वचनञ्च तत्र मानत्वेनोपन्यस्योक्तं च "स एवोपायो वेदस्य विषयः; तद्बोध एव प्रयोजनम्; तद्बोधार्थी चाधिकारी; तेन सह्वोपकार्योपकारकभावस्य सम्बन्धः"—इति।

14

वेदस्वरूपश्चोक्त मेवं बौधायनेन—"मन्त्रब्राह्मण मित्याहुः"—इति । आपस्तम्बेन च यज्ञपरिभाषायां स्फुट मुक्तम्—"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"—इति । सर्ववेदभाष्यकारेण सायणाचार्येणापि तदेवापस्तम्बीयलक्षण मवलम्ब्यैव प्रपञ्चित मृग्भाष्यभूमिकायां बहुधैव ; सिद्धान्तितश्चैतत् तत्र "मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः"—इति । उक्तञ्च भगवता जैमिनिमुनिनापि तथैव ; तदनुस्फोटितञ्च सर्वानुक्रमणीवृत्ति भूमिकायां षड्गुरुशिष्येण । तथाहि—

"मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः ।
विनियोक्तव्यरूपो यः स मन्त्र इति चक्ष्यते ।
विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि ।
विनियोक्तव्यरूपस्य त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते ।
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ।
अहेबुध्नीय मन्त्रं मे गोपायेत्यभिधीयते ।
ऋक् पादबद्धो, गीतस्तु साम, गद्यं यजुर्मन्त्रः ।
चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते ।
वेदैरशून्य इत्यादौ मन्त्रे त्रैविध्य मुच्यते ।
सर्वैर्ब्रह्मेति सूत्रेऽपि चतुर्भिरिति निर्णयः ।
प्रस्तुतत्वादिति वाचि त्वो वा मन्त्रे सूत्रकारणे ।
ऋग्रूपमन्त्रबाहुल्यादृग्वेदः स्यात् तथेतरौ ।
शान्तिपुष्ट्यादिकब्रह्मवर्गप्रणवविद्यया ।
ऋचाञ्च यजुषां तुर्यो बाहुल्येन विधायकः ।
एकविंशत्यध्वयुक्त मृग्वेद मृषयो विदुः ।
सहस्राध्वा सामवेदो यजुरेकशताध्वकम् ।
नवाध्वाथर्वणोऽन्ये तु प्राहुः पञ्चदशाध्वकम्"—इति ।

एतेन खलु सर्वेषा मेव वेदानां सर्वविधस्वरूपाण्युक्तान्येव समासतस्तेन धीमतैवेत्यत्रास्माकं नैव किञ्चिदुक्तव्य मस्त्यवशिष्टम् ; विशेषतस्तु जिज्ञा-

स्तायां वेदविषयनिर्णयायैवोत्पन्नं सुमहद् दर्शनशास्त्रं जैमिन्यादिभिर्महात्मभिः प्रपञ्चितं मीमांसासूत्रादिक मेव सुधीभिर्द्रष्टव्य मित्यलं चर्वितचर्वणेन वेदस्य पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वादिविचारेणेति ॥

परन्त्वस्त्यन्यैतदालोच्यम्,— आपस्तम्बादिमतानुगाः सायणाचार्यादयस्तु मन्त्राणां ब्राह्मणानाञ्च वेदत्वं चिरात् सिद्ध मिति मन्यन्ते। केचित्त्वाधुनिका ब्राह्मणग्रन्थेषु बहुत्र 'य एवं वेद'–इति दर्शनादेव प्रथमं तावत् ब्राह्मणग्रन्थाना मेव वेदाख्या प्रचलिता, ततः कालक्रमेण मन्त्रेष्वपि सा उपचरितेत्याहुः। वयन्तु तदुभयोरेव विपरीतं ब्रूमः ;—पुरासीत् विद्यापरपर्याय एवायं वेदशब्दः ; तथा यतश्च सर्वासा मेव विद्यानां निधानानीमे मन्त्राः प्रदृष्टाः, अतो मन्त्रकाले एव त्रिविधानां मन्त्राणां वाचकः सम्पन्नो वेद इति ; ततो ब्राह्मणकाले ब्राह्मणेष्वपि ग्रन्थेषु मन्त्रमात्रपर एव व्यवहृतो वेदशब्दः ; पश्चात् सूत्रकाले तु मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरेव विद्यानिधानत्वेनादरातिशयस्थितेरुभयोरेव बोधकः सञ्जातो वेद इति। तदत्र त्रयः पक्षाः सम्पद्यन्ते;—(१) मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोर्वेदत्वम्, (२) ब्राह्मणग्रन्थाना मेव मुख्यं वेदत्वम्, (३) सर्वविद्यानिधानानां हि मन्त्राणा मेव वेद इति व्यवहारो मुख्योऽतिपूर्वकालिकश्चेति। अथैषां कतमः पक्षो ज्यायान् इति पूर्वापरदर्शिभिर्माध्यस्थ्यधिषणावद्भिरेव समालोच्यताम्।

श्रूयते हि शुक्लयजुषि मन्त्रे एव त्रयीपरो वेदशब्दः—"वेदेन रूपे व्यपिबत् सुतासुतौ प्रजापतिः (१९. ७८.)"–इति। "प्रजापतिः 'सुतासुतौ' सुतासुतयोः रूपे 'वेदेन' ज्ञानेन, त्रय्या विद्यया वा 'व्यपिबत्' विविच्य पीतवान्। सुतः=सोमः, असुतः=पयः परिस्रुच"–इति च तस्यैव व्याख्यानं भाषितं महीधरेण। तदत्र वेदेनेत्यस्य द्विविधोऽर्थः कृतो दृश्यते,— ज्ञानेन, त्रय्या विद्ययेति च ; तत्र द्वितीयोऽर्थ एव युक्ततरोऽस्माकम्, मूले 'वेदेन'–इत्याद्युदात्तश्रवणात्। अस्ति हि वेदशब्दः उञ्छादिगणे (६. १. १६०. पा० सू०) पठितः करणव्युत्पाद्यो यौगिको ऽन्तोदात्तः ; अस्ति चापरो वृषादिगणे (६. १. २०३.) पठितस्त्रय्यां रूढः

आद्युदात्तो वेद इति। अत एव ऋक्संहितायां श्रुतस्य "यः समिधा (६. १. ५.)"-इति मन्त्रस्य व्याख्याने भाषितं सायणाचार्येण 'वेदेन = वेदाध्ययनेन'-इति। तैत्तिरीयसंहिताया मप्येव मस्ति त्रयीपरो वेदशब्द आद्युदात्तः ( ७. ५. ११. २.)। तथैवाथर्वणिका अप्यसकृदामनन्ति संहिताया मेव त्रयीपरं वेदशब्दम्। तथाहि—"यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनातितराणि मृत्युम् (४. ७. ५. ६.)"-इति; बुध्यत एवात्र हि वेदा इत्यस्यार्थ ऋगादय इति। तथा तत्रैवोनविंशकाण्डेऽपि त्रिशः श्रुतो वेदशब्दस्त्रयीपर एव। तदेवं सर्वसंहितास्वेव त्रयीपरो वेदशब्दो विश्रूयत एव।

एवं ब्राह्मणेष्वपि सर्वत्र श्रूयत एव वेदस्त्रयीपरः। तथाहि, बह्वृग्-ब्राह्मणे—"त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्; तान् वेदानभ्यतपत् (ऐ० ब्रा० ५. ५. ६.)"-इति; एव मन्यत्रान्यत्र च तत्रैव (६. १५; ७. १८.)। तैत्तिरीय-ब्राह्मणेऽपि तृतीयकाण्डे (१०. ११. ४.) श्रूयत एव त्रयीपरो वेदशब्दः। तथा छान्दोग्यब्राह्मणे च—"स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेद माथर्वणं चतुर्थम् (८. १. २.)"—इत्यादि। अथर्वब्राह्मणेऽपि—"इमे सर्वे वेदाः (गो० ब्रा० १. २. ८.)"-इत्यादि। तदेवं सर्वब्राह्मणेषु च त्रयीपरो वेदशब्दः श्रूयत एव।

अत इदानीं वक्तुं शक्यत एवैतत्,—सर्वसंहितास्वेव त्रयीपरवेदशब्द-दर्शन मेव प्रमाणयति, आसीन्मन्त्रकालेऽपि केवलमन्त्राणा मेव वेद इति व्यपदेशः; तदापि मन्त्रव्याख्यानार्थकानां ब्राह्मणग्रन्थाना मनाविर्भावात्। प्रदर्शितब्राह्मणवाक्यानि च तदेव दृढयन्ति; ऋगादिशब्दानां मन्त्रेष्वेव मुख्यशक्तेः। अत एवोपपद्यन्ते तत्र गोपथे "इमे सर्वे वेदाः"-इत्यत्र विशेषणानि "सब्राह्मणाः"-प्रभृतीनि। निरुक्ते ये चार्थद्युप्रशंसनाय शाखान्तरीयमन्त्रा उद्धृता यास्केन, तत्र च श्रूयते त्रयीपर एवाद्युदात्तो वेदशब्दः—"अधीत्य वेदम्"-इति (२ भा०१३० पृ०)। तस्माच्च

ज्ञायते मन्त्रकाले एव मन्त्रार्थको वेदशब्द आसीत् प्रसिद्ध इति । यास्कः स्वयञ्चाह सुव्यक्तम्—"कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे (२ भा० २४ पृ० )"—इति ; स च कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रः क्वास्ति ब्राह्मणेषु संहितासु वा ? संहितास्वेवेति चेदितोऽपि स्फुटं व्यज्यते संहितार्थ एव वेदशब्दोऽभिमतः खलु निरुक्तकारस्यैतस्य यास्कस्यापीति ॥

वस्तुतो ज्ञानार्थस्य लाभार्थस्य वा विदधातोरेव रूपं वेद इत्युक्ते विद्यैव तस्यार्थः फलति । अनन्ताश्च विद्या इह जगति सन्ति चिरराचाय; तत एव वेदस्य सनातनत्व मनन्तत्वञ्च मन्यन्ते आर्याः । आदिसभ्यकाले चात्र भारते ये ऋषयः प्रादुर्बभूवुः, आसन्नेव ते विविधविद्याविभूषणाः साक्षात्कृतधर्माणः, अत एव तैर्दृष्टा मन्त्रास्तत्कालादेवोच्यन्ते वेदा इति । तदेवं मन्त्रेष्वेव वेदशब्दस्य मुख्या शक्तिः ; ब्राह्मणानान्तु यथा ऋगादिलक्षणाभावेऽपि तत्तद्व्याख्यानाद्यर्थतया तत्तन्नाम्ना व्यवहारः ; तथैव वेदनाम्नापीति वेदशब्दस्य तत्र वृत्तिस्त्वौपचारिक्येव । तथा ह्यामनन्ति तैत्तिरीयाः—

"भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्य मुवास । तꣳ ह जीर्णिꣳ स्थविरꣳ शयानम्, इन्द्र उपव्रज्योवाच । भरद्वाज ! यत्ते चतुर्थ मायुर्दद्याम्, किमेनेन कुर्य्या इति । ब्रह्मचर्य मेवैनेन चरेय मिति होवाच । तꣳ ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार ; तेषाꣳ हैकैकस्मान्मुष्टि माददे । स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य । वेदा वा एते, अनन्ता वै वेदाः, एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः ; अथ त इतरदननूक्त मेव ( तै० ब्रा० ३. १०. ११. ३, ४. )"—इति ।

छान्दोग्येऽपि श्रूयत एव वेदार्थो विद्याशब्दः । तथाहि—"प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् * * * अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् । स एतां त्रयीं विद्या मभ्यतपत्"—इत्यादि ( १. १७. १—१०. ) । एवं तत्रैवान्यत्रान्यात्रपि (४. २१. १ ; २३. २.) । तदेवं वेदस्य विद्यापरपर्य्यायत्वं स्फुट मेव । अतः सुष्ठूक्त मस्माभिः 'पुरासीत् विद्यापरपर्याय एवायं वेदशब्दः'—

इत्यादि (ऋ पृ०); तथा सम्भाव्यते चैष पक्षो युक्ततम एवोपन्यस्तो मन्त्रेष्वेव वेदशब्दस्य मुख्या वृत्तिरिति ॥

आपस्तम्बादिसूत्रारम्भकाले तु ब्राह्मणग्रन्थाना मपि वेदत्वं व्यपदिष्टम्; ततः प्रभृति सिद्ध मेव "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"—इति । तत एव मनुसंहितादावपि "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः (२. १६५.)"—इत्यादिषु वचनेषूभयोरेव ग्रहण मवगम्यते । अत एवोक्तं सङ्गच्छते "उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा । सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः (२. १५.)"—इति; "उदिते जुहोति"—इत्यादिविधयस्तु ऐतरेयादिब्राह्मणेष्वेव श्रूयन्ते । तथाहि— "वृषशुष्मो ह वातावत उवाच जातूकर्ण्यो वक्ता स्मो वा इदं देवेभ्यो यदेतदग्निहोत्र मुभयेद्युरहूयतान्येद्युर्वाव तदेतर्हि हूयत इत्येतदु हैवोवाच कुमारी गन्धर्वगृहीता वक्ता स्मो वा इदं पितृभ्यो यदेतदग्निहोत्र मुभयेद्युरहूयताऽन्येद्युर्वाव तदेतर्हि हूयत इत्येतद्वा अग्निहोत्र मन्येद्युर्हूयते; यदस्तमिते सायं जुहोत्यनुदिते प्रातरथैतदग्निहोत्र मुभयेद्युर्हूयते; यदस्तमिते सायं जुहोत्युदिते प्रातस्तस्मादुदिते होतव्यम् । * * *। उद्यन् खलु वा आदित्य आहवनीयेन रश्मीन्त्सन्दधाति । स योऽनुदिते जुहोति, यथा कुमाराय वा वत्साय वाऽजाताय स्तनं प्रतिदध्यात् तादृक्; तदथ य उदिते जुहोति, यथा कुमाराय वा वत्साय वा जाताय स्तनं प्रतिदध्यात् तादृक् * * *। तदेषाभियज्ञगाथा गीयते—प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम् । दिवाकीर्त्य मदिवा कीर्त्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषा मिति (५. ५. ४, ५, ६.)"— इति । तथा "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः (म० सं० २. १०.)"—इत्यत्र च श्रुतिलक्षणे मन्त्राणां ब्राह्मणानाञ्च ग्रहण मिष्टं तस्येत्यपि प्रतीयत एव; ज्ञायते च तथा श्रुतिरिति वेदस्यैव नामान्तर मिति ॥

(श्रुतिः) श्रवणात् श्रुतिरित्याख्या । "श्रुयजीषिस्तुभ्यः करणे (पा० ३. ३. ९५. वा० २.)"—इति निष्पादितः श्रुतिशब्दस्तु श्रवणेन्द्रियपरः; इह तु "स्त्रियां क्तिन् (३. ३. ९४.)"—इति भावार्थ एव क्तिनिष्टः । एष हि

वेदस्थिर मेव श्रूयते गुरुपरम्परानुसारेण ;— केनापि कदापि एकस्यापि मन्त्रस्य प्रणयनकालनिर्णये कथ मपि न समर्थः ! अत एव वाय्वादिवद् अनादिरपौरुषेयश्चेति स्तूयत एवाय मिति वृद्धाः ।

स एषः श्रुतिशब्दो वेदपरो न व्यवहृत आसीत् मन्त्रकाले, मन्त्रसंहितासु क्वचिदपि वेदार्थश्रुतिशब्दस्य दर्शनाभावात् ; अपि तु ऐतरेयादिब्राह्मणप्रचारात् पुरैव गाथाकाले व्यवहृतो भावसाधनः प्रवादपरः । तथा ह्यैतरेयकम्— "तस्मादपत्नीकोऽप्यग्निहोत्र माहरेत् । तदेषाभियज्ञगाथा गीयते-–'यजेत् सौत्रामण्या मपत्नीको ऽप्यसोमपः । मातापितृभ्या मन्तृणाद्यजेति वचनाच्छ्रुतिः'–इति । तस्मात् सौम्यं याजयेत् (ऐ० ब्रा० ७. १. ९.)"— इति । ता मिमां यज्ञगाथा मवलम्ब्यैवाख्यातं ब्राह्मणम्—"तदा ऊर्वाचाऽपत्नीकोऽग्निहोत्रं०–०स्वर्गांल्लोकान् जयन्तीति (७. १. १०.)"–इति । तदेवमादीनां दर्शनादिद मपि व्यक्तम्— आदौ मन्त्रकालः, ततस्तेषां यज्ञादिषु व्यवहारकालः, ततस्तादृशप्रवादश्रुतिकालः, ततो गाथाकालः, ततश्च ब्राह्मणकालः; गाथामूलान्येव हि बहूनि ब्राह्मणवचनानि श्रूयन्त इति ॥

स एषः प्रवादार्थ एव श्रुतिशब्दो ब्राह्मणकालादनन्तर मेव मन्त्रब्राह्मणयोर्व्यवहर्त्तु मारब्धः; तत एवैतन्निरुक्तत्रयोदशाध्यायान्ते दृश्यते— "सेयं विद्या श्रुतिमतिबुद्धिः( ४भा० ३६०पृ० )"–इति । तथा स्मर्यते च मन्वादिभिः— "श्रुतिस्मृत्युदितं धर्म मनुतिष्ठन् हि मानवः ( २. ९. )"–इति । "उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा । सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ( २. १५. )"—इत्यादि च । वेदस्यानुश्रवनामापि श्रुतिमूलक मेव । तथाहि— "दृष्टवदानुश्रविकः"–इतीश्वरकृष्णीयसाङ्ख्यकारिकाव्याख्यानावसरे व्युत्पादित मेवं वाचस्पतिना— "गुरुमुखादनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः"–इति ॥

लौकिकप्रवादवाक्याना मपि श्रुतित्वव्यवहारो दृश्यते बहुत्र । तदेवं यस्य कस्यचिद् वचनस्य प्रचारकालस्यादिर्न निर्णीयते,— कदा केन

कथित मिद मिति, अपि च प्रामाणिकतया गुरुपरम्परयोपदेशो लभ्यते, तत् किल वैदिकं वा लौकिकं वा वचनं श्रुतिरित्युच्यते। कल्पयन्ति चानुमित-श्रुतीः मन्वादिभिर्वेदविद्भिर्विहितानां विधीनां मूलानि स्मार्त्तग्रन्थेषु; वेदार्थ-स्मरणमूलकत्वादेव च तेषां स्मृतित्वाख्यानात्। तदेवं यस्य च प्रामाणिक-स्मृतिवचनस्य मूलं वैदिकवचनं साक्षान्नोपलभ्यते, तस्य मूलं तादृशवैदिक-वचनं कल्पनीयं भवति, तत् कल्पितवचन मपि श्रुतिरिति व्यवहृतं रघु-नन्दनादिभिः। वस्तुतः श्रुतिकल्पनारीतिस्त्वयुक्तैव मीमांसाधिकरणमालायाम् 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्'— इति विधान मनुसृत्य 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयि-तव्या'–इति विधेर्लोभमूलकत्वेनाप्रामाण्याख्यापनात्। तदेवं मन्त्रभागानां श्रुतित्वं तु सर्ववादिसम्मतम्; ब्राह्मणभागानां श्रुतित्वं च मन्वादिभिः स्वीकृत मेव; प्रवादवाक्यानां लौकिकानाञ्च श्रुतित्वं व्यावहारिकं दुर्बलम्; कल्पित-श्रुतयोऽपि सन्ति रघुनन्दनादीना मिति श्रुतिचातुर्विध्यं सुस्थिर मिति॥

(आम्नायः) "श्रुतिस्त्री वेद आम्नायस्त्रयी"— इति नामलिङ्गानुशासनात् श्रुतिः, वेदः, आम्नायः, त्रयी,–इत्येतान्येकार्थान्येव पदानि। आम्नायसमाम्नायौ चाभिन्नार्थौ। अतएव "इति माहेश्वराणि सूत्राणि"–इति भट्टोजिदीक्षित-प्रथमवचनव्याख्यानावसरे ह्युक्तं नागेशेन लघुशब्देन्दुशेखरे— "आम्नाय-समाम्नायशब्दौ वेदे एव रूढौ"–इति। वेदशब्देन तु आ सूत्रकालात् मन्त्रा ब्राह्मणवचनानि च गृह्यन्ते इत्युक्त मिदानी मेव। अत एव भगवता जैमि-निना कृते इदानीं प्रचलिते मीमांसादर्शने च बहुत्रैव मन्त्रब्राह्मणार्थपरो ह्याम्नायशब्दो दृश्यते। तथाहि— "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य मतद-र्थानाम् (१. २. १.)"–"उक्तं समाम्नायैदमर्थं० (१. ४. १.)"–इत्येवमादयो द्रष्टव्याः। "स्याद्दाम्नायधर्मित्वाच्छन्दसि नियमः (१. ४.)"—इत्येतस्य वाजस-नेयिप्रातिशाख्यसूत्रस्य व्याख्यानावसरे च "आम्नायो वेदः"–इत्यारभ्य "ब्राह्मणं विध्यर्थवादरूपम्, मन्त्रस्तु कर्माङ्गभूतद्रव्यदेवतास्मारकः"— इत्याद्युक्तं तद्भाष्यकृदुव्वटेनापि। तथा स्पष्टमोक्त मथर्ववेदीये कौशिक-सूत्रे— "आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च (१)"–इति।

याज्ञीयेऽत्र निरुक्तेऽप्युभयोरेवाम्नायत्व माख्यातं दृश्यते। तथाहि—"अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति— 'ओषधे त्रायस्वैनम् (य० वा० सं० ४.१; ६.१५.)', 'स्वधिते मैनं हिंसीः (य० वा० ४.१; ६.१५.)'—इत्याह हिंसन् (२ भा० १०२, १०७ पृ०)"—इत्याशङ्क्य समाहितं तत उत्तरम्— "यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्तीत्याम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत (२भा० ११२, ११४ पृ०)"—इति। तदत्र मन्त्राणा मेवाम्नायत्वेन ग्रहणं दृष्टम्। अन्यत्र तु "एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः (३ भा० ४० ३ पृ०)"—इत्यत्र, इत उत्तरश्चैतत्सिद्धान्ते "यथो एतद्रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित इति, आम्नायवचनादेतद् भवति (३भा० ४१६ पृ०)"—इत्यत्र च ब्राह्मणाना मेवाम्नायत्वेन ग्रहणं दृष्टम्। एवञ्च सुव्यक्तं निरुक्तकृन्नयेऽप्युभयोरेव मन्त्रब्राह्मणयोराम्नायत्व मिति।

मन्त्राणा माम्नायत्वं मत्वैव ततः सङ्गृहीतस्य निघण्टोश्च समाम्नायत्व मुक्त मादौ तेनैव निरुक्तकृता— "समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः (२ भा० ७ पृ०)"—इति। अत एव तद्वृत्तिकृता दुर्गाचार्येणोक्तं भूमिकायाम् "छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाता, सैषा छन्दोऽवयवभूता छन्दोधर्मिण्येव यथायथापन्नास्ता गौर्ग्मोधर्म्मा इति (२ भा० ६ पृ०)"—इति॥

वेदाङ्गाना मप्याम्नायत्वं निरुक्तकृत्सम्मत मेव; तेन प्रदर्शिते पुरावादे "समाम्नासिषुर्वेदञ्च वेदाङ्गानि च (२भा०१३७पृ०)"—इति वचने मन्त्राणाम्, ततः सङ्गृहीतानां नैघण्टुकपदानाम्, वेदानाम् (मन्त्रातिरिक्तानाम्)= ब्राह्मणानाम्, वेदाङ्गानाञ्चाम्नायत्वबोधनात्। लघुशब्देन्दुशेखरेऽपि प्रत्याहारव्याख्यानावसरे "ननु चतुर्दशसूत्र्या मक्षरसमाम्नाय इति व्यवहारानुपपत्तिः?"—इत्यादिकं विचार मवतार्य पाणिनिव्याकरणादीनां वेदाङ्गाना मप्याम्नायत्वं प्रमाणीकृतं नागेशेनेति॥

"तस्येदम् (४.३.१२०.)"—इति पाणिनीयसूत्रे हि यदुक्तं वार्त्तिकम् "चरणाद्धर्माम्नाययोः (२)"—इति, तदनुसृत्यैव "छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः (पा० ४.३.१२९.)"—इति सूत्रे नाट्यस्याप्याम्नायत्व मुर-

दीक्षतं दीक्षितेन। तथा ह्युक्तम्— "चरणाद् धर्माम्नानयोरित्युक्तं तस्माद्द्र-चर्यान्नटशब्दादपि तयोरेव"—इति। एवञ्च शिलालिप्रभृतिकृतानां प्राचीन-तमानां नटसूत्रादीना मप्याम्नायत्वं दीक्षितादिसम्मत मिति ॥

वृद्धास्त्वाहुः— 'म्ना अभ्यासे'—इति धातुत एवाम्नायपदं निष्पन्नम्; अतो यः कश्चन ग्रन्थोऽभ्यस्त उक्तः, स एवाम्नायः। एकस्यैव पुनःपुनरुच्चारणादिना स्मृत्यनुगतकरण मेवाभ्यसनम्। युगावसानकाले प्रायः सर्वेष्वेव प्राण्यादि-ष्ववसन्नेषु ये केचिच्छिष्टा अवशिष्टा बभूवुः, तैः स्वस्वस्मृत्यनुरूपः साङ्गो वेदः प्रोक्तः स्वस्वान्तेवासिभ्यः, तैश्च बहुभ्य इत्येवं पुनर्विस्तृतः सः; पुनर्यु-गान्ते चोपगते पुनः सर्व एव ते विलीनाः, पुनर्नवयुगारम्भे लयावशिष्टैः शिष्टैः स्वस्वस्मृत्यनुरूपत एव प्रोक्तः स्वस्वान्तेवासिभ्यः। एव मेवाभ्यासः सम्पद्यते साङ्गस्य वेदस्य सदैवेति स साङ्गो वेदः सर्व एव समाम्नाय इत्या-ख्यायते। अत एव ज्योतिषविषये सूर्यसिद्धान्ते ज्योतिषोपनिषदध्याये ऽप्युक्त मेव मेव "युगेयुगे समुच्छिन्ना रचनेयं विवस्वतः। प्रसादात् कस्य-चिद्भूयः प्रादुर्भवति कामतः"—इति (१९श्लो०)।

तत्र चायं विशेष उपलभ्यते,— मन्त्राणा मेव यथावत् स्वरवर्णमात्रादि-युतानां यथाश्रुताना मभ्यासः क्रियते; स एव मन्त्रभागो दृष्ट इत्युच्यते। तत्रापि स्मृतिच्युत्यादिहेतुभिः पाठन्यूनाधिक्यं पाठान्तरत्वं क्रमान्यत्वञ्चा-निवार्य मिति शाखान्तरत्वं सम्पद्यते। ब्राह्मणानान्तु तदर्थाभिधाने एवो-पयोगित्वात्तत्रान्यथाप्युपपद्येतेति न तत्र यथावत्पाठाभ्यासः स्वीकृतः प्रत्युत तदर्थाभ्यास एव कृतोऽपरग्रन्थप्रवचनेनेति; स एव ब्राह्मणभागः प्रोक्त इत्युच्यते। एवं वेदाङ्गग्रन्थाना मपि मूलतत्त्वाना मभ्यसनीयत्वेऽपि तत्तत्प्र-योगस्थानाना मस्ति देशकालाद्यपेक्षेति देशकालाद्यनुसारेणैव विधान मुचित मिति प्रतिनवयुगे नवकल्पनैव कृता; स एव वेदाङ्गभागः कल्प इति चोच्यते। तदेवं सर्व एव वेदाङ्गाः तत्त्वतोऽभ्यस्ता अपि अक्षरशः प्रतियुगे नूतनाः कल्प्यन्ते—इति कल्पनामभाजः स्युः, परं शिक्षाप्रभृतीनां षण्णां कल्पनामतो व्यवहारो न दृश्यतेऽपि तु यागादिविधायकानां पैङ्गीप्रभृ-

तीना मेव ग्रन्थाना मेकविधानां कल्प इति प्रसिद्धिः; व्यवहार एवात्र निदानम्। तथाच वेदाङ्गग्रन्थेषु तेषा मेव यज्ञसूत्रग्रन्थानां प्राथम्य मनुमीयते; यथा हि शैशिरीयाणां पञ्चाना मेव शाकलत्वेऽपि आद्याया एव शाखायाः शाकल इति प्रसिद्धिः, यथा च सर्वेषां सामवेदीयार्चिकानां छन्दस्त्वेऽपि पूर्वभागस्यैव छन्द इति।

अत एव ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि निरुक्तादिनामदर्शनं न विस्मयकरं भवत्यार्याणाम्। नाट्यादिग्रन्थोऽपि नासीत् पुराकल्पे इति को वदितुं सक्षमः? परं मन्त्रातिरिक्तानां केषा मपि प्रबन्धानां न हि यथावदक्षरशोऽभ्यसनं सप्रयोजन मित्यतिप्राचीननटसूत्रादीनां कृतकत्वेऽप्याम्नायत्व मव्याहत मेव। तदेवं नटशब्देनापि कात्यायनोक्तधर्माम्नानयोरभिसम्बन्धे को दोषः पाणिनिवृत्तिकृतः खलु भट्टोजिदीक्षितस्य।

पर मत्र चेद मवश्यं धार्यम् यद् भवतु नाम मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य, मन्त्रोद्धृतपदसङ्घात्मकस्य निघण्टोः, षड्विभागोपेतस्य वेदाङ्गस्य, अन्येषाञ्च नटसूत्रादीनां सर्वेषा मेव प्राचीनतमाना मार्य्यशास्त्राणा माम्नायत्वम्; परं मन्त्रभागस्यैवाम्नायत्वं मुख्यम्, प्रतिकल्पे मन्त्राणा मेवाक्षरश आम्नानात्; तथैव नैघण्टुकपदानाम्; तदनु ब्राह्मणभागस्य, तस्यापि तथा व्यवहारात्; तदनु वेदाङ्गानाम्, यास्कादिभिः स्वीकारात्; नटशास्त्रादीनान्तु तथात्वे प्रामाण्यं विप्रकृष्टत इतीति॥

(त्रयी) अमरसिंहोक्तेषु वेदनामसु त्रयीत्येवावशिष्ट मालोचयितुम्; तदप्यालोच्यते यथाज्ञानम्।— रचनायास्त्रैविध्य मेव मन्त्राणां त्रयीत्वे बीजम्। अस्ति हि काचिद्रचना पद्यं नाम, सैव पुरा ऋगिति श्रुता; अस्ति काचिद्रचना गद्यं नाम, सैव पुरा यजुरिति श्रुता; अस्ति काचिद्रचना गानं नाम, सैव पुरा सामेति श्रुता। यतो हि गद्यपद्यगानातिरिक्तो नास्ति रचनाप्रकारः, अत एव ऋक्संहितासु, यजुःसंहितासु, सामसंहितासु, अथर्वसंहितासु वा ऋग्यजुःसामभ्योऽन्यो नैव दृश्यते कोऽपि वेदमन्त्रः। पद्यगद्यगानातिरिक्ता हि रचना कदापि नासीत्, इदानी मपि

नावलोक्यते लोके, तत् कथन्नाम ऋग्यजुःसामलक्षणातिरिक्ताऽपि मन्त्ररचना भवेद्वैदिकीति । तदाह भगवान् जैमिनिः— "तेषा मृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । गीतिषु सामाख्या । शेषे यजुःशब्दः (मी० द० २. १. ३२, ३३, ३४. )'—इति । तदेतन्न्यायविस्तरे स्पष्टीकृतञ्च माधवेन, द्रष्टव्यं तत् तत्रैव । एवञ्च त्रयी नाम त्रिविधरचनामयी आप्तवाणी; सैव वेदः, सैव आम्नायः, सैव श्रुतिरित्यादि ।

यद्यपि मन्त्राणा मेव रचनानियमाधीन मेतत्त्रयीनाम, अतो मन्त्रभागस्यैव त्रयीत्व मङ्गीकर्त्तव्यम्, न तु ब्राह्मणभागस्येति वक्तुं युज्यते; "अहिर्बुध्नीय मन्त्रं मे गोपाय य मृषयस्त्रैविदा विदुः । ऋचः सामानि यजूंषि (तै० ब्रा० १. २. २६.)"—इति श्रुतिस्वाच्च साधिकैव । अत्र हि "त्रीन् वेदान् विदन्तीति त्रिविदः । त्रिविदां सम्बन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः, ते च यं मन्त्रभागम् ऋगादिरूपेण त्रिविध माहुः, तं गोपायेति योजना"—इत्यधिकरणमालाकारो माधवश्चोक्तवान् तथैव । तथापि मन्त्रभागानुगतब्राह्मणग्रन्थाना मपि त्रयीत्वं व्यावहारिक मिदानीं मन्तव्य मेव; सञ्ज्ञायाः खलु व्यवहाराधीनत्वात् । परं यथोक्तं पुरस्तात् मन्त्रभागस्यैव वेदत्वं, श्रुतित्वं, समाम्नायत्वं च मुख्यम्; ब्राह्मणभागस्य त्वप्रधान मिति; बोध्यं तथैवात्रापीति ॥

इह केचिदन्यथैवाहुरन्यदेशीयाः । तद्यथा— पुरा किल यदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः—इति त्रय एव वेदा आसन्, नासीदथर्ववेदः; तदैव वेदस्य त्रयीत्याख्या प्रचलितेति । अत एव प्राचीनतमेष्वेव ग्रन्थेषु त्रयीति वेदस्योल्लेखो दृश्यते; नानतिप्राचीनेषु । यथा च छान्दोग्यब्राह्मणे—"अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् । स एतां त्रयीं विद्या मभ्यतपत् ( ६. १७. )"— इत्यादि । एवं मनुसंहिताया मपि—"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् । दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ मृग्यजुःसामलक्षणम् (१, २३.)"— इति । छान्दोग्यादिभ्योऽर्वाचीना ये ग्रन्थाः, तेषु तु वेदस्य चतुष्ट्व मेव, न त्रयीत्वम्; तदानी मथर्ववेदोऽपि सम्भूत इत्येव तथात्वे वीजम् । तथा हि

बृहदारण्यके—"अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित मेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः (४. ४. १०.)"—इत्यादि। किञ्च महाभारतेऽपि—"एकतश्चतुरो वेदान् भारतञ्चैतदेकतः। पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम्॥ चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा। तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारत मुच्यते (१प० २६८, २६९ श्लो०)"—इति। पुनस्तत्रैव "यो विद्याचतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः। न चाख्यान मिदं विद्यात् नैव स स्याद् विचक्षणः (१प० ३६८ श्लो०)"—इति। एवञ्च ऋग्यजुःसाम—इत्येव त्रयो वेदाः त्रयीशब्दवाच्याः; अथर्ववेदस्तु न त्रयीशब्दस्य शक्त्या बुध्यते; अपि तु गौण्येति। तथा च ऋगादयस्त्रय एव प्राचीनतमाः; अथर्ववेदस्तु तदपेक्षयार्वाचीन एवेति फलितं वेदतत्त्वान्वेषिणां तेषां मनोरथद्रुमेणेति।

नैतन्मत मस्मन्मनोहरम्, नापि विचारसहम्; निर्मूलत्वात् एकदेशदर्शित्वदोषग्राहग्रस्तत्वाच्च। तथाहि— न क्वापि वेदे लोके वा तादृशमतस्य किञ्चिदपि मूलं कथ मपि दृश्यतेऽनुमातुं वा शक्यते। त्रयीतिनाम्ना वेदस्य व्यवहार एवात्र निदान मिति चेत्, अस्मदुक्तत्रयीनामकारण मेव तत्संहारकतया सदैव जागर्त्ति; सत्स्वपि हि चतुर्ष्वपि वेदेषु रचनात्रयभेदनिबन्धनं तेषु त्रयित्व मव्याहत मेव। अत एव, सामवेदे ऋचां यजुषां च पाठा विद्यन्त एव, एवं यजुर्वेदेऽपि ऋचां पाठा उपलभ्यन्त एव, कथ मसाङ्कर्यं सामादिलक्षणाना मित्याशङ्क्य सिद्धान्तितं माधवाचार्येण,—अस्तु सामादिनामतः सम्प्रति प्रसिद्धेषु ग्रन्थेषु यजुरादीनां साङ्कर्यम्, परं न हि तेन सामादिलक्षणानां साङ्कर्यं सम्पद्यते। ऋगादिलक्षणानि तु सर्वथा अव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषशून्यान्येवेति इदानीन्तनाध्यापकप्रसिद्धिविरुद्धा एव ऋगादयः शास्त्रसम्मता इति। तथाहि— "नर्क्सामयजुषां लक्ष्म साङ्कर्यादिति शङ्कितेः। पादश्च गीतिःप्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्यसङ्करः॥ * * *। तत्र त्रिविधाना मृक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणं नास्ति। कुतः ? साङ्कर्यस्य दुष्परिहरत्वात्। 'अध्यापकप्रसिद्धेषु ऋग्वेदादिषु पठितो मन्त्रः'—इति हि

लक्षणं वक्तव्यम्, तच्च सङ्कीर्णम् । 'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः'–इत्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे सम्प्रतिपन्नो यजुषां मध्ये पठितः; न च तस्य यजुष्ट्व मस्ति, तद्ब्राह्मणे सावित्र्यर्चे त्वृक्त्वेन व्यवहृतत्वात् । 'एतत् साम गायन्नास्ते'–इति प्रतिज्ञाय किञ्चित् साम यजुर्वेदेऽङ्गीकृतम् (तै० स० १.६.५.१) । 'अक्षित मसि । अच्युत मसि । प्राणसंशित मसि' –इति त्रीणि यजूंषि सामवेदे समाम्नातानि (छा० ब्रा० ३.१७.) । तथा गीयमानस्य साम्न आश्रयभूता ऋचः सामवेदे समाम्नायन्ते । तस्मान्नास्ति लक्षण मिति चेत्, न; पादादीना मसङ्कीर्णलक्षणत्वात् । 'पादबन्धेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्राः ऋचः', 'गीतिरूपा मन्त्राः सामानि', 'वृत्तगीति-वर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि'–इत्युक्ते न क्वापि सङ्करः (अधि० मा० २. १.५०.)"–इति ।

एवञ्च इदानीन्तनाध्यापकप्रसिद्धितो वेदनामग्रहो मुग्धकर एव; वस्तुतो यत्र क्व च ग्रन्थेऽग्रन्थे वा यस्य कस्यचिन्मन्त्रस्य पादबन्धेनार्थेनोपेतत्वं वृत्तबद्ध-त्वञ्च दृश्यते, सोऽवश्य मेव ऋङ्मन्त्रः; एवं यत्र क्व च ग्रन्थेऽग्रन्थे वा यस्य कस्यचिन्मन्त्रस्य गीत्यात्मकत्वं दृश्यते, सोऽवश्य मेव साममन्त्रः; तथैव यत्र क्व च ग्रन्थेऽग्रन्थे वा यस्य कस्यचिन्मन्त्रस्य यजुष्ट्वं दृश्यते, सोऽवश्यं यजुर्मन्त्रः । एतदेवाङ्गीकृत्य स्मृतं बह्वृक्प्रातिशाख्यव्याख्याने विष्णुमित्रेण– "तथाचोक्तम् —'यः कश्चित् पादवान् मन्त्रो युक्तश्चाक्षरसम्पदा । स्वरयुक्तोऽवसाने च ता मृचं परिजानते'–इति"–इत्यादि । अत एव चात्रैव निरुक्ते ऋगिति प्रदर्शितं शतपथब्राह्मणीयवचनम् 'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि"–इति । न ह्येतद्वचन मस्ति क्व चिदपि ऋक्संहितायाम्, प्रत्युत अस्त्येव शतपथ-ब्राह्मणे (१४. ९. ४. २६.) ; यदि नाम ऋक्संहितावचनाना मेव ऋक्त्व माचार्यसम्मतं स्यात्, तर्हि कथ मुच्येतात्र भगवता यास्केन "तदेतदृक्-श्लोकाभ्या मभ्युक्तम् (२ भा० २५९ पृ०)"–इत्यादि । इह तु ऋगिति शतप-थीयवचनम्, श्लोक इति तदानीं प्रचलिताया मनुसंहिताया वचनञ्च प्रदर्शितम् । तदेव मेवैषाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति यत्र क्वच वेदे स्यात् ऋग्-

लक्षणो मन्त्रः, भवत्येव ग्रहणं तस्य ऋगिति ; एवं यजुरपीति । एवञ्च ग्रन्थानां कालकृतबहुत्वेऽपि वेदस्य त्रैविध्यं तदनु त्रयीत्वञ्च यथा पुरा तथाद्यापि सुस्थित मित्यथर्ववेदोऽपि नास्माद् भिन्नः ; तस्यापि ऋग्यजुर्मयत्वात् । अपि च यथा सामबहुले सामवेद इति प्रसिद्धेऽपि ग्रन्थे पठितानामृचा मृक्त्वं यजुषां यजुष्ट्व मुररीकार्य मेव, न च तत्स्वीकारात् तस्य सामवेदत्वं विहन्यते ; तथैव अथर्वकृत्याबहुले अथर्ववेद इति प्रसिद्धेऽपि ग्रन्थे पठितानामृचा मृक्त्वं यजुषाञ्च यजुष्ट्वं कथं न स्वीकार्य्यम् ? तथा स्वीकृते च तस्य अथर्ववेदत्वं कथं वा विहन्येत ? एवं हि अस्त्वथर्ववेदस्य स्वातन्त्र्यम्, तदीयमन्त्राणां केषाञ्चिदृक्त्वं केषाञ्चिच्च यजुष्ट्वं न केनापि कदापि कथ मपि वारितुं शक्यते । तत् सिद्ध मेतत्,— वेदानां ग्रन्थभेदकृतचतुष्ट्वेऽपि रचनाभेदकृतत्रयीत्वे न कोऽप्यस्ति संशयः । अत एवैव मुक्तं दृश्यते सर्वानुक्रमणीवृत्तौ— "विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते । ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये । अहेबुध्नीय मन्त्रं मे गोपायेत्यभिधीयते । ऋक् पादबद्धो, गीतस्तु साम, गद्यं यजुर्मन्त्रः । चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते"–इति ।

यच्चोक्तम्,— प्राचीनतमेष्वेव ग्रन्थेषु छान्दोग्यादिषु त्रयीव्यवहारः ; तदपेक्षयार्वाचीनेषु वृहदारण्यकादिष्वेवाथर्वनामेति; तदिदं तेषा मेकदेशदर्शित्व मेवावेदयति ; सर्वत्रसर्वविधदर्शनात् । तथाहि, तत्रैव छान्दोग्ये— "ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेद माथर्वणञ्चतुर्थम् (७.७.)"–इति च ; तत्रैव मनुसंहिताया मपि—(६. २६.) "अभिचारेषु", "कृत्यासु"–इति । तत्रैव शतपथब्राह्मणेऽपि— "त्रयो वेदा अजायन्त (११. ५. ८.)"–इत्यादि च ; तत्रैव महाभारतेऽपि—"अग्निहोत्रं त्रयी विद्या (१. १००. ६६.)", "कच्चिद्धर्मे त्रयीमूले (२. ५. ६८.)", "न सामऋग्यजुर्वर्णाः (३. १५०. १३.)"–इत्यादि च । किम्बहुना यत्र क्वच ग्रन्थे वेदस्य त्रित्वं दृश्यते, तत्र सर्वत्रैव चतुष्ट्व मपि । तदेवं ग्रन्थानां प्राचीनत्वार्वाचीनत्वभेद एव वेदस्य त्रित्वचतुष्ट्ववर्णने वीज मिति मतं सर्वथैवापास्तम् ॥

अथर्ववेदस्याधुनिकत्वे पाणिनेरस्मरण मपि मानान्तर मित्युक्तिश्च तेषां तथैव । तथाहि— ऋक्, यजुः, साम—इमानि तु मन्त्रलक्षणानि ; ऋग्लक्षणो मन्त्रः, यजुर्लक्षणो मन्त्रः, सामलक्षणो मन्त्र इति; तादृशमन्त्रास्तु सर्वेष्वेव वेदेषु राजन्ते इति तेषां ग्रहणेनैव सर्ववेदानां ग्रहणं सम्पन्नम् ; सूत्राणा मेव ग्रहणेनैव यथा सर्वेषा मेव पटाना मिति । अथर्वेति तु न किंविधस्यापि मन्त्रस्य लक्षणम् ; अपि तु यथा शाकलादिशाखानां साधारणं नाम ऋग्वेद इति, यथा च कठादिशाखानां साधारणं नाम यजुर्वेद इति, यथा च कौथुमादिशाखानां साधारणं नाम सामवेद इति; तथैव शौनकादिशाखानां साधारणं नाम अथर्ववेद इति । शाकलादिसंहिताग्रन्थानान्तु दृष्टत्वाभावः ; अपि तु पाणिनेरतिपूर्वतनीयत्वादार्षत्वाच्च प्रोक्तत्वं पाणिनिसम्मतम् । अत एव यथाप्रयोजनं प्रोक्ताधिकारे एव शाकलादीना मुल्लेखः कृतः पाणिनिना—"शाकलाद्वा (४. ३. १२८)"—इत्यादिभिः सूत्रैः; तत्राथर्ववेदीयशौनकसंहिताना मप्यस्त्येवोल्लेखः— "शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४. ३. १०६)"–इति । तस्मिंश्च सूत्रे छन्दसि इति दर्शनादिदञ्च ज्ञायते यत् प्रोक्तत्वेनैव ग्राह्योऽपि न छान्दसः, एव मप्यस्त्येव कश्चन ग्रन्थः पाणिनेर्विदित इति । स च ग्रन्थः खल्वथर्ववेदीयशिक्षैव ; तत एव तत्र प्रत्युदाहृतं नागेशेन "शौनकीया शिक्षा"–इति । अथर्ववेदीयकल्पस्यापि ग्रहणं कृत मेव तत्र प्रोक्ताधिकारे "काश्यपकौशिकाभ्या मृषिभ्यां णिनिः (४. ३. १०३.)"—इति । चतुरध्यायिकौशिकसूत्रस्याथर्ववेदीयत्वन्तु सुप्रसिद्ध मेव । किञ्च तत्रैव प्रोक्ताधिकारे यथैव "छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः (४. ३. १२९)"–इति सूचितम् ; तथैव "आथर्वणिकस्यैकलोपश्च (४. ३. १३३.)"–इत्यपि सूचित मेव । तथाच यथैव छन्दोगानां धर्म आम्नायो वा इत्यर्थे साधितं छान्दोग्य मिति, तथैव आथर्वणिकानां धर्म आम्नायो वा इत्यर्थे साधित मेव आथर्वण इति पदम् । "चरणाद्धर्म्माम्नानयोः (४. ३. १२६.)"–इति वार्त्तिकञ्च पाणिनितात्पर्याख्यानपर मेव न तु वाचनिक मित्यपि तत्रैव भाष्ये स्फुटम् । तथाहि—

"न चेदानी मन्यदाथर्वणिकानां स्वं भवितु मर्हति, अन्यदतो धर्म्माद्वा आम्नायाद्वा"—इति। वस्तुतः सर्वत्रैव "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्"—इत्येव भाष्यसम्मतम्। तदित्थ मथर्ववेदास्तित्वज्ञानं पाणिनेरासीन्नवेति विचारस्तु दूरे आस्ताम्; प्रत्युत अथर्ववेदीया शौनकसंहिता, अथर्ववेदीयकल्पसूत्रं चतुरध्यायात्मकं कौशिकं नाम, अथर्ववेदीया शिक्षा, अथर्ववेदीयानां पाठप्रकाराद्यात्मको धर्मश्चेति सर्वाण्येतानि आसन्नेव तस्य पाणिनेर्विदितानीति।

निरुक्तकारः खलु यास्कः पाणिनेः पूर्वतनः,—इति वादिनां निरुक्तेऽसकृदेवाथर्ववेदीयनिगमोद्धृतिदर्शनात् तस्य यास्कबहुपूर्वदृष्टत्वनिर्णयेनैव पाणिनिविदितत्वं सुवच मेव। तदथर्ववेदस्य पाणिनिविदितत्वविचारस्त्वस्तु पेटिकाबद्धः; तन्मते हि तत्पूर्वजस्य यास्कस्यापि विदित एवासीत्स इत्युपपद्यते। तथाहि—"तथापि निगमो भवति—'य मक्षिति मक्षितयः पिबन्ति'—इति। * * *। तथापि निगमो भवति—'यथा देवा अंशु माप्यायन्ति'—इति (२ भा० ५७ पृ०)"—इति। तावेतौ द्वावेव निगमौ अथर्ववेदत एव लब्धौ (अथ० सं० ७. ७. ८. ६.)। अन्यत्र च "एकं पादं नोत्खिदतीत्यपि निगमो भवति (४ भा० २९५ पृ०)"—इति। एषोऽपि निगमोऽथर्वसंहितात एव लब्धः; श्रूयते हि तत्रैवैकादशकाण्डीयद्वितीयानुवाकान्त्यसूक्ताद्या ऋक् "एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस मुच्चरन्"—इत्यादि। किञ्चात्र निघण्टुस्थितस्यैकपादित्यस्यैष एव निगमोऽन्यत्र वैश्वदेव्याद्यृच्तु तु निपात एवेति निर्णयात् निघण्टुसमाम्नायश्रवणात् पुराप्यासीदथर्ववेद इति यास्कसम्मत मेवेत्युपलभ्यते; निघण्टोश्च यास्कादिबहुपूर्वश्रुतत्वं प्रतिपादित मेव पूर्वम् ( कौ पृ० )। तस्मात् सर्ववेदसमकालिकत्व मेवाथर्ववेदस्येत्यत्र सन्देहलेशोऽप्ययुक्त एवेत्यस्माक मिति॥

वस्तुत एक एव वेदः, त्रिविधरचनात्मकस्त्रयीति प्रसिद्धोऽपि ऋक्संहिता, यजुःसंहिता सामसंहिता, अथर्वसंहितेति चतुःसंहिताभिश्चतुःसङ्ख्यान्वितः। संहितालक्षणं तु प्रातिशाख्यादौ प्रसिद्धम्—"पदप्रकृतिः

संहिता (ऋ० प्रा० २. १.)"–इति, "वर्णाना मेकप्राणयोगः संहिता (य० वा० प्रा० १. १५८.)"–इति, "परः सन्निकर्षः संहिता (पा० १.४.१०९.)" —इति; एवमादि। तत्र। ऋग्लक्षणानां (पद्यात्मकानां) मन्त्राणां चतुर्विधास्वपि संहितासु विद्यमानत्वेऽपि यत्र ग्रन्थेऽन्यलक्षण एकोऽपि मन्त्रो न दृश्यते, तस्यैव ऋक्संहितात्वम्। एवं तदतिरिक्तासु त्रिविधास्वपि संहितासु यजुर्लक्षणानां (गद्यात्मकानां) मन्त्राणां विद्यमानत्वेऽपि यत्र ग्रन्थे यजुषा मेवाधिक्यम्, ऋचा मपि यजुष्ट्वेनैव पाठो विनियोगश्च तस्यैव यजुःसंहितात्वम्; अतएवोक्त मध्वर्युब्राह्मणभाष्य-भूमिकायां सायणाचार्येणापि— "तत्र यजुषा मध्वर्युवेदेऽतिबहुलत्वात् क्वचित् क्वचित् ऋचां सद्भावेऽपि यजुर्वेद इत्येवाख्यायते"–इति। साम-संहितायास्तु स्तोमानां गानानाञ्च मूलीभूतानां कासाञ्चिदृचाम्, स्तोभलक्षणानां कतिपयानां यजुषां चाश्रयत्वेऽपि सर्वेषा मेव साम्ना माधारभूमित्वं स्पष्ट मेव। तदेवं पद्यगद्यगीतिभेदात् त्रिविधा एव रचना भवन्ति; तादृशरचनात्रैविध्यावलम्बनेनैतानि त्रीणि नामानि सम्पन्नानि। ततश्चतुर्थसंहितायाः किं नाम भवितव्य मिति चिन्ताया मेवं विभागकारिणो नाम्नैवैतस्या नामकरण मुचित मिति सिद्धं नामाथर्वसंहितेति॥

अथर्वा नामर्षिरेव हि यज्ञप्रक्रियायाः प्रथमप्रकाशकः; अतः स एव हौत्रादिकार्यसौकर्यायैव मृगादिनाम्ना वेदविभाजकश्चेत्यपि सम्भाव्यते। तथा हि—"यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते (ऋ० सं० १.६. ४. ५.)"–इति, "अग्निर्जातो अथर्वणा (ऋ० सं० ७. ७. ४. ५)"–इति, "त्वा मग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत (ऋ० सं० ४० ५. २३. ३)"–इति, "अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्। य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्त मिहेह ब्रवः (अ० सं० ७.१. २.)"–इति चैवमादिमन्त्रलिङ्गात् प्रतीयत एवाथर्वणो यज्ञाविष्कर्तृत्वम्। "यदृचैव हौत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथं व्यारब्धा त्रयी विद्या भवत्यथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते इति त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात् (ऐ० ब्रा० ५. ५. ८.)"–इत्यादिश्रुतेश्च स्फुट मेव

प्रतीयते यज्ञकार्यनिर्वाहसौकर्यार्थ मेव च ऋगादिसंहिताविभाग इति। किञ्चात्रैव च "अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते ? त्रय्या विद्यया"—इत्यतः समग्रा एव त्रयी विद्या ब्रह्मत्वकरणे साधिकेति स्पष्टम्। न चाथर्वसंहिताध्ययन मन्तरा समग्रायास्त्रय्याः ज्ञानं भवितु मर्हति; होत्रध्वर्यूद्गात्व्यवहार्यातिरिक्ताना मप्यृग्यजुर्मन्त्राणां तत्र सद्भावात्। अतएव "ऋचान्त्वः पोष मास्ते(ऋ० सं०)"—इति मन्त्रस्य निर्वचनावसरे यास्कोऽप्याह—"ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितु मर्हति (२भा० ६६पृ० )"—इति। अथर्ववेदी एव ब्रह्मा भवति स एव च यज्ञं समन्तात् रक्षति। तथाहि—"ब्रह्मैव विद्वान् यद् भृग्वङ्गिरोवित् सम्यगधीयानश्चरितब्रह्मचर्योऽन्यूनातिरिक्ताङ्गोऽप्रमत्तो यज्ञं रक्षति, तस्य प्रमादाद् यदि वाप्यसान्निध्याद् यथा भिन्ना नौरगाधे महत्युदके सम्प्लवेत्"—इत्यादि, "तस्माद् यजमानो भृग्वङ्गिरोविद मेव तत्र ब्रह्माणं वृणीयात् ; स हि यज्ञं तारयतीति ब्राह्मणम्"—इत्यन्तो गोपथग्रन्थो द्रष्टव्यः (गो० ब्रा० २. २. ५.)। छन्दोगा अपि ब्रह्मणो भिषक्त्व मामनन्त्येव—"भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति (छा० ब्रा० ५. १७. ८.)"—इत्यादि। सामवेदभाष्यावतरणिकादौ सायणाचार्योऽप्यवोचत्—"त्रयाणा मपराधन्तु ब्रह्मा परिहरेत् सदा"—इति। युक्ततरश्चैतद् तदैव ब्रह्मर्त्विजि, यदा खलु तस्य चतुर्वेदवित्त्वेन समग्रत्रयीवेत्तृत्वं स्यात् ; सर्ववेदवेत्तृत्वेनैव च तस्य विश्वव्यचा इति समुद्र इति चाख्यानं सङ्गच्छते। श्रूयते हि—"समुद्रोऽसि विश्वव्यचा (य० वा० सं० ५. ३३.)"—इति यजुर्मन्त्रः। स्फुटतरञ्चैतदाम्नातं दृश्यते गोपथपूर्वार्द्धे एव। तथाहि—"तस्मादृग्विद मेव होतारं वृणीष्व, यजुर्विद मध्वर्युम्, सामविद मुद्गातारम्, अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्"—इति, "प्रजापतिर्यज्ञ मकरोत्; स ऋचैव हौत्र मकरोत्, यजुषाध्वर्यवम्, साम्नौद्गात्रम्, अथर्वाङ्गिरोभिः ब्रह्मत्वम् (गो० ब्रा०१.३.१.२.)"—इति च।

एवञ्च यज्ञीयहौत्रादिकार्यानुसारत एव चतस्रः संहिताः सम्पन्नाः ; यत्र च यदीयं विधानादिकं श्रूयते, तदेव तस्य ब्राह्मण मिति च। तदुक्तं

सर्वानुक्रमणीवृत्तिभूमिकायाम् "विनियोक्तव्यरूपो यः स मन्त्र इति चक्षते । विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि"–इति । एव मेकस्यैव वेदस्य चतुर्द्धा विभागः सम्पन्नस्तत्र कः संशयः। सामवेदीयोह्योह्यग्रन्थयोः प्रकरण-सन्निवेशदर्शनेन च यज्ञकार्यसौकर्यार्थैवैकस्य वेदस्य चतुर्भेदाः कृता इत्या-भाति स्फुट मेव ; तयोरुभयोरेव हि ग्रन्थयोः क्रमात् दशरात्र-संवत्सर-एकाह-अहीन-सत्र-प्रायश्चित्त-क्षुद्रेतिसप्तपर्वात्मकत्वम् । एव मेव अध्वर्यु-वेदसंहिताभाष्ये प्रथमानुवाकव्याख्यावतरणिकायां यदाह सायणाचार्यः— "अस्मिन् वेदे समाख्याता दर्शपूर्णमासेष्टिमन्त्रास्त्रिविधाः, आध्वर्यवा याजमाना हौत्रकाश्चेति । * * * । एतेषां मध्ये याजमानानां हौत्राणाञ्च चित्रस्थानीयत्वात् भित्तिस्थानीयाना माध्वर्यवाणा मेवादौ पाठो युज्यते"–इत्यादि, तदपि सङ्गच्छते ; यदि हि यज्ञकार्यानुक्रमेणैवै-तास्वतस्र एव संहिता ग्रथिता न स्युस्तर्हि तस्य तथोक्तिरसङ्गतित्व मेवो-पगच्छेन्नामेति। वस्तुतस्तु यजुर्वेदीयमैत्रायणीयशाखायाः परिच्छेदविन्यासानां प्रत्यक्षसन्दर्शनेनैवास्तङ्गच्छेदेवैषसंशयस्तत् कि मत्र प्रमाणपारायणेनेति ।

तथाच निष्पन्न मेतत् ;—होतृव्यवहार्यमन्त्रास्तु सर्व एव ऋचः ; तासा मृचां संहननेनोपनिबद्धो ग्रन्थ एव ऋक्संहितेति सम्पन्नः ; तदर्थविनियोगाद्यभिधायकस्च ग्रन्थ ऋग्ब्राह्मण मिति । तावेव ग्रन्थावधुना ऋग्वेद इति प्रसिद्धौ । अध्वर्युव्यवहार्यमन्त्राः प्रायो यजूंषि, ऋचोऽपि सन्ति; तादृशर्ग्यजुःसंहननेनोपनिबद्धो ग्रन्थ एव यजुःसंहितेति सम्पन्नः ; तदर्थविनियोगाद्यभिधायकस्च ग्रन्थो यजुर्ब्राह्मण मिति । तावेव गन्था-वधुना यजुर्वेद इति प्रसिद्धौ। उद्गातृव्यवहार्यमन्त्रास्तु ऋचो, यजूंषि, सामानि च; तादृशर्ग्यजुःसाम्नां संहननेनोपनिबद्धो ग्रन्थ एव साम-संहितेति सम्पन्नः ; तदर्थविनियोगाद्यभिधायकस्च ग्रन्थः सामब्राह्मण मिति । तावेव ग्रन्थावधुना सामवेद इति प्रसिद्धौ । ये, खलु ऋग्वेद-मात्रे कृतश्रमाः, अध्यापयन्ति व्यवहरन्ति च ऋग्वेदमात्रम्, त एवा-ख्यायन्ते ऋग्वेदिन इति । तेषां ब्रह्मयज्ञादिसिद्धये ये केचन मन्त्राः

प्रयोजनीयाः, तेऽपि तदीयसंहिताया मन्तर्निविष्टाः। ये खलु यजुर्वेद-मात्रे कृतश्रमाः, अध्यापयन्ति व्यवहरन्ति च यजुर्वेदमात्रम्, त एवाख्या-यन्ते यजुर्वेदिन इति; किञ्च यजुःसंहिताया मृचा मपि सद्भावात् यजु-र्वेदिना मृग्बोधोऽपि सुतरां सम्पद्यते, अतस्ते "द्विवेदी"–इत्यप्युच्यन्ते; भाषायां 'दुवे'–इति च। तेषां ब्रह्मयज्ञादिसिद्धये ये केचन मन्त्राः प्रयो-जनीयाः, तेऽपि तदीयसंहिताया मन्तर्निविष्टाः। ये खलु सामवेदमात्रे कृतश्रमाः, अध्यापयन्ति व्यवहरन्ति च सामवेदमात्रम्, त एवाख्यायन्ते सामवेदिन इति; किञ्च सामसंहिताया मृचां यजुषाञ्च विद्यमानत्वात् सामवेदिना मृग्यजुषोर्बोधोऽपि सुतरां सम्पद्यते, अतस्ते "त्रिवेदी"–इत्यप्युच्यन्ते; भाषायां 'त्रिवाडी'–'तिवारी'—इति च। तेषां ब्रह्मयज्ञादि-सिद्धये ये केचन मन्त्राः प्रयोजनीयाः, तेऽपि तदीयसंहितायां ब्राह्मणे चान्तर्निविष्टाः। एभ्योऽवशिष्टमन्त्राणां पेटिकारूपा संहत्यैव निबद्धा चतुर्थसंहिता सम्पन्ना। तत्र ऋचोऽपि सन्ति यजूंषि अपि। सैवाथर्व-संहितेति प्रसिद्धा। तदर्थविनियोगाद्यभिधायकश्च ग्रन्थोऽथर्वब्राह्मण मिति। तावेव ग्रन्थावधुना अथर्ववेद इति प्रसिद्धौ। कृतौ ब्रह्मत्वकार्ये कर्त्तव्ये सर्वासा मेवर्चां सर्वेषा मेव यजुषां सर्वेषाञ्चैव साम्नां बोधः प्रयोजनीयः; तादृशसर्वमन्त्रवेत्तृत्वञ्च ऋग्यजुःसामसंहिताध्ययनवता मपि अथर्वसंहिताध्ययन मन्तरा न सम्भवति, अतो यथा हौत्रे ऋग्वेदः, यथा च आध्वर्यवे यजुर्वेदः, यथैव औद्गात्रे सामवेदः; तथैव ब्रह्मत्वे ऽथर्ववेदः। किञ्च यथा ऋग्वेदस्य होतृवेद इत्यपरं नाम, यथा च यजुर्वेदस्य अध्वर्युवेद इत्यपरं नाम, यथैव सामवेदस्य उद्गातृवेद इत्यपरं नाम; तथैवाथर्ववेदस्य ब्रह्मवेद इत्यपरं नाम। अपि च ब्रह्मत्वकरणायैवा-थर्ववेदाध्ययनं विशेषतः सप्रयोजनम्, तच्च ऋगाद्यध्ययनमृते न सम्भवति, अतो ऽथर्ववेदाध्ययनेच्छूना मृग्वेदाद्यध्ययन मप्यवश्यं कर्त्तव्य मित्यतो ये त्वथर्ववेदिनस्त एव प्रायश्चतुर्वेदाध्यायिनो भवन्ति, ततः "चतुर्वेदी"–इत्याख्यायन्ते, भाषायां 'चौबे'–इति च।

तदेवं मूलत एकस्यैव वेदस्य रचनाभेदमूलकत्रयीत्वेऽपि होत्रादिकार्य-सौकर्यार्थं कृतं चतुष्ट्व मवश्य मेव सर्वैरादरणीयम् । अतएव दृश्यतेऽत्र निरुक्तेऽपि—"चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः (४भा० ३४५पृ०)"–इति । सिद्ध मित्थं चत्वार एव वेदास्त्रयीशब्दवाच्या इति ॥

(छन्दः) "छन्दः"–इत्यपि वेदस्यैवान्यतम मतिप्राचीनं नाम ।

(१) छन्दःशब्देन पुरा खलु ऐशप्रबन्धाना मेषां वाय्वादीनां सर्वेषा मेव बोधो भवति स्म । तत एवैव माथर्वणिका आमनन्ति—"त्रीणि च्छन्दांसि कवयो ०—० आपो वाता ओषधयः (१८.१.२.७.)"–इति । तत्र छन्दांसि बन्धनानीत्यर्थः। अत्राप्युपपद्यत एवैतन्निरुक्तम्—'छन्दांसि छादनात् (३भा० ३६७पृ०)'–इति; छादनं नाम बन्धन मेव; बन्धनान्येव हीमाः सर्वे विषयाः; तदुक्तं हि साङ्ख्यतत्त्वकौमुद्याम्—"विषयन्ति विषयिण मनुबध्नन्ति स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत्, विषयाः पृथिव्यादयः सुखादयश्चास्मदादीनाम् (५ श्लो० कौ०)"–इत्यादि ।

(२) तत उत्तरं सर्वेषा मपि अक्षरसमाम्नायाना मर्थतस्तु सर्वेषां येन केनापि जीवेन कृतानां शब्दाना मकारादीनां छन्दः-शब्देन व्यपदेशो भवति स्म । तत एवैवं तैत्तिरीया आमनन्ति—"छन्दः पुरुष इति य मवोचाम, अक्षरसमाम्नाय एव; तस्यैतस्याकारो रसः (३.२.३.४.)"–इति । तत्राप्युपपद्यत एवैतन्निरुक्तम्—'छन्दांसि छादनात्'–इति; छादनान्येव हि शब्दा अकारादयोऽर्थानाम् ।

(३) ततः पश्चात् ऋषीणां प्रबन्धेषु ऋगादि-त्रिविधेषु मन्त्रेष्वपि व्यवहृतं छन्द इति । तत एवैव मप्याथर्वणिका आमनन्त्युच्छिष्टसूक्ते—"अग्न्याधेय मथो दीक्षा कामप्रच्छन्दसा सह । उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः (११.४.१.८.)"–इति ; अन्यत्र च "दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद्रसेन । स मिन्द्रियेण पयसाह मग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन (६.१२.११.१.)"–इति । तत्राप्युपपद्यत एतदेव निरुक्तं 'छन्दांसि छादनात्'–इति; छादनान्येव हि ते मन्त्रा मनो-

भावादीनाम् । निरुक्तारम्भेऽपि यद् भाषितम्—"छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः (२ भा० ७ पृ० )"-इत्यादि, तत्रापि मन्त्रेभ्य इत्येव तस्यार्थः ; तत्र हि निघण्टौ मन्त्रमात्रत एवोद्धृतानां पदानां दर्शनात् । अत एव तस्य वृत्तौ 'छन्दांसि = मन्त्राः'— इत्येवोक्तं दुर्गाचार्येणापि ।

श्रूयते चेदं तैत्तिरीयारण्यके—"यश्छन्दसा मृषभो विश्वरूपः ०—० भूर्भुवः सुवश्छन्द ओम् (१०. ६.)"-इति । " 'यः' प्रणवः 'छन्दसां' वेदानां मध्ये 'ऋषभः' श्रेष्ठः"-इत्यादि च तद्भाष्यं सायणीयम् । तथैव छान्दोग्यब्राह्मणेऽपि—"देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशꣳस्ते छन्दोभिरच्छादयन् ; यदेभिरच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् (३. ४. २.)" -इति । शतपथेऽप्येव मेव—"यदेभिरात्मान माच्छादयत्, देवा मृत्यो-र्बिभ्यत, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् (४. ५. १. १.)"-इति ।

निघण्टुश्रुतस्य (१ भा० २०२ पृ०) कान्तिकर्मणोऽपि भवति छन्द इत्येके । तथाच सर्व एव वेदाः काम्यमानास्त्वास्माकं सर्वकामपूरकाः कमनीया वा । अर्चतिकर्मण एव (१ भा० ३३४ पृ०) भवति छन्द इति च केचित् । तथाच सर्वेषा मेव वेदमन्त्राणा मर्चायां गतिरिति छन्दस्त्वम् ; अर्चनीया वा सर्ववेदा अस्माकं ततोऽपि छन्दो वेदस्त्रयीत्याद्यभिन्नार्थः । तदित्थं पुरा सर्वेषा मेव मन्त्राणां साधारणं नाम छन्द इत्यासीदिति तु सर्वसम्मत मेव । अतएव च निघण्टौ स्तोत्नामसु (१ भा० ३४३ पृ०) 'छन्दः'-इति । पाणि-नीयसूत्रेषु, कात्यायनीयवार्त्तिकेषु, पतञ्जलेरिष्टिषु, अन्यत्रान्यत्र चैवमादिषु ग्रन्थेषु सर्ववेदपरं छन्दोवचनं सर्ववादिसम्मतं सुप्रसिद्धञ्चेत्यत एव सर्व एव वैदिकाश्छान्दसा इत्यभिधीयन्तेऽपीति ।

(७) अस्तीहापर मपि ज्ञेयम् ;—"ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे० (अ० सं० ११. ४. २. ४.)"-इत्याथर्वणे, "तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ( ऋ० सं० १०. ९. )"-इत्यृचि च "छन्दांसि"

—इति पदेन सामवेदीयच्छन्दोनामग्रन्थीयमन्त्राणा मेव ग्रहण मिष्यते छान्दसैरेकमत्येति । सामवेदीयानां हि संहिताग्रन्थो गानम् छन्द इति च द्विधा भिन्नः । गानं तत्र गेयारण्योह्योह्येति चतुर्विधम् ; छन्दस्तु योनिरुत्त-रेति द्विविध मेव, तयोर्द्वयोस्त्वार्च्चिक इति च व्यवहारोऽनतिप्राचीनो वैयाकरणतोषकरः । एवं हि यथैव 'तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्' 'ऋचः' ऋग्वेदीयाः, यजुर्वेदीयाः, अथर्ववेदीयास्च; 'यजुः' यजूंषि वृत्तगीतिवर्जि-तान्मवाक्यानि यजुर्वेदीयानि सामवेदीयानि अथर्ववेदीयानि च; 'सामानि' सामवेदीयानि यजुर्वेदीयानि च 'यज्ञिरे', तथैव 'तस्मात्' तत एव यज्ञात् 'छन्दांसि' सामवेदीयगानमूलीभूतास्छन्दोनामकमन्त्रास्च जज्ञिरे इति तदर्थः। यदि च तेषु छन्दःसु अपि ऋग्लक्षणं विद्यत एवेति पुन-श्छन्दोग्रहण मानर्थक्यं भजेतैव, परं तेषां प्राधान्यख्यापनाय ब्राह्मण-वसिष्ठन्यायेन पृथग्ग्रहणाच्च न दोषावहम्; अन्यथा हि ऋग्वेदोद्धृता एव ते मन्त्रा इति तेषा मप्राधान्य मेव स्यादिति ।

एतेन ऋग्वेदत एव साममूलीभूतास्ता ऋचस्तत्र सङ्गृहीता इति च मतं दूरोत्सारित मेव । पुनर्विशदयिष्यामश्चैतदिहैवोपरिष्टान्मन्त्रनिरुक्ति-प्रकरणे । वस्तुतो यज्ञार्थ मेव हौत्रम्, यज्ञार्थ मेवौद्गात्रम् ; तत्र होटकार्यनिर्वाहाय ये मन्त्राश्रिताः ते हि सर्व एव ऋक्संहितायां दृश्यन्ते; औद्गाटकार्यनिर्वाहाय ये च मन्त्राश्रिताः, ते सामरूपा ऋग्रूपास्च; त एव च सामसंहितायां दृश्यन्ते। तत्र हि सामसङ्घातात्मग्रन्थानां सामेत्येव प्रसिद्धिश्चिरन्तनी, इदानीन्तु गान मित्यपि ; ऋक्सङ्घात्मग्रन्थ-योस्तु छन्दइत्येव प्रसिद्धिः पुरातनी, आर्च्चिक इति तु पाणिनीयाना मिति विशेषः । इत्यन्यत्र पश्यतु तावत्—ऋक्संहितातः सामवेदीयर्गुद्धरणे कोऽवसरः ? यदैव यथैव यतएव येनैव ऋक्संहिताया ऋचां सङ्ग्रहः सम्पन्नः, तदैव तथैव ततएव तेनैव सामसंहितायास्छन्दसाञ्च सङ्ग्रहः ; इत्येतत्ख्यापनायैव "छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्"—इति कृतः पृथगुप-न्यास इति ।

(५) पुरैव गायत्र्यादीना मपि छन्दस्त्वं व्यवहृतं मन्त्रेष्वपि; तद्यथा—“छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु (ऋ० सं० ८. १६. ५.)”– इत्यादि। तत्रापि छादन मेव बीजम्; भवति हि शब्दानां छादनं गायत्र्यादिभिः। किञ्च यथा खलु पद्यैर्भवति शब्दानां छादनम्, तथैव गद्यैर्गानैरपीति सर्वविधरचनाना मेव छन्दस्त्वं चिरात्प्रतिष्ठितम्; कालभेदाल्लौकिक-व्यवहारो विभिन्न इत्यन्यदेतत्। अत एव “छन्दांसि=छादनात्”–इति व्याख्यानावसरेऽप्युक्तं दुर्गाचार्येण—“ते (मन्त्राः) छन्दोमयाः; नाच्छन्दसि वागुच्चरति”–इत्यादि। अतएव च गद्यात्मकस्य यजुर्मन्त्रस्यापि छन्दो-निर्णयं कुर्वन्ति वैदिकाः, याजुषीति गायत्र्यादिभेदोऽपि वर्णितः पिङ्गलेन (३. ३–८ सू०)। तदित्थं निश्छन्दो यजुरिति त्वापेक्षिक मेव; कात्यायनेन यजुर्वेदीयमन्त्राणां सर्वेषा मेव छन्दोज्ञानस्य विधानात् (अनु० १. १.)। माध्यन्दिनीभाष्यकारेण महीधरेणाप्युक्तम्—‘तत्र यजुर्वेदमन्त्रेषु कानिचिद् यजूंषि काश्चन ऋचः; तत्र ऋचां नियताक्षरपादावसानाना मावश्यकं छन्दः कात्यायनेनोक्तम्, यजुषां षडुत्तरशताक्षरावसानाना मेकाक्षरादीनां पिङ्गलेन दैव्येक मित्यादिनोक्तं छन्दो बोद्धव्यम्’–इति।

(६) यतः प्रभृति ‘मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्’–इत्यभूत् सुदृढम्, ततः प्रभृत्येव ब्राह्मणग्रन्थाना मपि छन्दःशब्देन च ग्रहणीयता सुतरां सम्पन्ना; एव मपि मन्त्रभागाना मेव मुख्यं छन्दस्त्व मिति तु न ततोऽपि विलय मुपगतम्। अतएव यास्को मन्त्रार्थे एव छन्दःशब्दं प्रायुङ्क्त (२भा० ७पृ०) मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरेवाविशेषेण छन्दःशब्दव्यवहारं कृतवता भगवता पाणिनिनापि क्वचित् प्रायोजि मन्त्रेष्वेव च छन्द इति। तथाहि—“छन्दो-ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४. २. ६६.)”–इत्येवमादीनि समालोच्यानि; न हि तत्र छन्दःशब्दस्योभयपरत्वे ब्राह्मणानां पृथक् ग्रहण मुपपद्यते।

(७) ततो वेदाङ्गाना मपि वेदत्वातिदेशात् छन्दस्त्व मप्यनिवार्य मेव। तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना “छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति (१ अ० ४ पा० २ आ०)”–इति, परं तत्रापि ये केचित् शौनकीयशिक्षादयः, तेषां

वेदाङ्गत्व मस्तु नास्तु वा छन्दस्त्वं तु नास्त्येव । तथा च दर्शितं प्रत्यु-दाहरणं "शौनकादिभ्यश्छन्दसि ( ४. ३. १०६ )"–इति सूत्रीयशेखरे 'छन्दसि किम् ? शौनकीया शिक्षा'–इति । अपि वा तत्र सूत्रे मुख्य-छन्दस्त्व मेवापेक्षितम्, न च तद्वेदाङ्गाना मित्येव तथोक्तं नागेशेनेति । प्रातिशाख्यादावपि व्यवहृत एव छन्दःशब्दः पतञ्जलिना—"छन्दःशास्त्रेषु (१ अ० २ पा० १ आ०)"–इति ; प्रातिशाख्यादिष्वेव तदर्थो गम्यते ; अपि वा छन्दसां शास्त्रेषु इत्येव तदर्थः ॥

(८) नागेशादिभिस्तु भिक्षुसूत्रनटसूत्रयोरपि छन्दस्त्वं स्वीकृतम् । तथाहि—"तित्तिरि० । इत आरभ्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तेनैकदिगित्ये-तत्पर्यन्तं छन्दसि वाच्ये इष्यन्ते । शौनकादिभ्यश्छन्दसीत्यतश्छन्दोग्रहणस्य पूर्व मपकर्षादुत्तरत्रानुवृत्तेश्च"–इति लघुशब्देन्दुशेखरे द्रष्टव्यम् । तित्ति-र्यादिषु तेनैकदिगिति सूत्रतः पूर्वेषां ( ४. ३. १०२—१११. ) दशानां सूत्राणां नवमे एव "भिक्षुनटसूत्रयोः" ग्रहणं दृश्यते । तदेवं क्रमादिदानी मार्षेतिप्रसिद्धग्रन्थमात्रस्यैव छन्दस्त्व मुररीकुर्वन्ति विपश्चित इत्यलं छन्दो-विचारेणेति ॥

( स्वाध्यायः ) स्वाध्याय इति च तस्यैव वेदस्य नामान्तरम् । "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (तै० आ० २. १५. ७.)"–इत्यादिश्रुतिषु "यः स्वाध्याय मधीतेऽब्दम् ( २. १०७. )"– इत्यादिस्मृतिषु च तथैव व्यवहारात् । द्विजातिभिः सम्यगध्येय एष इत्येवासौ स्वाध्याय इति कथ्यते । अतएवाह भगवान् मनुः—"योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीव-न्नेव शूद्रत्व माशु गच्छति सान्वयः (२. १६८)"–इतीति ॥

( आगमः ) आगम इति च वेदस्यैव नामान्तरम् । "रक्षोहागम-लघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्"–इति पाणिनीयवार्त्तिककार–कात्यायनाद्युक्तेः ; "आगमः,—खल्वपि ब्राह्मणेन षड़ङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"–इति च तत्र पातञ्जलम् । भट्टकुमारिलेनाप्युक्तं स्वश्लोकवार्त्तिकभूमिकाया मेव—"आ-गमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि"–इति । साङ्ख्यकारिकाया मीश्वर-

क्षणोनापि यदुक्तम् "तस्मादपि चासिद्धं परोक्ष माप्तागमात् सिद्धम्"—इति तदप्येतदभिप्रायेणैवेति ॥

( निगमः ) निगम इति च आगम इति चानर्थान्तरम्। यास्कीयेऽत्र निरुक्ते यावन्ति खलूदाहरणानि दर्शितानि, प्रायस्तावतां सर्वेषा मेव निगम इत्युपन्यासो दृश्यते। तथाहि—"तत्र खलु इत्येतस्य निगमा भवन्ति—" —इत्यादि (२ भा० २८४ पृ०)। "अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते, दमूनाः क्षेत्रसाधा इति; अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः उष्णं घृत मिति (२भा० १५६ पृ०)"—इति चाह स एव यास्कः। "निगमाः ०—०निगमनात् (२ भा० ७पृ०)"—इति च नैरुक्त मिति ॥

अत्र चेदं तत्त्वम्—आदौ नु निगम इति मन्त्रभागस्यैवाभिधान मासीन्न ब्राह्मणभागस्यापि; निरुक्तग्रन्थे सर्वत्रैव मन्त्राणां मन्त्रांशानाञ्चैव निगमत्वेनोपन्यासात्, तत्रदर्शितयोः 'दमूनाः', 'क्षेत्रसाधाः'—इत्यनयोः पदयोः मन्त्रभागे एव दृश्यत्वाच्च। मन्त्रभागत उद्धृताना मेव पदानाम्, तदाश्रयग्रन्थानां चास्ति निगम इति व्यवहारः। तथाहि मनुसंहितायाम्—"निगमांश्च वैदिकान् (४. १९.)"—इति। अत्र चोक्त मिदं कुल्लूकेन—"तथा पर्यायकथनेन वेदार्थावबोधकान् निगमाख्यांश्च ग्रन्थान्"—इति। तत उत्तरं कालाद् ब्राह्मणेष्वप्युपसङ्क्रान्तं निगमाभिधानम्; तत एव भागवतादौ निगमपदेन मन्त्रब्राह्मणोभयात्मकस्य वेदस्यैव बोधो भवति। तथाहि—"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्। पिवत भागवतं रस मालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः (भा० पु० १. १. ३.)"—इति। "निगमो वेदः, स एव कल्पतरुः, सर्वपुरुषार्थोपायत्वात्; तस्य फल मिदं भागवतं नाम"—इति तत्र श्रीधरस्वामी। "निगमकल्पतरोः सर्वफलोत्पत्तिभुवः शाखोपशाखाभिर्वैकुण्ठ मप्यध्यारूढ़स्य वेदरूपतरोः"—इति च तत्र क्रमसन्दर्भः। "निगमो वेदः स एव कल्पतरुः"—इत्यादि च तत्रैव विश्वनाथः।

वस्तुतो मन्त्रभागस्यैव निगमत्वं चिरादेव व्यवहृतम्। ब्राह्मणभागस्य

तथा व्यवहारस्त्वनतिप्राचीन एव। निगमव्याख्यानादिपरा ग्रन्था एव ब्राह्मणाख्या ऐतरेयादिनामभिः प्रसिद्धा भाष्याणीत्येवाख्यातुं युज्यन्ते। यदा ह्यतीते बहुतिथे काले मन्त्रार्थोऽतीव दुर्बोधः सम्पन्नः, तदैव यज्ञकाले यज्ञानुष्ठानतत्परैः तदानीन्तनैर्ब्राह्मणैः तेषां मन्त्राणां विधानादिव्यवस्थया च सह मन्त्रान्तर्गतदुर्बोधपदाना मर्था अपि भाषिताः; अतो ब्राह्मणान्येवादिवेदभाष्याणि। भाषाभाष्य मितीमावेकधातुमूलकावेव शब्दौ; तेन चैषु ग्रन्थेषु यतस्तत्कालप्रचलितया भाषयैव बोधिता वेदार्था अत एवैषां भाष्यत्वम्।

तथाहि श्रूयतेऽसौ ऋङ्मन्त्रः—"यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः (ऋ० स० २.३.२३.४; ८.४.१६.६.)"–इति। तद्व्याख्यानपरश्चैतदैतरेयकं ब्राह्मणम्—"यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवा इत्युत्तमया परिदधाति। * * *। छन्दांसि वै साध्या देवाः, तेऽग्रेऽग्निनाग्नि मयजन्त। 'ते स्वर्गं लोक मायन्' आदित्याश्चैवेहासन्नङ्गिरसश्च (ऐ० ब्रा० १.३.५.)"–इत्यादि। एतदेव व्याख्यानं निरुक्तादौ विशदीकृतं च दृश्यते (४ भा० ३२०–३५२ पृ०)।

तथैव योऽयं शुक्लकृष्णयोरुभयोरेव यजुषोरारम्भमन्त्रः—"इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे (१.१.१.)"–इति। तस्यैतस्य च दुर्गमपदव्याख्यानानि कृतानि दृश्यन्ते शुक्लकृष्णयोरुभयोरेव ब्राह्मणयोः। तथाहि शतपथब्राह्मणे—"वृष्ट्यै तदाह यदाह इषे त्वेति"–इति, "यो वृष्टादूर्ग् रसो जायते, तस्मै तदाह" –इति, 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"–इति च (१.७.१.१–५.)। तैत्तिरीये "तृतीयस्या मितो दिवि सोम आसीत्"–इत्यारभ्य "श्रेष्ठतमाय कर्म्मण इत्याह यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म्म तस्मादेव माह"–इति यावत् (तै० ब्रा० ३.२.१.१–४.) द्रष्टव्यो ग्रन्थसन्दर्भः।

तथा श्रूयन्ते सामवेदे सर्वसामस्वेव ये स्तोभाः, ते खलु व्याख्याता

दृश्यन्त एव तद्ब्राह्मणे—"अयं वावलोको हाउकारो वायुर्हायिकार-श्चन्द्रमा अथकारः। आत्मेहकारोऽग्निरीकारः। आदित्य उकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोइकारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग् विराट्। अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः सञ्चारो हुङ्कारः (छा० ब्रा० ३.१३.१—३.)"—इति।

वचलेपायितस्याय मर्थो मीमांसादर्शने। तथाह्यस्ति तत्र मन्त्रलिङ्गाधि-करणे सूत्रम्—"विधिशब्दाच्च (१.२.५३.)"—इति। विधिशब्दास्च विव-क्षितार्थानेव मन्त्राननुवदन्ति,—'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्मे-त्येतदेवाह'—इति"—इति तद्भाष्यं शबरस्वामिकृतम्। "मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्द इत्युच्यते"—इति च तत्राह सायणाचार्योऽपि। तत्रैवोदाहृत्य व्याख्यातञ्च तेनापि तथैव ब्राह्मणम्। तथाहि—"स चैव माम्नायते—'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवैतदाह'—इति। तत्र 'शतं हिमाः (ऋ०स० १.५.८.४ इ०)'—इत्येतद् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्; अवशिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम्"—इत्यादि। तद्भाष्येऽप्युक्तम्—'अत्र हिमशब्देन तद्युक्ता हेमन्तर्त्तवोऽभिधीयन्ते; तथाच ब्राह्मणम्'—इत्यादि।

भगवता कात्यायनेनापि यजुःप्रातिशाख्ये निगमापरपर्य्यायस्य मन्त्र-भागस्यैव वेदत्वं तद्व्याख्यापरस्य ब्राह्मणभागस्य भाष्यत्व मिति मन्त्रब्राह्म-णयोः पार्थक्यं स्फुटं सूचितम्। तथाहि—"ॐकारं वेदेषु (१.१८)। अथकारं भाष्येषु (१.१९)"—इति। यदि च तत्र तद्भाष्यकारः खलु उव्वटो वेदशब्देन मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरेव ग्रहणं स्वीचकार, भाष्यशब्देन च कल्पाद्यङ्गानाम्; परं तत्रैवानुपद मेव "सप्त। त्रीन्। द्वौ। एकम्"—इति स्वरविधायकेषु सूत्रेषु (१.१२७—१३०) सामस्वर—नैगमस्वर—भाषिकस्वर—यज्ञकर्म्मस्वराणां विधानस्य पर्य्यालोचनयेहश्रुतभाष्यशब्देन ब्राह्मणाना मेव बोधने कात्यायनाभिप्रायोऽनुभूयते; "अथ ब्राह्मण-स्वरसंस्कारनियमः"— इत्यारभ्य "तान एवाङ्गोपाङ्गानाम्"— इत्यन्तेन परिशिष्टग्रन्थेन भाषिकादिस्वराणां सुष्ठु परिचायितत्वात्। ब्राह्मण-

ग्रन्थानां हि भाष्यत्वेनैव तदीयस्वराणां भाषिकत्वसिद्धिः। ब्राह्मणस्वर एव भाषिकस्वर इत्युच्यते इति तु सर्वसम्मतम्। अतएवोक्तम् "एकम्"–इति सूत्रस्योव्वटभाष्यस्य टीप्पन्याम्—"मन्त्रकाण्डपठितानामपि ब्राह्मणभागानामश्वस्तूपर इत्यादीनां त्रैस्वर्यम् (निगमस्वरत्वम्) एव; ब्राह्मणकाण्डपठितानां विश्वेदेवाः प्रोत्तनमपथेहेत्यादीनां भाषिकस्वर एवेति" –इति।

तथा तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिकायामपि स्पष्टमेवाभिचख्यौ सायणाचार्यो ब्राह्मणानां मन्त्रव्याख्याग्रन्थत्वम्—"यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः, तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः" –इति।

तदित्थं सिद्धमेव सर्वेषां किल मन्त्रग्रन्थानामसाधारणं नाम मन्त्र इति निगम इति च; एवं सर्वेषामेव ब्राह्मणग्रन्थानामसाधारणं नाम ब्राह्मणं भाष्यमिति च; तथा मन्त्रग्रन्थेषु श्रुतानां पदानां वाक्यानां स्वराणाञ्च नैगमत्वम्; ब्राह्मणग्रन्थश्रुतानां पदानां वाक्यानां स्वराणाञ्च भाषिकत्वमिति। अत एव "प्रोक्षणन्तु हिरण्वता पाणिना दर्भपिञ्जूलवता वेति भाषिकम् (६.२.)"–इत्युक्तं सङ्गच्छते शाङ्खायनगृह्यकारस्येति।

"अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः * * *; अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः (२ भा० १५६ पृ०)"–इत्यादौ निरुक्ते श्रुतं भाषिकपदं यदि भाषाशब्दमूलकमेव, तथापि न क्षतिः; भाषाभाष्ययोरेकधातुजत्वात्। किञ्च भाषयोपनिबद्धमेव भाष्यं भवति; मूलार्थबोधने एव हि सर्वभाष्यस्य तात्पर्यम्; न च चलितभाषया कथनमन्तरा मूलस्य स्पष्टतया बोधः सञ्जायते। तदेवं वेदस्य दुर्बोधत्वपरिहाराय यदा ब्राह्मणग्रन्था विरचिताः, तदा तादृश्या एव भाषाया व्यवहार आसीत् यादृश्या रचितानि वेदभाष्यरूपाणि ब्राह्मणानि। एवञ्च तदानीं ब्राह्मणग्रन्थीयानां वाक्यादीनां यथासीद् भाषिकत्वम्, तथैवाद्यतनीयानामस्मद्वाक्यादीनामपीति सममेवेति तन्नैरुक्तञ्च न विरुध्यते। वस्तुतस्तु पुराकल्पे ब्राह्मणग्रन्थरचना-

काले मन्त्राणा मेव वैदिकत्वेन ग्रहण मासीद्योग्यम्; ब्राह्मणानान्त्ववश्यं लौकिकत्वेनैव; पर मिदानीन्तु मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरेव वैदिकत्वेनाभ्यर्चनं समानम्; सौत्रिकाणा मपि वचनानां वैदिकवत्त्वम्; ततः परस्थाना मेव लौकिकत्व मिति। शास्त्रकृतां व्यवहार एवात्र निदानम्; तत्रापि कालस्यैव प्राधान्य मित्यभ्युपगन्तव्य मत एव चा सूत्रकालात् सिद्ध मविशेषेण "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"—इति ॥

( **मन्त्रः** ) तत्र, तयोर्मन्त्रब्राह्मणयोरादौ तावत् मन्त्रस्य लक्षण मनुसन्धेयम्, — किन्नाम मन्त्रत्वम् ? इति; लक्षणस्योपयोगो हि पूर्वाचार्यैः प्रदर्शित एव —"ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः। लक्षणेन तु सिद्धाना मन्तं यान्ति विपश्चितः"—इति। ततोऽनुसन्धीयमानञ्च दृश्यते—उक्तं खलु भगवता यास्केनैव "मन्त्राः मननात् (२ भा० ३६७ पृ०)" —इति मन्त्रनिर्वचनम्; तत एव सिद्धञ्च मन्त्रलक्षणम्—'मननहेतुर्मन्त्रः' इति। तथाच तत्र वृत्तिः—"तेभ्यः (मन्त्रेभ्यः) हि अध्यात्माधिदैवाधियज्ञादिमन्तारो मन्यन्ते तदेषां मन्त्रत्वम्"—इति।

दूषितञ्चैतत् सायणेन ऋग्भाष्यभूमिकायाम्—'मननहेतुर्मन्त्र इत्युक्ते ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिः'—इत्युक्त्वा; परं न च तत्रोदाहृतं तादृशं ब्राह्मणवाक्य मेक मपि। तथाचावगम्यते— "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ( जै० सू० २. १. ३२. )"—इतिसूत्रानुगतम् "अभियुक्तानां मन्त्रोऽय मिति समाख्यानं लक्षणम्"—इति विवक्षया,—'विहितार्थाभिधायको मन्त्रः'—इत्यस्य पूर्वाचार्यविहितस्य, असिपदान्तादीनां पञ्चदशानां च मीमांसावृत्तिकृदुदाहृतानां, मन्त्रलक्षणानां मीमांसाभाष्यकारकृतखण्डनेभ्यः सोदाहरणेभ्यः कतिचिदुद्धृत्य दिदर्शयिषया चोद्विग्नचित्तत्त्वेनैकाग्रमना यास्कोक्ते विचारावसरं नालभत स इति। प्रतिपादित मस्माभिर्मीमांसाकारस्य खलु जैमिनेः यास्काग्रजत्वम् ( चू० पृ० ); तथाच जागरितेऽपि हि तादृशे लक्षणे यदुक्तं यास्केन "मननान्मन्त्रः"—इति, ततः सम्भाव्य मेवैतल्लक्षण मदुष्ट मिति। अपि च सायणतः प्राचीनेन, उद्धृतासिनापि हि शबर-

स्वामिना तत्सूत्रस्य भाष्ये विहितार्थाभिधायकत्वादीनि मन्त्रलक्षणानि खण्ड-खण्डीकृतानि; परं न तस्मिन्निहवेऽस्य याक्कीयलक्षणस्यावतरणा मपीष्टं तेन; इतश्च ज्ञायते नैतल्लक्षणं दुष्ट मिति। "अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः (जै० सू० १. २. ४०.) इति सूत्रस्य, "विधिशब्दाच्च (जै० सू० १. २. ५३.)"—इति सूत्रस्य च व्याख्यानावसरे, मन्त्राणां मननसाधनत्वं स च स्वयं व्यनक्ति—"तु-शब्देन मन्त्राणा मदृष्टार्थ मुच्चारणमात्रं वारयति ०—० तस्मान्मन्त्रोच्चारणस्य अर्थप्रकाशनरूपं दृष्ट मेव प्रयोजनम्"—इति, "तस्माद्विवक्षितार्था मन्त्राः प्रयोगकाले स्वार्थप्रकाशनायैवोच्चा-रयितव्याः"—इति च। मन्त्राणां मननहेतुत्वलक्षणं मनुलक्ष्यैवोक्तिरेषा भग-वतो यास्कस्य—"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्य मिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति (३ भा० २८५ पृ०)"—इति। तदेवं 'मननहेतुर्मन्त्रः'—इति, 'मन्त्रोऽय मित्यभियुक्तोपदिष्टो मन्त्रः'—इति च द्वे एव मन्त्रलक्षणे निर्दुष्टे इति गम्यते; तद् यस्मै यद्रोचेत, तदेव स गृह्णा-त्वित्यल मिह नीरसविवादेनेति।

अथवाचैतत् सुष्ठु समाधानम्—जैमिनिकृतं मन्त्रलक्षणं ग्रन्थपरम्, यास्ककृतलक्षणं तु वाक्यपर मिति। तथाच जैमिनिनये वैदिकसमाख्या-सिद्धानां मन्त्रेतिप्रसिद्धानां संहिताग्रन्थाना मेव मन्त्रग्रन्थत्वम्; न त्वन्येषां ताण्ड्यादीनाम्; यास्कमते तु ग्रन्थानां तथा लक्षणेऽपि न क्षतिः; परं ताण्ड्यब्राह्मणाद्याध्यायगतानां 'महन्मे वोचः'—इत्यादीनाम्, छान्दोग्यब्राह्म-णाद्याध्यायद्वयगतानाञ्च 'देव सवितः प्रसुव'—इत्यादीनाम्, तथा तैत्तिरी-यारण्यकादिपठितानाञ्चोड्डतासीत्यादीनां वाक्यानां मन्त्रत्वसिद्धये खल्विद मवश्यं वक्तव्यम्—'मननहेतुर्मन्त्रः'—इति। तदेव मुभयलक्षणयोर्विषय-भेदात् नैवास्ति विवादविषय इत्यस्माक मिति॥

"आनन्दपुरवास्तव्य-वज्रटाख्यस्य सूनुना। मन्त्रभाष्य मिदं कॢप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति"—इत्युक्त्या स्वपरिचय मुक्तवताखिलमन्त्रभाष्यं कृतवता उव्वटेन तत्रैव भूमिकायां प्रदर्शिताश्चैते मन्त्रभेदाः;—

"न्यायविदः पठन्ति—

'विध्यर्थवादयाच्ञाशीःस्तुतिप्रैषप्रवह्लिकाः।
प्रश्नो व्याकरणं तर्कः पूर्ववृत्तानुकीर्त्तनम्।
अवधारणं चोपनिषत् वाक्यार्थास्तु त्रयोदश।
मन्त्रेषु ये प्रदृश्यन्ते व्याख्यातृश्रुतिचोदिताः।'—इति।

अथ तेषा मुदाहरणानि। तत्र,—

परमेष्ठ्यभिहितः—"अश्वस्तूपरो गो मृगस्ते (य० वा० स० २४.१.)"—इति।
अर्थवादः—"देवा यज्ञ मतन्वत (य०वा०स० १६. १२.)"—इत्यनुवाकः।
याच्ञा—"तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि (य०वा०स० ३. १७.)"—इति।
आशीः—"आवो देवास ईमहे (य० वा० स० ४. ५.)"—इति।
स्तुतिः—"अग्निर्मूर्द्धादिवः ककुत् (य० वा० स० ३. १२)"—इति।
प्रैषः—"होता यक्षत् समिधाग्निम् (य० वा० स० २१. २६.)"—इति।
प्रवह्लिका—"इन्द्राग्नी अपादियम् (य० वा० स० ३३. ६३.)"—इति।
प्रश्नः—"कः स्विदेकाकी चरति (य० वा० स० २३. ६. इ०)"—इति।
व्याकरणम्—"सूर्य एकाकी चरति (य० वा० स० २३. १०. इ०)"—इति।
तर्कः—"मा गृधः कस्य स्विद्धनम् (य० वा० स० ४०. १.)"—इति।
पूर्ववृत्तानुकीर्त्तनम्—"ओषधयः समवदन्त (य०वा०स० १२.६६.)"—इति।
अवधारणम्—"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति (श्वे० उ० ६. १५.)"—इति।
उपनिषत्—"ईशा वास्य मिदं सर्वम् (य० वा० स० ४०. १.)"—इति।"

शावरभाष्येऽपि आशीरादयस्त्रयोदशैव मन्त्रभेदाः प्रदर्शिताः, परं तत्त्वन्यथैव; द्रष्टव्यास्च ते तत्रैव (जै० सू० २. १. ३२. भा०)। ऋग्भाष्यभूमिकायाञ्च सायणेन तत एव कति चिदुद्धृत्य प्रदर्शिताः।

उव्वटेन ह्येतानि सर्वाण्येव यजुर्वेदाधिकृत्योदाहृतानि; निरुक्तकारेण भगवता यास्केन त्वेव ऋग्वेदेऽपि दर्शितानि बह्न्युदाहरणानि। तथाहि—"तास्त्रिविधा ऋच;—परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यस्च"—इत्युपक्रम्य, "परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृतास्च मन्त्रा भूयिष्ठा अल्पश आध्यात्मिकाः"—

इत्युक्त्वा, "अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः * * *; अथाप्याशीरेव न स्तुतिः; तदेतद्बहुल माध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु"—इति प्रदर्श्य, उदाहृतानीमानि—"अथापि शपथाभिशापौ ०—०; अथापि कस्यचिद् भावस्याचिख्यासा ०—०; अथापि परिदेवना कस्माच्चिद् भावात् ०—०; एव मुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति"—इति, "अक्षसूक्ते द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च (३ भा० ३९६ पृ०)"—इत्येवमादीनि ॥

स चैष एव मन्त्रभागः संहितेत्युच्यते। तल्लक्षणं चोक्तं पुरस्तात् समासतः (ठ पृ०)। सा चादौ द्विविधा;—निर्भुजसंहिता, प्रतृण्णसंहिता चेति। "अग्निमीळेपुरोहितम् (ऋ० सं० १.१.१.१.)"—इत्यादयः पाठा एव निर्भुजसंहिताया उदाहरणानि। यैव निर्भुजसंहिता, सैव आर्षी संहितेत्यप्युच्यते। प्रतृण्णसंहितापि द्विविधा;—पदसंहिता, क्रमसंहिता चेति नाम। तत्र, "अग्निम्, ईडे, पुरःऽहितम्"—इत्येवं पठ्यते पदसंहिता; "अग्निम्, ईडे; ईडे, पुरोहितम्; पुरोहित मिति पुरःऽहितम्"—इत्येवं क्रमसंहितेत्युच्यते। इमा मेव क्रमसंहिता मवलम्ब्य जटाद्या अष्टविधाश्च विकृतयः पठ्यन्ते। तदुक्तं विकृतवल्ल्याम्—"जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वजो, दण्डो, रथो घनः। अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः (१.५.)"—इति। ततो जटादीना मपि क्रमात्मकत्वेन प्रतृण्णसंहितात्व मेव। तदेव मेकैकमन्त्रस्य एकादशप्रकाराः संहितापाठा भवन्ति। तत्त्वतस्तु पाठप्रकारभेदात् बहुप्रस्थापि सार्षीसंहिता प्रतिवेद मेकैकैवेति ॥

तासाञ्च सर्वासा मेव संहितानां बहुप्राचीनत्वात् कालभेददेशभेदव्यक्तिभेदादिभिरध्ययनाध्यापनयोरुच्चारणादिभेदाः पाठभेदाश्च सम्पन्नाः, पाठन्यूनातिरिक्तता च किञ्चित् सञ्जाता, आचार्याणां प्रकृतिवैषम्यात् स्वस्वदेशकालाद्यनुरोधाच्च अनुष्ठेयभेदाः प्रयोगभेदाश्च सम्पन्नाः; अत एवैकैकापि सा बहुशाखत्व मापन्ना। तदेवोदाहृतञ्च प्राचीनभाषितं चरणषट्कं षड्गुरुशिष्येण—"एकविंशत्यध्वयुक्तं ऋग्वेद मृषयो विदुः। सहस्राध्वा सामवेदो यजुरेकशताध्वकम्। नवाध्वाथर्वणोऽन्ये तु प्राहुः पञ्च-

दशाध्वकम्"–इति। "अध्वा, देवता, गतिः, शाखा इति पर्यायवाचकाः"–इति च तत्रोक्तं तेनैव। अत्र च कासाञ्चित् शाखात्वम्, कासाञ्चिदनुशाखात्वं निर्णीतं चरणव्यूहकारादिभिस्तत्तत्रतत्रैव द्रष्टव्यम्।

इत्थं बहुशाखत्वेऽप्येकैकस्य वेदस्य, कस्या अप्येकस्याः शाखाया अध्ययनेनैव भवेदेवाधीत एकैको वेदः; सर्वास्वेव शाखासु संहितायाः प्रायोऽभेदात्। किञ्चित्पाठन्यूनातिरिक्तेन, किञ्चिदुच्चारणभेदेन किञ्चिदनुष्ठानपद्धतिपार्थक्येन च न ह्येव भवेत् संहितायाः स्वरूपतो विभिन्नत्वम्; जागर्त्त्येव ह्येष न्यायः 'एकदेशविकृत मनन्यवत् (पा० सू० १. १. ७२. भा० )'–इति, भवत्येव हि छिन्नपुच्छे शुनि श्वत्वव्यवहारो लोके। अत एव सायणाचार्यादिभिरेकैका मेव शाखा मवलम्ब्य कृतैर्भाष्यैरेवावाप्ता तत्र कृतकृत्यतेति। अत एव च "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः(२. १६५.)"–इति "षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् (३. १.)–"–इति, "वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् (३. २.)"–इति च मनुवचनानि सङ्गच्छन्ते; मूलतः प्रकृतपार्थक्ये हि तासां कथं सम्भवेन्नामाध्ययनं द्वादशस्वेवाब्देषु सहस्रशाखस्य सामवेदस्येति तादृशस्मृतिवचनाना मुन्मत्तप्रलपितत्व मेव प्रसज्येतेति। अतोऽत्र त्वेव मेवावधार्यम्,—एष खलु वेदशाखाभेदो न मन्वाद्यध्यायभेदतुल्यः, प्रत्युत भिन्नकाललिखितानां भिन्नदेशीयाना मेकग्रन्थीयाना मपि बहुतरादर्शपुस्तकानां यथा भवत्येव पाठादिभेदः, तथैवेति। अथाप्यत्र संशयश्चेत् कस्याप्येकस्य वेदस्य कयोरपि शाखयोराद्यन्तपाठसन्दर्शनेनैव तद्दूरोत्सारणं सुकर मेवेति भवेन्निवृत्तः कोलाहलः।

परन्त्वेव मपि यजुषस्तु कतिपयशाखाभिः कतिपयशाखाना मेव मस्ति भेदः, यत्तयोरुभयोरेव शाखासमूहयोः मिथः शुक्लकृष्णत्व ममंसत प्राचीनाः। तथाच माध्यन्दिनीप्रभृतीनां यजुःशाखानां शुक्लयजुरिति ख्यातिः; तैत्तिरीयादीनान्तु यजुःशाखानां कृष्णयजुरिति समाख्या चेति। ईदृशासदृशभेदकारणादिकन्तु वैदिकग्रन्थसमूहतः स्वस्वधिषणापरि-

चालनतश्च यथानुभव मेव वेदितव्यम्; किञ्च तत्र शुक्लयजुषः कति शाखाः किन्नामकाश्च, कृष्णयजुषोऽपि कति शाखाः किन्नामकाश्चेति चरणव्यूहादिभ्य एवावगन्तव्य मिति॥

तथाचायं मन्त्रभागः ऋग्-यजुः-सामेतित्रिविधरचनात्मकोऽपि हौत्राध्वर्यवौद्गात्रब्राह्मेति चतुःसंहितात्मकः, कालेन शुक्लकृष्णेति द्वैविध्यं गते च यजुषि सम्प्रति राजते पञ्चसंहितात्मक एव;—ऋग्वेदसंहिता, शुक्लयजुर्वेदसंहिता, कृष्णयजुर्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता, अथर्ववेदसंहितेति॥

अथासु च पञ्चसु वेदसंहितासु बहुधैव पौर्वापर्यं केचिदाहुः। तथाहि—'ऋक्संहितायाः सर्वत एव प्राथम्यम्; तत्रापि तृतीयमण्डलस्यापेक्षिकनूतनत्वम्, दशममण्डलस्य तु ऋक्संहितापरिशिष्टरूपत्वञ्च; सामसंहिताया तत एवोद्धृतार्चिकमूलकत्वम्; शुक्लयजुःसंहितायाः तदपेक्षयाप्यर्वाचीनत्वम्; अथर्वसंहितायास्तु सर्ववेदपरिशिष्टत्वेन ततोऽप्यर्वाचीनत्वम्'—इति। वेदतत्त्वानुसन्धित्सुभिः प्राच्यतमैरेवेदं तत्त्व मुद्भावित मित्यत्र विश्वास एवोचितः सर्वेषाम्; परं किं कुर्मो वयं नात्रास्माकं बुद्धिः प्रसरति; एकस्मिन्नेव हि काले, एकस्यैवाचार्यस्य, एकेनैव चयनयत्नेन चतुष्ट्व मापन्नानां पौर्वापर्यं कथङ्कारं स्यादिति। यदि कश्चित् फलविक्रयी,—आम्रार्थी आम्र मेव गृह्णातु, जम्ब्वर्थी जम्बू मेव, पनसार्थी पनस मेव, राजादनार्थी राजादन मेवेति क्रयविक्रयसौकर्यार्थ मेकदैवैकेनैव यत्नेनैक मेव फलराशिं विभज्य चयनेन चतुरः स्तूपान् विदध्यात्; तत्र कः खलु धीर एवं वदितु मुत्सहेत,—अयं स्तूपः पूर्वं कृतः, अत्राप्यंशशो नूतन इत्यादि? तथैवात्रापि। किञ्च यथास्त्येव तत्र फलाना मुत्पत्तौ कालपौर्वापर्यम्, न त्वेककालजातान्येव तानि सर्वाणि; एव मत्रापि अस्तु मन्त्राणा मुत्पत्तौ कालपौर्वापर्यम्, न त्वेककालोत्पन्नास्ते इति स्यात् सत्य मेव; परं न हि तेन स्तूपानां संहितानां वा प्राचीनत्वार्वाचीनत्वविचारः कथ मपि सङ्गच्छते; फलानां मन्त्राणाञ्चोत्पत्तिकालविचारस्तु स्तूपानां संहिताना मुत्पत्तिकालविचारतः सर्वथा स्वतन्त्र एवेति बहुशास्त्रपारावारदृश्वनां विश्वविख्यातकीर्त्तीना

मपि तेषामत्र तद्वचो न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टु मिष्ट इत्यस्माकम् ॥

तथापीदं विचार्यते कथङ्कार मृक्संहितायाः प्राथम्य मिति ;—

स्मर्यते हि मनुसंहितायाम्—"ऋग्यजुःसामलक्षणम् (२. ११.)"—इति। एव मादौ ऋग्वेदस्य प्रथमप्रयोगदर्शनादेव तस्यैव वेदेषु प्राथम्यं गम्यत इति चेन्न ; तादृशसमस्तप्रयोगे हि शब्दानुशासनादेव ऋक्शब्दस्य पूर्वनिपातो भवति। तथा हि पाणिनिसूत्रम्—"अल्पाच्तरम् (२.२. ३४)"—इति। यद्येवम्प्रयोगादेव प्राथम्यं गम्येत, तर्हि "विन्ध्यकिष्किन्धहिमालयाः"—इत्युक्ते विन्ध्यस्यैव प्राथम्य मुररीकार्यं स्यात्। असमस्तप्रयोगेषु च यत्र ऋक्शब्दस्य प्रथमतः प्रयोगो दृश्यते, तत्र प्रयोक्तुः यादृच्छिकत्व मेव वीजम्। अपि वा पद्यगद्यगानात्मिकासु त्रिविधरचनासु तत्त्वतो गानरचनाया एव ज्यायस्त्वेऽपि पद्यरचनायास्तदस्थिरूपत्वेन ततोऽपि गरीयस्त्व मवश्य मभ्युपगन्तव्य मिति रचनानियमाधीन मेव प्राधान्य मृचां बहुत्र आद्युल्लेखे निदानम्। तदेवं सर्वत्रैवर्क्शब्दस्य प्रथमप्रयोग एव ऋग्वेदस्य सर्ववेदप्राथम्ये विनिगमक मिति तेषां मनोराज्यविजृम्भणमात्र मेव।

श्रूयते च कौषीतकीब्राह्मणे—"तत्परिचरणावितरौ वेदौ (६. ११.)"—इति। एतेन यज्ञकाण्डे होमकर्मण एव प्राधान्यम्, होमार्थ मेव अध्वर्युकृत्य मुद्गातृकृत्यञ्चेत्येव बोधितम् ; एतस्माच्चर्चां प्रथमोत्पन्नत्वं न कथ मपि बुध्यते। एवञ्चास्य तद्विषयकमानत्वेनोपन्यासोऽपि वृथैव।

सर्ववेदभाष्यकारस्य श्रीमतः सायणाचार्यस्य ऋग्वेदभाष्यभूमिकायाम्—"मन्त्रकाण्डेष्वपि यजुर्वेदगतेषु तत्र तत्राध्वर्युणा प्रयोज्या ऋचो बहव आम्नाताः। साम्नान्तु सर्वेषा मृगाश्रितत्त्वं प्रसिद्धम्। आथर्वणिकैरपि स्वकीयसंहिताया मृच एव बाहुल्येनाधीयन्ते।"—इत्युक्तिर्दृश्यते सत्यम् ; पर मेतस्मादपि ऋग्वेदस्य प्राथम्ये सायणसम्मतिर्न बुध्यते ; अपि तु मन्त्रेषु ऋचां बाहुल्य मित्येव ध्वन्यते। किञ्चर्चां प्राधान्याख्याने च ऋक्संहितायाः प्राधान्यं नैव गम्यते ; ततोऽन्यत्रापि ऋचां सद्भावात्। अत एव ऋचां

हि रचनानियमाधीनं बाहुल्यमूलकं वा प्राधान्यमुररीकुर्वतोऽपि सायणस्य मते ऋग्वेदस्य त्वप्राधान्य मेव। तथा ह्युक्त मध्वर्युभाष्यभूमिकायाम् —"आनुपूर्व्या कर्मणां स्वरूपं यजुर्वेदे समाम्नातम्। तत्र विशेषापेक्षाया मपेक्षितायां याज्यापुरोऽनुवाक्यादय ऋग्वेदे समाम्नायन्ते, स्तोत्रादीनि तु सामवेदे। तथा सति भित्तिस्थानीयो यजुर्वेदः, चित्रस्थानीयावितरौ। तस्मात् कर्मसु यजुर्वेदस्य प्राधान्यम्"—इति। सामभाष्यभूमिकायाञ्च —"अध्वर्युमुख्यैर्ऋत्विग्भिस्तुभिर्यज्ञसम्पदः। निर्म्मिमीते क्रियासङ्घैरध्वर्युर्यज्ञियं वपुः। तदलं कुरुते होता ब्रह्मोद्गातेत्यमी त्रयः। ***। यज्ञं यजुर्भिरध्वर्युर्निर्म्मिमीते ततो यजुः। व्याख्यातं प्रथमं पश्चादृचां व्याख्यान मीरितम्। साम्ना मृगाश्रितत्वेन सामव्याख्याथ वर्ण्यते"—इति। वस्तुतो जगत्सृष्टेः पुरैव ब्रह्मणश्चतुर्भ्यो वदनेभ्यश्चत्वारो वेदा युगपत् समुत्पन्ना इत्येवंवादिनां पौराणिककालप्रभवाणां श्रीमत्सायणादीनां तथाविधविचारे मनोनिवेशोऽप्यसम्भव एव ; तेषां तादृशाशिरस्कविचारप्रवृत्तौ भवेदेव हि स्वसिद्धान्तव्याकोपः।

किञ्च ऋक्संहितायाः प्राथम्येऽभ्युपगते ऋक्संहिताप्रणयनकाले यजुःसाम्नोरसद्भावात् तत्रैव ऋक्संहितायां यजुःसाम्नोरुल्लेखः कथङ्कारं श्रूयत इत्येवं तादृशचतुरचेतसां चेतःसु कथन्न चमत्कार माविष्कृतम् ? पश्यन्तु तावत् धीमन्तः—"यजुस्तस्मादजायत (ऋ० स० १०. ९०. ९.)"—इति, "त मेव मृचि तमु ब्रह्माण माहुर्यज्ञन्यं सामगा मुक्थशासम् (ऋ० स० १०. १०७. ६.)"—इति, "ऋक्सामाभ्या मभिहितौ (ऋ० स० १०. ८५. ३१.)"—इत्येवमादीनि। इमानि तु निदर्शनानि दशममण्डलादाहृतानि, दशममण्डलस्यानतिप्राचीनत्व मेव तेषा मिति चेत्, ततोऽन्यतोऽपि दर्शयामः। तथाहि—"बर्हिरिव यजुषा रक्षमाणः (ऋ० स० ५. ६२. ५)"—इति पञ्चममण्डलीयम्, "उभे वाचौ वदति सामगा इव (२. ४३. १.)"—इति च द्वितीयमण्डलीयम्। सामविशेषनामान्यपि श्रूयन्त एव ऋक्संहितायाम्। तथाहि—"रथन्तर मा जभारा वसिष्ठः (१०. १८१. १.)"—इति,

"भरद्वाजो बृहदाचक्रे अग्नेः"–इति च। एते च निदर्शने दशममण्डलीये इत्येवाग्राह्ये तेषा मिति चेत्, अन्यत्राप्यस्त्येवं तथैव। तथाहि—"रथन्तरे सूर्यम्पर्यपश्यत् (१. १६४. २५.)"–इति प्रथममण्डलीयम्, "प्र गायत्रेण गायत (६. ६०. १.)"-इति च नवममण्डलीय मिति दिक्। तदेव ऋक्-संहितायाः ऋड्लत्वणमन्त्राणां वा प्रथमरचितत्वं तेषां स्वकपोलकल्पित मिवाभातीति॥

यदप्युक्तं तद्द्वितीयमण्डलस्य अपेक्षाकृतमर्वाचीनत्वं तदप्येव मेव; मानाभावात्। कश्च खलु धीमान् शुष्कतृणसहाय एव वटविटपिदुर्गच्छेदने समर्थो भवेत्? अस्ति खलु ऋक्संहिताद्वितीयमण्डलीयसायणभाष्या-रम्भे "य आङ्गिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत् स गृत्स-मदो द्वितीयं मण्डल मपश्यत्"–इत्यनुक्रमणीवचन मुद्धृतम्। तथाच द्वितीयमण्डलस्य शौनकीयत्वं सुव्यक्तम्; शौनकीयग्रन्थस्य च पाणिनिना "शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४. ३. १०६.)"–इति सूत्रे प्रोक्तत्वस्वीकारात् प्राचीनतमत्वाभावः सुतरां स्फुट मित्येवैकेषा युक्तिर्द्वितीयमण्डलस्य चिरा-त्सिद्धप्राचीनतमत्वखण्डने शुष्कतृणमयी कर्त्तनी। इह पश्यन्तु तावच्चक्षु-ष्मन्तः—एकवंशीयास्त्वान्यवंशप्रभवास्च शौनकाः खलु बहव एव;— मन्त्राणां द्रष्टारः आसन् शौनकाः; तेभ्योऽन्ये सूक्तानाञ्च द्रष्टारः स्थिता एव शौनकाः; द्वितीयमण्डलस्य द्रष्टा च शौनकस्ततोऽप्यन्य एव; अथर्व-शाखाविशेषस्य च प्रवक्ता शौनकोऽप्यन्य एव; तत्तद्वंशप्रभवा ह्यद्यापि बङ्गत्र बहवः शौनका राजन्त एव। "शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४. ३.१०६.)"– इति पाणिनिसूत्रस्य शौनकप्रोक्तग्रन्थ एव विषयः, तथाच शौनकप्रोक्तं अथर्ववेदीयसंहिताग्रन्थं येऽधीयते त एव शौनकिनः; शौनकदृष्टग्रन्थस्तु न चास्य सूत्रस्य विषयः; अनुक्रमण्यान्तु "द्वितीयमण्डल मपश्यत्"– इत्युक्तम्, न तु द्वितीयं मण्डल मवोचदिति*। ततस्च शौनकदृष्टत्व

* शौनकविषये लिह पुरस्तादप्यसकृदुक्तानि, तान्यथत्र स्मर्त्तव्यानि (शौ, अ ३०)।

मेव द्वितीयमण्डलस्येति शौनकदृष्टं द्वितीयं मण्डलं ये ऽधीयते इति विग्रहे तत्सत्रस्य प्रवृत्तिरेव नास्तीति तस्य द्वितीयमण्डलस्य प्रोक्तत्वमूलकापेक्षिकार्वाचीनत्वकल्पनं भ्रमविजृम्भित मेवेति। वस्तुतः पाणिनिसूत्राणां समालोचनयेद मेव ज्ञायते ;—तस्य भवतः पाणिनेः शाखाना मेव प्रोक्तत्वेन ग्रहण मीप्सितम्, तदध्येत्रर्थे एव च प्रत्ययादयो विहिताः ; मन्त्रसूक्तमण्डलादीनान्तु दृष्टत्वेनैव ग्रहण मिति दृश्यतेऽनुक्रमणिकादावपि। न च क्वचिदपि पाणिनीये मण्डलाध्येत्रर्थे तादृश प्रत्ययविधिर्दृश्यते प्रत्युत शाखाद्यध्येत्रर्थे एव ; सन्ति यथैव ऋग्वेदादीनां शाकलादयः शाखा, तथैवास्ति शौनकसंहितेत्यथर्ववेदस्यापि चिरादेव ; एवं यथैव शाकलादिशाखानां प्रोक्तत्व मेव पाणिनिसम्मतम्, तथैव शौनकशाखाया अपि। तत्कथ मत्र द्वितीयमण्डलाध्येतरि तादृशप्रत्ययप्रसङ्गः ? कुतो वा अनुक्रमण्यां यस्य द्रष्टृत्वं भासते, तस्यैवेह बलात् प्रोक्तत्वेन ग्रहणं भवेदिति ?

यदप्युक्तम्—तस्यैव ऋग्वेदद्वितीयमण्डलस्य प्रथमसूक्तीयद्वितीयस्यां "तवाग्ने होत्रं तव पोत्र मृत्वियं तव नेष्ट्रं त्व मग्निदृतायतः। तव प्रशास्त्रं त्व मध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे (ऋ० स० २. १. २.)"—इत्यस्या मृचि यत् होत्रादीनि याज्ञिकाभिधानानि श्रूयन्ते, ततश्च ज्ञायते तन्मण्डलं यज्ञकालभवम्, तदेव च मानान्तरं तस्यापेक्षाकृताधुनिकत्वस्येति ; इतश्च वक्तुरेकदेशदर्शित्व मेव विशदीभवति। यतः खलु यज्ञकाले एव सर्वासां संहितानां ग्रथनं सम्पन्न मतः संहितासु सर्वत्रैव विद्यन्ते तथाविधा मन्त्राः ; न द्वितीयमण्डले एव। तथाहि तत्प्रदर्शितमन्त्रश्रुतानि पदान्यन्यत्रापि यथाक्रमेण दर्शयामः—१. ७६. ४. होत्रम्, तत्रैव पोत्रम्, ८. ४०. ११. ऋत्वियम्, १. १५. ३. नेष्टः, १०. १४. १३. अग्निध्रम्, १. ९४. ६. प्रशास्ता, १. २३. १६. अध्वरीयताम्, १. ८०. १. ब्रह्मा १. १३. ६. गृहपतिः, १. १. ८. दमे इति। एवञ्च होत्रादिपददर्शनात् तत्तन्मन्त्राणां यज्ञकालजत्वसिद्धेऽपि प्रथममण्डलादिभ्यो द्वितीयं मण्डल माधुनिक मिति वक्तुं कथ मपि न युज्यत इति सुव्यक्तम्॥

एवं दशममण्डलस्य ऋक्परिशिष्टरूपत्वं कल्पयितुश्चैका आकाशवल्ली अवलम्बिता तैर्भाषापार्थक्यादिर्नाम ; दशममण्डलस्य हि भाषा मन्त्रार्थगततात्पर्याणि च प्रथममण्डलादिभ्यः सर्वथा पृथगेवेति परिशिष्टरूपत्व मेव स्वीकार्य मिति तदाशयः। किं मत्र ब्रूमो वयम्? अस्मच्छ्रुतिषु हि दशममण्डलस्य मण्डलान्तराणाञ्च एकविधैव भाषा उपलभ्यते, अस्मद्बुद्धिषु च तथैकविध मेव तात्पर्यं मिति न जानीमहे केषां बुद्धिमालिन्यं केषां वा श्रवणेन्द्रियदुष्टत्व मिति।

वस्तुतो वेदानां कृतकत्वपक्षे मन्त्राणां बहुकर्तृकत्वात् अनेककालजत्वाच्च भाषातात्पर्ययोः पार्थक्यन्तु प्रतिमन्त्रगत मेवेत्यन्यदेतत् ; मण्डलगतपार्थक्यन्तु असम्भव मेव मण्डलरूपेण ग्रन्थाविर्भावाभावात्। सर्वास्वेव च शाखासु एकविधपरिच्छेदविभागोऽपि न सम्भवपरः ; तथाच यत्र खलु शाखायां नवपरिच्छेदपरिच्छिन्ना एव सर्वे मन्त्राः, यत्र वैकादशपरिच्छेदपरिच्छिन्ना इमे एव सर्वमन्त्राः, तत्र कथं दशममण्डलस्य परिशिष्टत्वं परिरच्येत? इदानीं प्रचलितेयं हि संहिता, शाकलबाष्कलेतिशाखाद्वयमिलितेत्येव बुध्यते ; द्विविधपरिच्छेदविभागदर्शनात्। तथाचाष्टकाध्यायवर्गैर्विभागः खलु एकशाखाकृतः, मण्डलानुवाकसूक्तैर्विभागस्त्वपरशाखाकृतः स्फुट मेव प्रतीयते। अष्टकाध्यायवर्गविभक्तसंहितायां किञ्चित् पाठाधिक्य मपि। त एवाधिकाः पाठाः वालखिल्यमन्त्रा इत्युच्यन्ते। न च मन्त्राः ते खिलात्मिकाः ; तेषा मपि पदपाठाद्यध्ययनाध्यापनश्रवणात्, "अथ वालखिल्या विहरेत् (उ० २. २. ३—२२.)"—इत्याद्याश्वलायनीयश्रौतविधानादिस्मरणात्, निरुक्ते निगमत्वेन व्यपदेशाच्च। अतएवाह च षड्गुरुशिष्यः—'बाष्कलके संहितापाठे अतः शाकलात् अधिकान्यष्टौ सूक्तानि'—इति। भगवता सायणाचार्येण तु शाकलसंहिता मधिकृत्यैव व्याख्यात ऋग्वेद इति नैव व्याख्यातानि वालखिल्यानि ; परं स्वीकृतान्येवैतरेयकभाष्ये तान्यष्टाविति। अपि यथैवान्यत्रान्यत्र, तथैवेहापि वालखिल्याना मष्टसूक्तात्मकत्व मेकादश-

सूक्तात्मकत्वञ्चेति सूक्तसङ्ख्याविषयकोऽप्यस्ति पाठभेदः। तदेव मस्तक-विभागे बाष्कलके दशममण्डल मेव नास्तीति कथङ्कारं भवेत् तस्य परिशिष्टत्व मिति विचार्यं सुधीभिरेव। तथाच पुरा ऋक्संहिताया नवमण्डलात्मकत्व मेवासीत्, ततोऽभवत्तस्या दशमण्डलात्मकत्व मिति कथनं यथा सुकरम्; तथा नेदम्— पुरा सप्तमाष्टकीयपञ्चमाध्यायाष्टाविंशतिवर्गान्त मेवर्क्संहितायाः प्रवचन मासीत्, ततस्तदष्टकीय-तदध्यायस्योनविंशतितमादयो वर्गाः प्रणीताः, अष्टमाष्टकस्य समग्रः प्रणीत इति। न च निरुक्ते दाशतयीति व्यपदेशाद् दशममण्डलात्मकत्व मेव सर्वर्क्शाखासंहिताना मिति वाच्यम्; तत्र सर्वत्र दाशतयीति शाकलशाखासंहिताया एव ग्रहणे बाधाभावात्। किञ्च प्रथमादि-मण्डलेषु श्रुतानां बहूनां सूक्तानाम्, दशममण्डलस्थितानाञ्च बहूनां सूक्तानाम्, द्रष्टारोऽभिन्ना एवावगम्यन्ते; परिशिष्टत्ववादिनां मते तत् कथ मुपपद्येतेत्यपि विचारयन्त्वत्र माध्यस्थ्यपदमादधाना एवेति॥

एवं सामवेदीयर्क्मन्त्राणा मृक्संहितात उद्धृतत्वकथन मपि प्रौढिवाद-मात्रम्; ऋक्संहिताया मपि छन्द इति श्रवणात्। तथाहि—"तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजु-स्तस्मादजायत (ऋ० स० १०. ९०. ९.)"—इति। अस्या मृचि छन्दांसीति पदेन सामवेदीयर्चा मेव ग्रहण मिष्टम्; तथैव सर्ववैदिकप्रसिद्धेरिति प्रतिपादितं पुरस्तादपि (ठै० पृ०); छन्द इति हि सामवेदीयार्चिक-ग्रन्थानां तथा तत्तद्ग्रन्थीयमन्त्राणां च नाम इति कोऽधीतवेदा न जानन्ति? पाणिनिना च विशेषतः सामवेदीयच्छन्दोग्रन्थस्थमन्त्रा एव छन्दस्त्वेन लक्षिताः। तथाहि—"सोऽस्यादिरिति छन्दसः प्रगाथेषु (४. २. ५५.)"—इति तत्सूत्रम्; "पङ्क्तिरादिरस्येति पाङ्क्तः प्रगाथः" —इत्यादीनि च तदुदाहरणानि। प्रगाथास्तु सामवेदे एव दृश्यन्ते, नान्यत्र; विहितास्च ते सामवेदीये ताण्ड्यमहाब्राह्मणे एव।

किञ्च यतस्य सामसूलमन्त्राणां सर्वेषा मेव छन्द इति चिरात्समाख्या,

अत एव तेषां गानकारिणः सामवेदिनश्छन्दोगा एवेत्युच्यन्ते; न तु ते क्वचित् कैश्चिदपि ऋग्गा इति श्रुताः। यतश्च सामवेदिन एव छन्दोगा इत्युच्यन्ते, तत एव सामवेदीयब्राह्मणग्रन्थाना मुपनिषदाश्च छान्दोग्य मिति समाख्या प्रसिद्धैव; विहिता च सा पाणिनिनापि "छन्दोगौक्थिक (४.३. १२६)"—इति। एवञ्च यच्च केनचिदुक्तम् 'वेदसंहितासु ये केचन प्राचीनतमश्लोकाः, त एव छन्दांसि इत्यभिधीयन्ते; ततोऽप्राचीना एव मन्त्राः'—इति, तदिद मपि जलमध्यगतमसीच्छोदवद्विलीन मेव न वेत्यपि विचारयन्तु त एव।

नन्वेव मपि ऋक्साम्नोरुत्पत्त्यनन्तर मेव छन्दसा मुत्पत्तिश्रवणात् सामवेदीयर्चा मृक्तोऽवरजत्वं यथावत् स्थित मेवातः 'खादितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः'—इति चेदत्र ब्रूमः;—तस्माद्यज्ञादिति मन्त्रे न हि क्रमोत्पत्तिवर्णन मिष्टम्; अन्यथा हि ऋगुत्पत्त्यनन्तरं सामोत्पत्तिः, तदनन्तरञ्च छन्दउत्पत्तिः इत्येवं मन्तव्यं स्यात्, तच्चाप्रसिद्ध्यसम्भवदोषग्रस्तं भवेदेव। तथाहि—ऋग्वेदीयर्चोऽवलम्ब्यैव सामानि गीतानि इति चेत् ते खलु ऋग्गा इत्येव प्रसिद्धाः स्युः, न च तथा प्रसिद्धिर्दृश्यते क्वचिदपि लोके वेदे वा; प्रत्युत छन्दोनामतः प्रसिद्धाना मेव सामवेदीयर्चां गातृत्वादेव सामवेदीयाः छन्दोगा इत्येवोच्यन्ते; एवं साम्नां प्रथम मुत्पत्तिस्ततस्तन्मूलानाञ्छन्दसा मित्यप्यसम्भव एव। तस्मात् यदैव यतश्च ऋचः प्रादुरभूवन्, तदैव ततश्च सामानि च, साममूलच्छन्दांसि च, यजूंषि चेत्येव तन्मन्त्राणयस्तथा च सहोत्पत्तिरेव। अतएवाथर्ववेदीये तदनुरूप एव मन्त्रे सहशब्दश्च श्रूयते—"ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः (१७. ७. २८.)"—इति। अत्र श्रुतः पुराणशब्दस्तु प्राचीनेतिवृत्तान्वाख्यानपरमन्त्रवाचकः। तदेतस्मान्मन्त्राच्च सर्वविधमन्त्राणां सहोत्पत्तिः सुव्यक्तैव।

किञ्च यदि नाम ऋक्संहितात एव सामयोनिमन्त्रा उद्धृताः स्युः, तर्हि उद्धृतिक्रमत एवेह सामवेदे मन्त्रा दृश्येरन्; न च तथा दृश्यन्ते।

अपरञ्च, एव मपि बहवो मन्त्राः सामवेदे सन्ति, येषा मृक्संहितायां श्रवणं नास्त्येव। अथापर मपि, यथैवर्क्संहितायां सूक्तानि, तथैवेह दशादादीनि; ततश्च कुतः कस्योद्धरणं किम्मानकं भवेदिति च स्याद् विचार्य मेव, विचारकाले तु विनिगमकाभाव एव मूर्तिमान् दरीदृश्येतेत्यत्र च कः संशयः।

वस्तुतः पुरा तु ऋगादिलक्षणाः सर्व एव मन्त्रा विकीर्णा एव आसन्, ततो यदैव ऋक्चयनेन ऋग्वेदीयसूक्तानि सङ्गृहीतानि, तदैव तथैव सामवेदीयान्यपि दशादादीनीति किञ्चित्रम्? एकस्या एव हि ऋचश्चयन मुभयत्रैककालेऽपि सम्भवत्येवेत्यपास्यैतैवोद्भूतिमत मिति दिक्॥

अथर्वविचारस्तु प्रदर्शित एव पुरस्तात् (टी ए०)॥

(ब्राह्मणम्) ततो ब्राह्मणस्यास्ति किं लक्षण मित्यन्विच्छन्तः पश्याम इद मापस्तम्बसूत्रम्—"कर्मचोदना ब्राह्मणानि"—इति। कर्मचोदना विधिरिति त्वनर्थान्तरम्। विधिश्चैष द्विविध इत्याह सायणः। तथाहि—"विधिरपि द्विविधः; अप्रवृत्तप्रवर्त्तनम्, अज्ञातज्ञापनञ्चेति। 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपति दीक्षणीयायाम्'—इत्याद्याः कर्मकाण्डगता विधयः अप्रवृत्तप्रवर्त्तकाः; 'आत्मा वा इद मेक एवाग्र आसीत्'—इत्यादयो ब्रह्मकाण्डगता अज्ञातज्ञापकाः (ऋ० सं० भा० भू०)"—इति।

एतस्यैव ब्राह्मणस्य शेषरूपवाक्यान्येवार्थवादा उच्यन्ते इत्याह चापस्तम्बः। तथाच तत्सूत्रम्—"ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः"—इति। शेषशेषिभावः अङ्गाङ्गिभावश्चेत्यनर्थान्तरं मीमांसकानाम्। तच्च प्रतिपादितम् "अथातः शेषलक्षणम् (३. १. १.)"—इत्यधिकृत्य "शेषः परार्थत्वात्, द्रव्यगुणसंस्कारेषु वादरिः, कर्माण्यपि जैमिनिः, फलञ्च पुरुषार्थत्वात्, पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् (३. १. २—६.)"—इति। विधिभिरङ्गाङ्गिभावश्चार्थवादानां ते मन्यन्त एव। तथाहि—"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य मतदर्थानां तस्मादनित्य मुच्यते"—इत्यादिभिः षड्भिः सूत्रैः (जै० सू० १. २. १—६.) अतदर्थानाम्=अक्रियार्थानाम्=अर्थवादानाम् आनर्थक्यम्, तस्मात्तेषा

मनित्यत्व माशङ्क्य "विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थत्वेन विधीनां स्युः" —इत्यादिभिः षड्भिः सूत्रैः (जै० सू० १२. ७—१२.) विधीनाम्='वायव्यं श्वेत मालभेत'—इत्यादीनाम्=ब्राह्मणवाक्यानां स्तुत्यर्थत्वेनैव "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता"—इत्येवमादीना मर्थवादवाक्यानां सार्थकता तस्मान्नित्यता च सिद्धान्तिता। एतदेवाभिप्रेत्याह सायणाचार्यः "द्विविधं ब्राह्मणम्—विधिः, अर्थवादश्च"—इति।

अर्थवादाना मपि ब्राह्मणत्वं स्वीकृतं निरुक्तेऽपि। तथाहि—"प्राश्नित्र मस्याच्छिणी निर्जघानेति च ब्राह्मणम् (४भा० २७४पृ०)"—इत्येवमादीनि द्रष्टव्यानि। अपि चार्थवादानां ब्राह्मणत्व मुररीकुर्वतैव तेन तेषां तत्त्वख्यापनेऽप्रामाण्यञ्च ध्वनितं तत्र। तथाहि—"बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति (३भा० ४१९ पृ०)"—इत्यादि॥

अत्र त्वेतदपि ज्ञातव्य मस्ति,—सायणस्य प्रदर्शितप्रकारं विधिद्वैधन्तु वैदान्तिकाना मनुरोधतः प्रौढिवादमात्र मिति ; कर्मचोदनैव विधिरिति आपस्तम्बादियाज्ञिकानां जैमिन्यादिमीमांसकानाञ्च सम्मतत्वात्। न हि केऽपि याज्ञिकाः "आत्मा वा इद मेक एवाग्र आसीत्"—इत्यादीनां विधित्वं मन्यन्ते ; अपि त्वर्थवादत्व मेव। अत एवोक्तं दृश्यते शालिकनाथीयप्रकरणपञ्चिकायाम्—"केवलवस्तुवादी वेदभागो नास्ति"—इत्येवमादि॥

विध्यर्थवादयोः प्रकारभेदादीनि जैमिनीयादौ बाहुल्येन वर्णितानि। लौगाक्षिभास्करेणार्थसङ्ग्रहे, कृष्णयज्वना च मीमांसापरिभाषायां सङ्क्षेपेण निर्णीतानि ; विधिविचारादिप्रकरणेषु प्रपञ्चितानि च ; तेभ्य एव विशेषतोऽवगन्तव्यानि॥

मीमांसावृत्तिकारेण तु ब्राह्मणलक्षणान्येव मुदाहृतानि—'इतिकरणबहुलम्', 'इत्याहोपनिबद्धम्', 'आख्यायिकास्वरूपम्'—इति च। इमानि लक्षणानि प्रायिकाभिप्रायेणोक्तानि; मन्त्रेष्वपि तथादर्शनात्, ब्राह्मणेष्वपि क्वचित्तदभावदर्शनाच्चातिव्याप्त्यव्याप्तिदोषापत्तेरित्याहतुः शबरस्वामिसायणौ। जैमिनिस्तु सूत्रयामास "शेषे ब्राह्मणशब्दः (२. १. ३३.)"—इति।

"मन्त्राश्च ब्राह्मणानि वेदः, तत्र मन्त्रलक्षणे उक्ते परिशेषसिद्धत्वात् ब्राह्मणलक्षणं मवचनीयम्, मन्त्रलक्षणेनैव सिद्धम्,—यस्यैतल्लक्षणं न भवति, तद् ब्राह्मण मिति परिशेषसिद्धं ब्राह्मणम्"—इति च तद्भाष्यम् । तदेवं निष्पन्न मेतत्—अभियुक्तानां समाख्यात एव ज्ञेयम्— एष मन्त्रः, एतद् ब्राह्मण मिति ; अपि च नैव मन्तरेण सम्भवेतां तयोर्लक्षणे ; इति-करणबहुलादिषु सर्वत्रैवाव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषयोरनिवार्यत्वात् । अतः सुष्ठूक्तं सायणेन—"ईदृशेष्वत्यन्तविजातीयेषु समाख्यान मन्तरेण नान्यः कश्चिदनुगतो धर्मोऽस्ति यस्य लक्षणत्व मुच्येत"—इति । लक्षणात्राप्युदाहरणपरे प्राचीनपद्ये अपि । तथाहि—

"हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ॥
उपमानं दशैवैते विधयो ब्राह्मणस्य तु ।
एतद्वै सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥"—इति ।

तत्र, (१) हेतुः—"शूर्पेण जुहोति, तेन ह्यन्नं क्रियते"—इति ।
(२) निर्वचनम्—"तद्दध्नो दधित्वम्"—इति ।
(३) निन्दा—"उपावीता वा एतस्याग्नयः"—इति ।
(४) प्रशंसा—"वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता"—इति ।
(५) संशयः—"तद्विचिकित्सन् जुहवानी३मा हौषा३म्"—इति ।
(६) विधिः—"यजमानसम्मिता औदुम्बरी भवति"—इति ।
(७) परकृतिः—"माषानेव मह्यं पचति"—इति ।
(८) पुराकल्पः—"पुरा ब्राह्मणा अभैषुः"—इति ।
(९) व्यवधारणकल्पना—"यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्, तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान् निर्वपेत्"—इति ।

दशम मुदाहरणन्तु शबरस्वामिना नैव प्रदर्शितम् ; तत एव लब्धविद्येन सायणेनापि कथङ्कारं भवेद् दर्शितम् ? अथवा लेखकप्रमाद एवात्र निदानम् । यद्यप्येतादृशोऽस्मादृशानां लेखनीचालन मुपहासास्पद मेव सम्भवेन्नाम,

तथापि कर्तव्यपरवशैः कथ मुपेक्षणीयं स्यादिद मिति यथाज्ञानं तत् प्रदर्श्यते—"स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वा ऽन्यत्रायतन मलब्ध्वा बन्धन मेवोपश्रयत, एव मेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतन मलब्ध्वा प्राण मेवोपश्रयते ; प्राणबन्धनं हि मन इति ( छा० ब्रा० ८. ८. २. )"–इत्येवमादिक मेवोपमानोदाहरणं भवेद् दशम मिति॥

अथात्रेद मप्यालोचनीयम्—ब्राह्मणग्रन्थेषु खल्वेतत्पद्यदयोक्तातिरिक्ताना मितिहासादीना मपि कतिविधानां वाक्याना मस्तित्व मुपलभ्यते। तथाहि छान्दोग्ये—"स होवाच ऋग्वेदं भगवोध्येऽमि ०—० इतिहासपुराणम् ( ६. १. ३. )"–इत्यादि। शतपथेऽप्यश्वमेधप्रकरणे—"अथाष्टमेऽहन् ०—० तानुपदिशतीतिहासो वेदः, सोऽय मिति किञ्चिदितिहास माचक्षीतैव मेवाध्वर्युः सम्प्रेष्यति (१२.)"–इति, "अथ नवमेऽहन् ०—० तानुपदिशति पुराणं वेदः, सोऽय मिति किञ्चित् पुराण माचक्षीतैव मेवाध्वर्युः सम्प्रेष्यति (१३.)"–इत्येवमादि। तैत्तिरीयेऽपि—"यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीर्मेदाहुतयः (आ० २. ६. २. )"–इति। "ब्राह्मणानि कर्मचोदनाः—'वायव्याँ श्वेत मालभेत'–इत्यादयः। इतिहासाः ब्रह्माण्डादिनियमाः ;—'देवाः सुराः संयत्ता आसन्'–इत्यादयः। 'आत्मा वा इद मेक एवाग्रआसीन्नैवेह किञ्चानाग्रे'—इत्यादीनि सृष्ट्यादिप्रतिपादकानि पुराणानि। कल्पाः कल्पसूत्राणि —प्रयोगप्रतिपादकानि। गाथाः गायन्ति चोदिता मन्त्रविशेषाः ;—'योऽस्य कौष्ठ्य'–इत्यादयः; यमगाथाभिः परिगायतीति विधानात्। नाराशंसीः नाराशंस्यः 'होतायक्षन्नराशंसम्'–इत्याद्या ; ब्राह्मणान्तःपठिताना मपि पुनरुक्तिः फलातिशयद्योतनार्थम्"–इति च तद्भाष्यं सायणीयम्। तत्त्वतस्त्विह कल्पाः कल्पसूत्रवीजानीत्येव वक्तु मुचितम्; अस्ति वात्र पाठान्तरता ? गाथाः खलु श्लोकबद्धाः प्रवादवाक्यरूपा ब्राह्मणग्रन्थेभ्योऽपि प्राचीना एव ; ता एव च श्लोका इत्यप्युच्यन्ते ; तद्यथा—

"तदेषाभियज्ञगाथा गीयन्ते—'यजेत्सौत्रामण्या सपत्नीकोऽप्यसोमपः । मातापितृभ्या मन्त्रणार्थाद्यजेतिवचनाच्छ्रुतिः'–इति (ऐ० ब्रा० ७. २. ९.)" –इति । नाराशंस्यस्तु नरस्तुतिश्रुतयः ; तास्तु मन्त्रात्मिकाः, गाथात्मिकाः, ब्राह्मणात्मिकाश्च भवन्ति । तद्यथा—"अधि बृबुः पणीनां वर्षिष्ठे मूर्द्धन्नस्थात् (ऋ० सं० ४. ७. २६. ६, ७, ८.)"–इत्येवमादयो मन्त्रात्मिकाः ; "हिरण्येन परीवृतान् कृष्णान् शुक्लदतो मृगान् । मष्णारे भरतो ददाच्छतं बद्धानि सप्त च (ऐ० ब्रा० ८. ४. ९.)"–इत्येवमादयो गाथात्मिकाः ; "एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेणोदमय आत्रेयोऽङ्ग मभिषिषेच तस्मादङ्गः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयायाश्वेन च मेध्येनेजे (ऐ० ब्रा० ८. ४. ७.)"–इत्येवमादयश्च ब्राह्मणात्मिकाः । अथर्ववेदीयगोपथब्राह्मणे तु तत्पद्यप्रकाशितातिरिक्ता बहुविधा एव श्रुतयः संलक्ष्यन्ते । तथाहि—"इमे सर्वे वेदा निर्मिताः ; सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्यानाः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः, सानुमार्जनाः, सवाकोवाक्याः (१. २. ९.)"–इति । तत्र कल्पाः खल्विदानींप्रचलितकल्पसूत्राणां मूलान्येवोपलभ्यन्ते ; रहस्यानि त्वारण्यकानि ; स्वरा इति तु इदानींप्रचलितशिक्षाग्रन्थानां मूलानि ; निरुक्तानि चाद्यप्रचलितनिरुक्तमूलान्येव ; अनुशासनान्यपि अद्यप्रचलितछन्दोऽनुशासनमूलानि ; संस्काराः खलु पदसंस्कारकशास्त्राणां पाणिन्यादीनां मूलान्येव ; अनुमार्जनानि चाद्यस्थितचतुरतमवेदाङ्गज्योतिषस्य मूलानि ; वाकोवाक्यानि तु प्रश्नोत्तररूपाणीति शङ्कराचार्यः ; ऊहापोहादितर्कप्रतिपादकमीमांसाशास्त्रमूलान्येवेत्यपि केचित् । तदेतेषा मिह प्रदर्शितपद्योक्तेषु दशसु कथं भवेत् समावेशः ? तदत्र बहुयत्नतोऽपि द्वयोस्त्रिस्रणां वा समावेशानुभवेऽपि न तु सर्वेषां समावेशः सिद्ध्यतीति कथं स्यादेवंविधानां ब्राह्मणत्वम् ?

अतोऽत्रैवं ब्रूमः ।—आसीत् पुरा सर्वा एवेमाः श्रुतयो विकीर्णा इति । तत्र, विधायकवाक्यानाम्,–'वायव्यां श्वेत मालभेत'–इत्येवमादीनाम्, तत्र

प्रवर्त्तकत्वेन ( निषेधविध्यादौ निवर्त्तकत्वेन च ) 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'–इत्येवमादीनाञ्च कर्मचोदनापरत्वेनैव ब्राह्मणत्वम् ; तदतिरिक्ताना मर्थ-तात्पर्यादिनिर्णायकानां निरुक्तादीना मेव वेदार्थवादोपयोगित्वेनार्थवादत्वम् । तयोस्तु प्राचीनपद्ययोः ब्राह्मणभेदा एव निर्दिष्टाः, न त्वर्थवादभेदाः "दशै-वैते विधयो ब्राह्मणस्य तु । एतद्वै सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्"–इत्युक्तेः । विधिः कर्मचोदना इत्यनर्थान्तरम् ; "कर्मचोदना ब्राह्मणानि"–इति हि आपस्तम्बसूत्रम् । अर्थवादशास्त्राणि खलु निरुक्तादीनि ब्राह्म-णतो विभिन्नान्येव ; अतएवोक्तं द्वितीयं सूत्र मापस्तम्बेन—"ब्राह्मणशेषो-ऽर्थवादः"–इति । ब्राह्मणेभ्योऽवशिष्टो वेदार्थप्रसवक्षम् विधिवाक्यसङ्घ एवा-र्थवाद इत्युच्यते इत्येव च तस्यार्थः। यथा चाह जैमिनिः— "शेषे ब्राह्मण-शब्दः (८. १. ३३.)"–इति । न च तत्रावगम्यते मन्त्रस्यैव भागविशेषो ब्राह्मण मिति, अपि तु गम्यत एव मन्त्रातिरिक्तो वेदभागो ब्राह्मण मिति ; तथैवेहापि गम्येतैव ब्राह्मणातिरिक्तो मन्त्रलक्षणविधुरो वेदभागोऽर्थवाद इति । सिद्ध मित्थं वेदत्रैविध्यम् ;—मन्त्रः, ब्राह्मणम्, अर्थवादः इति । अत एव वाभवद्वेदस्त्रयीतिव्यपदेशभाक् । सायणीय मेतद्वचनञ्चास्माक मनुकूल मेव—"तदेवं वेदे विद्यमानानां त्रयाणां मन्त्रविध्यर्थवाद-भागाना मप्रामाण्यकारणाभावात् वाचकानां तेषां प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वाङ्गी-कारात् कृत्स्नस्यापि वेदस्य प्रामाण्यं सिद्धम् ( ऋ० सं० भा० भू० )"—इति ।

यद्यप्यैतरेयादिग्रन्थेषु विध्यर्थवादावुभावेव स्तः ; परं विधीनां बाहुल्यादेव ब्राह्मण मित्येव ते व्यपदिश्यन्ते ; यथाच यजुःसंहितायां ऋग्यजुषोरु-भयोरपि विद्यमानत्वेऽप्याख्यायत एव यजुरिति यजुषां बाहुल्यात् । तथा ह्यैतरेये बह्व्य एव गाथाः प्रमाणत्वेनोल्लिखिता दृश्यन्ते, तैत्तिरीये च शिक्षा-दयो बहवः श्रूयन्ते, तथा छान्दोग्ये ऽपि छन्दोऽनुकीर्त्तनानि च, गोपथे तु "ओङ्कारं पृच्छामः को धातुः"–इत्यारभ्य "किं ज्योतिषं किं निरुक्तं किं स्थानं का प्रकृतिः कि मध्यात्म मिति षट्त्रिंशत् प्रश्नाः(१. १. २४)।"

—इत्यन्तग्रन्थसन्दर्भेण षडङ्गपरिचया व्यज्यन्त एव; तत्तृतीये च खण्डे "षडङ्गविदस्तत्तथाधीमहे"—इति स्फुटम् ।

तस्मादिद मेव युक्त मिवाभाति,— ऐतरेयादिग्रन्थाविर्भावात् प्राक् ब्राह्मणार्थवादेतिश्रेणीद्वयगतानि सर्वाण्येव वाक्यान्यासन् विकीर्णानि; (तदनुसृत्यैव कृत सुक्तलक्षणादय मापस्तम्बेन) तत उत्तरं खलु तान्येव सङ्गृह्य यागपद्धत्यनुसारत एव ग्रन्थीकृतानि तानि महीदासादिभिः; तत्प्रभृत्येव सर्वेषा मेव निर्वचनादीना मभवद् ब्राह्मणान्तर्गतत्वं तथा तन्नाम्नैव व्यपदेशभाक्त्वञ्च; तत एव जैमिनिर्विध्यर्थवादयोरुभयोरेव ब्राह्मणत्व मुररीकृत्य तथैव सूचयामास ब्राह्मणलक्षण मिति ॥

अथ दृश्यते चैको ग्रन्थो निदानसूत्राभिधः सामवेदीयो दशप्रपाठकः । तत्रादौ 'अथातश्छन्दसां विषयं व्याख्यास्यामः'—इत्यादिभिः सामवेदच्छन्दोग्रन्थान्तर्गताना मृचां छन्दोविषया निर्णीताः, ततः 'अथातः स्तोभान् व्याख्यास्यामः (१. ८.)'—इत्यारभ्य सामवेदीयस्तोभग्रन्थगतस्तोभा निर्णीताः, ततः 'अथातः सामान्तानां चत्वारो भागाः ( १. १२. )'—इत्यारभ्य सामान्तापरपर्यायाणि सामनिधनानि निर्णीतानि, ततो द्वितीयाध्यायारम्भे सामवेदीयोहग्रन्थादिविषया अप्यत्र चिन्तिताः, तत्रैव पञ्चमखण्डादौ 'अथातो यज्ञस्थानानि (२. ५.)'—इत्यारभ्य सामवेदीयकल्पशास्त्राण्युक्तानि, ततस्तृतीये 'अथायँ सन्धिरन्तर्भागं भवति ( ३. ६.)'—इति सामवेदीयमन्त्रेषु व्याकरणविधयश्च सूचिताः, ततः पुनरेव क्रतुविधयो महानाम्न्यादिविधयश्च प्रपञ्चिताः, ततः पञ्चमाध्यायान्तखण्डत्रये 'अथातः संवत्सरवर्गाणां पञ्चसंवत्सरवर्गाः ( ५. ११–१३ )"—इति ज्योतिषग्रन्थविषयाः कालादयोऽपि निर्णीताः। ततश्च पुनरासमाप्तिं सामग्रन्थीयव्रतद्वन्द्वादिपर्वविषयाः, बृहद्रथन्तरादिसामविषयाः, सत्राहीनैकाहादिक्रतुसम्पादकविविधसामादिविषयाश्च विधयः प्रपञ्चिताः । अत्रैव यथाप्रयोजनं निरुक्तं स्वरादिशिक्षाविधानं च क्वचित् क्वचिदुपदिष्टञ्च, परं न तथापि सर्वत्र तत् स्वतन्त्रतां प्रतिभाति; नापि निरुक्तोक्तं प्रयालशब्दनिर्वचनं

सामशब्दनिर्वचनञ्चात्र यथोक्तं पश्यामः ; अत इदानीं प्रसङ्गसङ्गत्येद मपि ब्रूमः,—सर्वेषा मेव वेदाना मेकैकं निदानसूत्र मासीदेवैतर्हि तानि लुप्तानीव, सन्त्येव वास्मदगोचराणीति । तदेतेभ्य एव निरुक्तादीनि वेदाङ्ग-शास्त्राणि समुद्भूतानि ; दृश्यन्ते हि क्षुद्रतमन्यग्रोधवीजादिभ्यः प्ररोहन्तो न्यग्रोधादिमहामहीरुहा अपि, अतएव चास्य शास्त्रस्य प्रथितं नाम निदानसूत्र मिति । निरुक्तकृताप्यसकृदेव प्रमाणत्वेनोपन्यस्तं ( ३ भा० १७९, ३६७ पृ० ) 'नैदानाः'—इति । एवं निदानसूत्रे बहुत्रैव अनुब्राह्मण-नामकीर्त्तनं च श्रूयते । यथाष्टमप्रपाठकीयद्वतीयखण्डे—"षोड़शिनोऽनु-ब्राह्मणम्"—इति, तत्रैव पुनः "अनुब्राह्मणम्—'स्युरेकविंश स्तोमाः'—इति" —इति । "पाणिनिश्च सूत्रयामास "अनुब्राह्मणादिनिः ( ४. २. ६२. )"—इति "तदधीते तद्वेद ( पा० ४. २. ५९.)"—इत्यधिकारेऽस्य सूत्रस्य पाठा-दवगम्यत एवैष ग्रन्थो वैदिक एवेति । "ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थोऽनु-ब्राह्मणम्, तदधीतेऽनुब्राह्मणी"—इति च तत्र दीक्षितवृत्तिः । ब्राह्मण-सादृश्याचास्य चतुर्वेदीयत्व मपि प्रतीयते, ततस्तत्सङ्ख्याबाहुल्यञ्च सुतरां स्वीकार्य मेव । तत् किं मेतदनुब्राह्मणम् ? केन चित् क्वचिदपि दृष्ट मेक मपि किं न वेति वर्वर्त्ति महान् संशयः ।

अस्मद्गुरुचरणास्त्वत्रैव मुपादिशन्,— ब्राह्मणोक्तानां छन्दोविध्या-दीनां वैशद्याय, तदनूक्तानां दैवतादीनाञ्च कथनायैव तेषा मभवदावि-र्भावः । ततस्ततोऽपि प्रकृष्टतमेषु समुत्पन्नेषु निदानसूत्रेषु तेषा मादरा-ल्पत्वं सञ्जातम् । ततस्ततोऽपि प्रकृष्टतमेष निरुक्तादिषड़ङ्गग्रन्थेषु ऋष्य-नुक्रमण्यादिषु ऋषिनैगेयादिषु च प्रकटितेषु प्रायोऽद्य विलोपदशां गतानि तानि ; साम्नां देवतादिख्यापनाय सामवेदीयं निदानसूत्रं सर्वतो नालम्, नाप्यद्यापीतोऽप्युत्कृष्टतरः कश्चन ग्रन्थ आविर्भूतः सामवेदीय इति तद्वि-षयकान्येव तानि लुप्तावशिष्टानि सन्ति देवताध्यायादीनि पञ्चैवेति । तत्र देव-ताध्यायनामानुब्राह्मणे साम्नां देवताः श्रूयन्ते, आर्षेयनामानुब्राह्मणे ऋषयः, वंशनामानुब्राह्मणे सामवेदीयाचार्यवंशाः, संहितोपनिषन्नामानुब्राह्मणे

संहितादिविधयः, सामविधिनामानुब्राह्मणे नित्याग्निहोत्राणां रहस्यप्राय-श्चित्तादिसाम्नां काम्येषु प्रयोज्यानां साम्नां च विधानानीति ।

सायणाचार्येण तु देवताध्यायादीना मपि ब्राह्मणत्व मेवाख्यातम् । तथाहि ताण्ड्यब्राह्मणभाष्यभूमिकादौ—"अष्टौ हि ब्राह्मणग्रन्था प्रौढं ब्राह्मण मादिमम् । षड्विंशाख्यं द्वितीयं स्यात् ततः सामविधिर्भवेत् । आर्षेयं देवताध्यायं भवेदुपनिषत्ततः । संहितोपनिषद् वंशो ग्रन्था अष्टा-वितीरिताः"—इति । अत्र यदुच्यते प्रौढ मिति, तदेव ताण्ड्य मिति सामगप्रसिद्धम् ; यच्चोच्यते षड्विंश मिति, तस्यैवान्त्याध्यायोऽद्भुत मिति कथ्यते; यदुच्यते उपनिषदिति, तदेव छान्दोग्य मिति सामगैर्व्यपदिश्यते । तत्र चाद्यद्वितीयाध्याययोर्मन्त्र इति समाख्याविशेषः तृतीयाद्यासमाप्ताना मष्टानाञ्चाध्यायाना मुपनिषदिति चेति ।

अत्रास्मद्विश्वासस्त्वेवम्,—सायणाचार्यस्तु नासीद् गुरुमुखादधीतसाम-विद्यः, ततोऽत्र नैव तद्वचनं प्रमाणं भवितु मर्हतीति ; अनुभूयत एव हि सामवेदे तस्यापूर्णाधिगतत्वं प्रतिपद मेव । तथाहि प्रथमं तावत्—साम-वेदीयार्चिकग्रन्थमात्राणां व्याख्यानेनैव समग्रसामसंहिता व्याख्याता भवि-ष्यतीति विचारयतैव तेनोक्त मेतत् सामभाष्यावतरणिकावसानकाले—"नन्वस्मिन् सामवेदे ब्राह्मणभागस्य व्याख्यातुं योग्यत्वेऽपि मन्त्रभागस्य न व्याख्यानयोग्यतास्ति"—इत्यारभ्य "ऋचः संहिताग्रन्थे छन्दोनामके समा-म्नाताः, ताः सर्वा ऋच आम्नातक्रमेणेह व्याख्यायन्ते"—इत्यन्तम् । न च तदनुमोदन्ते सामगाः ; पदवाक्यस्तोमादियुक्तानां हि साम्नां भवत्येवार्था-न्तरता, तदर्थज्ञानाय च सामग्रन्थव्याख्यानस्याप्यतितरां कर्त्तव्यत्वात् । सामातिरिक्ताश्च मन्त्रा न हि सर्व एव निःशेषेण छन्दोग्रन्थे श्रुताः, यत् तेषा मेव व्याख्यानेन भवेयुर्व्याख्याताः सर्व एव ते ; गानग्रन्थेष्वप्यारण्यके आक्र-न्दयेत्यस्या ऋचः, स्तोभग्रन्थे आयुर्विश्वायुरित्यादीनां यजुषां च श्रूयमाण-त्वात् । तदेतस्माच्च स्फुट मवगम्यते, नाधिगतास्तेन गानस्तोभग्रन्थाः ; अपि तु मीमांसादिशास्त्रदर्शनत एवावगता तेषां विद्यमानतेति

द्वितीयम् । तत्रैवोक्त मपर मपि—"न च तासां ( ऋचाम् ) क्रतुषु स्वातन्त्र्येण विनियोगोऽस्ति"—इति । तदपि भ्रमविजृम्भित मेव ; ऋङ्मयाना मपि बृहदादिस्तोमानां क्रतुषु विनियोगदर्शनादिति तृतीयम् । यच्चोक्तम् —"तासा मृचां क्रमव्यत्यासेन बह्वृच प्यधीयमानत्वात्तदीयानुक्रमणिकोक्तानि ऋष्यादीन्येवात्रानुसन्धेयानि"—इति, तदपि तस्यैकदेशदर्शित्व मेवावेदयति ; बह्वृगनधीताना मप्यृचा मिह विद्यमानत्वात्, सामवेदीयर्चा मृष्यादिपरिज्ञानाय नैगेयनामग्रन्थानां प्रामाण्यतरत्वाच्च ; सन्ति चानेकत्र मतभेदाः अनुक्रमणी-नैगेयशास्त्रयोरिति चतुर्थम् । तत्रैवानुपद मुक्तम्—"काण्डत्रयात्मको योऽयं छन्दोनामकः संहिताग्रन्थः"—इति, तदप्यसङ्गत मेव ; सामवेदे— सामसंहितासु, आर्चिकसंहितासु, ब्राह्मणेषु वा न क्वापि हि तैत्तिरीयादाविव काण्डविभागो दृश्यते ; अपि तु सर्वास्वेव संहितासु पर्वेति, ब्राह्मणेषु तु पञ्चिकेति च । तदत्र पर्वत्रयात्मक इति वक्तव्ये यदुक्तं काण्डत्रयात्मक इति, तेन व्यज्यते तस्य तैत्तिरीयादावेव कृतबहुश्रमत्व मिति पञ्चमम् । एवं तत्रैवोत्तरत्र सर्वत्रैव 'प्रथमे दशति'—इत्यादि वक्तव्ये "प्रथमे खण्डे"—इत्याद्युक्त मिति षष्ठम् । किं बहुना एतस्माच्च भाष्यसमालोचनादिद मेव प्रतीयते,—स ह्यात्मनः खलु सर्ववेदभाष्यकर्तृत्वप्रतिपादनायैव अनधीताया अपि सामसंहिताया व्याख्याने प्रवृत्तः प्रायः स्वकृतात् ऋग्वेदभाष्यादेव यथायथं व्याख्यानान्युद्धृत्य ग्रथनेनैव अमंस्त सम्पन्नं सामभाष्यञ्चेति । वस्तुतो नैव तद् भाष्यं सामभाष्य मिति मन्यन्ते सामगाः ; अपि वालक्रीड़ित मेव । यच्च तस्माद् गम्यते, तत्तु लभ्यत एव हि ऋग्भाष्यत एव ; यत्तु न लभ्यते ऋग्भाष्ये, तत्तावन्नास्ति च तत्रापीति किङ्कृत मेतेन सामभाष्यडिण्डिमेनेति । तत्त्वतस्तु श्रीमान् सायणाचार्यो ह्यासीदधीततैत्तिरीयः, ततस्तद्विषयकज्ञान मेव तस्य सञ्जात मुपदेशानुरूपम्, बृंहितञ्च तत् स्वातिबुद्ध्यनुगतविशेषपरिशीलनादिभिः ; अत एव तद्भाष्य मादरणीयतम मेव सम्पन्नम् ; अध्वर्युवेदविदा मृग्वेदवित्त्व मपि न दुराप मिति ऋग्भाष्य मपि सम्पन्न मेवादरणीयतरम् ;

ऋग्यजुषोर्व्याख्यातुस्तु ऋग्यजुर्मयस्यैवाथर्ववेदस्यापि व्याख्याकरणं न सुदु-ष्कर मिति तस्यापि भाष्यस्य सम्भवत्येवादरणीयता ; परं सामवेदस्तु गुरुमुखादनधीतो नैव भवेदुच्चार्य्योऽपि तद्बोधस्तु दूरपराहत एव । साम-संहिताया भाष्ये कर्त्तव्ये—'ऊप् ऊप्', 'विवि', 'वंवम्'–इत्यादिपदस्तोभ-युक्तानां साम्नां व्याख्यानानि कर्त्तव्यानि ; "आयुर्विश्वायुर्विश्वम्"–इत्यादि-यजुर्मात्राश्रितसाम्नाञ्च व्याख्यानानि प्रदर्शयितव्यानि ; सर्वत्रैव सामसु मूलतः स्वरवर्णमात्रादिपरिवर्त्तनकारणानि यथायथं प्रदर्शयितव्यानि ; कस्यां योनौ कति सामानि किंस्वरूपाणि च तानि परिचेयानि ; साम्नां सर्वेषा मेव यथायथं नामानि सप्रमाणानि दर्शयितव्यानि ; तद्योनीनाञ्च नामानि छन्दआदीनि चोपदेष्टव्यानि ; साम्नां देवतादिकाश्च यथायथं विज्ञाप्याः ; यत्र यत्र ऋच्यु स्तोभो भवति, भवेत् तत्र तत्र तथैव प्रकाश्यो ऽत्रैष स्तोभो भवतीति ; प्रगाथमूलेष्वपि तथा प्रकटन मुचितम् ; ऋचाम्, स्तोमानाम्, स्तोभानाम्, साम्नाञ्च विनियोगादयः सर्वत्र ब्राह्मणं सूत्रञ्च प्रदर्श्यैव वक्तव्याः ; साम्नां प्रतिहारादिभागोपदेशाश्च सर्वत्र कर्त्तव्या एव ; तत्र निधनविचाराश्च प्रदर्शनीयाः ; १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, र, उ, स्व, क, ॽ, —, ऽ इमानि च व्याख्येयानि ; मन्त्रमध्यगतानाञ्च २३४५, २३२, १९१, $^{१}_{२}$ $^{१}_{२}$ $^{१}_{४}$ $^{१}_{५}$–इत्यादीना मर्थाश्च बोधयितव्याः ; प्रतिसामान्ते च यदस्ति कु धू इत्यादयः, तेषा मर्थाश्च विज्ञाप्या एव ; अपरयोनिषु चापरसामोत्पत्तिप्रभृतयश्चोदाहार्य्याः ; सामोपासनाप्रकाराश्च भाषितव्या इत्यल मत्र प्रासङ्गिकचिन्ताविस्तरेणेति दिक् ।

प्रकृते त्विद मेव वक्तव्यम्—आर्षेयादिग्रन्थानां ब्राह्मणत्व मनुब्राह्मणत्वं वास्तु, गृह्यन्त एवाद्य तान्यपि ब्राह्मणानीत्येव ; मन्त्रब्राह्मणयोरेव वेद-नामधेयत्वपर्यवसानात् ; अस्ति हि तेषां वेद इति व्यवहारोऽद्यतनीयानां वैदिकाना मिति । तथाच सम्पद्यत एतत्—ब्राह्मणानाम् (विधायक-तदुपयोजकानाम् ), अर्थवादानाम् ( वेदाङ्ग-मीमांसा-पुराणेतिहासवीज-

रूपाणाम्), अनुब्राह्मणानां (ब्राह्मणसदृशानाम्) चेति त्रयाणा मेवैदानीं साधारणं नाम ब्राह्मण मिति ॥

अथात्र मन्त्रब्राह्मणनिर्णयप्रसङ्गादारण्यकोपनिषदोरपि किञ्चिद् ब्रूमः;—श्रूयते ह्यारण्यकं नाम च वेदभागः। स चैकाध्यायात्मक एवेति केचित्। ब्राह्मणभागपरिशिष्टरूप मेव तदारण्यक मिति च केचित्। पाणिनीयतः पुरा नैवासीत् किञ्चिदारण्यकन्नामेत्यपि केचित्। तदेतत् सर्वं मेव वेदानां मुमूर्षुदशात्व मेवावेदयति। हन्त! यदि ह्यद्य "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"–इत्यादि-श्रुतेरादरः कार्यतो दृश्येत, यदि ह्यद्य "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः"–इत्यादि-स्मृतेश्चादरः कार्यतो दृश्येत, तर्हि सर्वैरवश्य मेतत्तु ज्ञात मेव स्यादारण्यकं न त्वध्यायात्मक मेव;—नापि ब्राह्मणान्त्यभागरूप मेव;—आसीच्च पाणिनीयतो बहुप्रागपीति। तथाहि—सर्वेषा मेवारण्यकग्रन्थाना मध्यायपरिगणनादेव ज्ञायते, नारण्यकग्रन्थोऽध्यायमात्र एवेति। यदि हि "पथ्यध्याय-न्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वक्तव्यम्"–इत्येतद्वार्त्तिकभाष्ये "आरण्य-कोऽध्यायः"–इत्येकवचनान्तोदाहरणदर्शनादेवारण्यकग्रन्थाना मेकाध्याया-त्मत्व मेव स्यात्, तर्हि तत्रैव "आरण्यकः पन्थाः, * * * आरण्यको न्यायः, आरण्यको विहारः, आरण्यको मनुष्यः, आरण्यको हस्ती"–इत्येकवचना-न्तोदाहरणानां दर्शनाच्च आरण्यक-पथ-न्याय-विहार-मनुष्य-हस्तीनां चैकै-कत्व मेवावधार्येतैव; न च तथावधार्यते केनचिदपि प्रकृतिस्थेन। तदेवं यथैव लोके पन्थानः, न्यायाः, विहाराः, मनुष्याः, हस्तिनश्च बहव एव सन्त्येव आरण्यकाः, तथैव वेदे अध्याया अपि बहवः सन्त्येवारण्यकाः; तथा सामवेदस्य छन्दोनामार्चिकमध्ये सामसंहिताग्रन्थेषु च सामारण्यक-दर्शनादेव स्फुट मवगम्यते, नारण्यकग्रन्थो ब्राह्मणे एवोपनिबद्धो नापि परिशिष्टरूप एवेति; सामारण्यकमन्त्राणां हि सामसंहितामध्यस्थत्वेन तत्र न कस्यापि विरुद्धवाक्प्रवृत्तिसम्भवः, तेषां परिशिष्टता माशङ्कितु मपि न भवेत् कोऽपि सक्षमः। "अरण्यान्मनुष्ये (४. २. १२९)" —इति पाणिनीयसूत्रेण आरण्यको मनुष्य इत्येव सिद्ध्यति; न तु आर-

ण्यकः पन्थाः, आरण्यकोऽध्यायः—इत्यादीनि पदानि ; अतोऽत्र तेषां साधनाय "पथ्यध्याय"–इत्यादिकं वार्त्तिक मपठीत् कात्यायनः ; एवञ्चोपपद्यते नासीत् पाणिनिकाले आरण्यकोऽध्याय इति ; सति हि तस्मिन् कथं न साधितस्तादृशार्थवरेणापीदृश आर्यप्रयोगः ?—इति चेत्, अत्रेदं ब्रूमः— आसीत् तदाप्यारण्यकोऽवश्य मेव ; सामसंहिता मध्यभागीयत्वादिनारण्यकस्यापि मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वादेवातिप्राचीनत्वावधारणात् ; परं पाणिनिकाले नासीत् तथाविधमन्त्राणां ब्राह्मणानाञ्चारण्यक मिति व्यवहारः ; अपि तु मन्त्रात्मकारण्यकानां मन्त्रत्वेनैव ब्राह्मणात्मकानान्तु ब्राह्मणत्वेनैवेति नासम्भवः। भगवतः पाणिनेः तादृशप्रयोगासाधने तद्वाच्यपदार्थानां तात्कालिकोऽभाव एव कारण मिति तु वक्तुं नैव युज्यते ; तथावादिनां हि पाणिनिकाले आरण्यकाः पन्थानो ऽपि नासन्,—आरण्यकाः हस्तिनोऽपि नासन्,—अरण्येषु गावः पुरीष मपि नोदसृजन्,— महद्धिम मपि नासीत्,—महदरण्य मपि नासीदेवेत्यादीनि च गलेकुठारन्यायेन स्वीकार्याण्येव ; पथ्यध्यायेति वार्त्तिकेन न हि अध्यायवाचक एवैक आरण्यकः प्रयोगः साधितः, नापि कात्यायनेन तदेवैकं वार्त्तिकं विरचित मित्यपि स्मर्त्तव्य मेवेति ॥

केचित्तु "सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन। वेदस्याधीत्य वाप्यन्त मारण्यक मधीत्य च (४. १२३.)"–इत्यत्र मनुवचने ऋग्यजुःसामभ्यः पृथगेवारण्यकोल्लेखदर्शनाच्च नास्त्यारण्यकस्य त्रयीत्व मित्याहुः, तदपि न साधीयः ; ब्राह्मणात्मकारण्यकस्यापि बोधनार्थ मेव तत्र तथोक्तत्वात् । तथाहि तस्य च मनुश्लोकस्याय मर्थः,— 'सामध्वनौ' सामगानानन्तरम् 'ऋग्यजुषी' ऋचः यजूंषि वा 'कदाचन न अधीयीत' ; न हि सप्तस्वराद्यन्वितगानानन्तरं त्रैस्वर्यादिश्रुतिर्मधुरा भवेत्, नापि त्वृद्गाता सप्तस्वराद्यवतीर्य तदानी मेव स्वकण्ठतस्त्रैस्वर्यं कारयितुं समर्थ इति तादृगयत्न एवासत्फलः स्यादिति तथा यतन मेव प्रतिषिध्यते। किञ्च 'वेदस्य अन्तम् आरण्यकम् अधीत्य अपि' ऋचो यजूंषि वा मन्त्रा न अधी-

यीत ; तादृशारण्यकाध्ययनत एवाध्येतुः श्रोतॄणाञ्च मनसां ब्रह्मगत्वेन परिप्लुतत्वात् ततोऽपि ऋङ्मन्त्रयजुर्मन्त्रयोः पाठो निषिद्धः ; न हि पूर्णोदरस्यामृतेऽपि रुचिसम्भवः । अत्र च वेदस्य अन्त मारण्यक मित्युक्त्या ऐतरेयकतैत्तिरीयबृहदाथर्वणारण्यकाना मेव ग्रहणं बोध्यम्, तेषा मेव ब्राह्मणात्मकवेदस्यान्तावयवत्वात् ; सामारण्यकमन्त्राणान्तु मन्त्रभागमध्यस्थितत्वेन वेदस्यान्तरूपत्वाभावादिहाग्रहण मेव ; परं पूर्वार्द्धे सामध्वनावित्युक्त्यैव तद्ग्रहणं सम्पन्न मिति सामारण्यकाध्ययनात् पर मपि ऋग्यजुर्लक्षणान् मन्त्रान् नाधीयीतेत्येव । एवञ्च वेदेषु श्रुताना मारण्यकानान्तु वेदत्वं तदनुगतप्राचीनतमत्वञ्चाक्षत मेव ; प्रत्यक्षस्य बाधाभावात् ।

ऐतरेयकपञ्चमारण्यकादीनान्त्ववेदत्वं सर्ववादिसम्मत मेव । तथा ह्याह सर्ववेदभाष्यकारः सायणाचार्यः स्वय मेव—"महाव्रतस्य पञ्चविंशति मित्यादि पञ्चमारण्यकं सूत्र मेव ; अरण्ये एवैतदध्येय मित्यभिप्रेत्याध्येतार आरण्यककाण्डेऽन्तर्भाव्याधीयते"—इत्येवमादि । तदित्थं यथा मन्त्रभागे सन्त्येव खिलरूपाः श्रीसूक्ताङ्गसूक्ताद्यात्मकमन्त्राः, परं न च ते सम्मिलिता मन्त्रभागावयवत्वेन ; तथैव ब्राह्मणभागेऽपि सन्त्येव पञ्चमारण्यकादीनि च, परं नैव तानि सम्मिलितानि ब्राह्मणभागावयवत्वेनेति । तत् तादृशानां मा भूत् वेदत्वं प्राचीनतमत्वञ्चेति ; तदन्येषान्तु वेदात्मकारण्यकोपनिषदां वेदत्वं तथा प्राचीनतमत्वञ्चापह्नोतुं न कोऽपि क्षमेतेति सर्व मवदातम् ॥

एवं पाणिनिसूत्रेषु क्वापि वेदांशवाचकत्वेन उपनिषच्छब्दस्य प्रयोगादर्शनात् पाणिनीयतः पूर्व मुपनिषदो नासन्नित्यप्याहुः केचिदाधुनिकाः, तदप्यस्माक मतिविस्मयकर मेव ; संहितासु पञ्चस्वेव, ब्राह्मणेषु च बहुषु विकीर्णरूपत्वेन बह्वना मेवोपनिषल्लक्षणवचनाना मीशावास्य मित्येवमादीनाम्, उपनिषदिति ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रसिद्धानाञ्च प्रत्यक्षदर्शनात् । भगवता पाणिनिना उपनिषत्पदसाधनाय विशेषः कश्चन प्रयत्नो नोद्भावित इत्येव उपनिषदा माधुनिकत्वे वीज मिति त्वद्भिमता मप्यक्षिषु धूलिनिक्षेपणाय

यत्न एव । न हि सर्वतोमुखसूत्रकारेणाचार्य्येण प्रतिपदसाधनायैव विभिन्नं सूत्रं कार्यम् । तथाच साधारणनियमत एव सिद्धे ह्युपनिषच्छब्दे विशेष-वक्तव्याभावादेव न कृतं सूत्रान्तर मिति सुवच मेवात्र समाधानम् ।

"ऋगृगयनादिभ्यः ( ४. ३. ७३. )"—इति सूत्रीये ऋगयनादिगणे "वेतनादिभ्यो जीवति ( ४. ४. १२. )"—इति सूत्रीये च वेतनादिगणे उपनिषच्छब्दस्य पाठोऽपि दृश्यत एव । इदानीम्प्रचलितस्यास्य गण-पाठस्यापाणिनीयत्वस्वीकारेऽपि आसीच्च पूर्वं कश्चनैवं गणपाठोऽपीत्यवश्यं स्वीकार्य मेव ; अन्यथा हि "ऋगयनादिभ्यः"—"वेतनादिभ्यः"—इत्यादिषु सर्वत्रैव आदिशब्दव्यवहार एवाचार्यस्य व्यर्थता मापद्येत । स्वीकृते तु तस्मिन् प्राचीनगणपाठे नासीदेवोपनिषच्छब्द इत्यत्र मानाभावादुप-निषदा माधुनिकत्वपक्षः स्यान्निःसहाय एव । ऋगयनादीना माकृति-गणत्वस्वीकारेऽपि पाणिनेरुपनिषच्छब्दाज्ञानं न सिध्यति; विनिगमना-विरहात् । सति हि पाणिनेरुपनिषज्ज्ञाने "वेतनादिभ्यः"—इत्येवं नोक्त्वा "उपनिषदादिभ्यः"—इत्येव ब्रूयादिति तु कुतर्क एव ; तथोक्ते हि पाणिने-वर्तनज्ञानं नासीदित्यपि उच्येतैवेति तुल्यो न्यायः ।

किञ्च वेदांशवाचकोपनिषच्छब्दोच्चारणं पाणिनिना न क्वचिदपि कृत मित्यत एवोपनिषदां पाणिनीयपरभवत्व मनुमीयेत चेत्,—कात्यायनेनापि तथा नोच्चारितम्, पतञ्जलिनापि तथा नोच्चारित मिति वार्त्तिकपाठात् महाभाष्याच्च परभवत्वं तासा मबाध मेव ; किं बहुनाद्यतनीयेऽपि क्वचित् व्याकरणे न दृश्यते उपनिषत्साधनाय यत्नविशेष इति नाद्यापि काचिदु-पनिषदाविर्भूतेत्यपि वक्तुं युज्येतैव । अथेदृशेऽपि वचने यदि कश्चित् श्रद्दधीत, तर्हि तादृशवचनेऽपि ते श्रद्धां विधत्ता मित्येवास्माकम् ।

वस्तुतस्तु इदानीं यावन्त्य उपनिषदः प्रथिता दृश्यन्ते, न च ताः सर्वा एव वेदोपनिषदः ; प्रत्युत तत्र सन्त्येव कतिपया वेदविद्भिर्वेदार्थतत्त्वोपदेशा-यैव स्वशिष्येभ्य उपदिष्टाः, उपनिषत्तुल्या इति उपनिषदिति गृहीताश्च शिष्टैः; रामतापन्यादयो ग्रन्थास्तु कैश्चिदर्वाचीनैरेव स्वसम्प्रदायमर्यादा-

वृद्धये प्रणीताः, तासा मप्युपनिषत्त्वं तु मन्यन्ते च तदनुगता एव; अल्लेत्या-दयस्तु सर्वथा अग्राह्या एव ; परं यास्तु मन्त्ररूपा ब्राह्मणरूपाश्च, ताः खलु पाणिनेर्जन्मतो बहु प्रागपि स्थिता इति ध्रुवम्; अपि वेदविदा मुपदेश-रूपाश्च याः काश्चिदुपनिषत्तुल्या उपनिषदित्येव प्रसिद्धाः, तासां बह्व्यो-ऽप्यासन्नेव पाणिनीयतोऽपि पूर्वम्; नास्त्यत्र सन्देहलेशोऽपि । इह युक्तीश्च तिस्रोऽवलोकयामः । तथाहि—

(१) अस्त्येकं सूत्रं पाणिनीयम्—"जीविकोपनिषदावौपम्ये (१. ४. ७९.)" –इति । अनेन च सूत्रेण औपम्ये गम्यमाने एव जीविकोपनिष-च्छब्दयोर्गतिसञ्ज्ञा विधीयते, सत्याञ्च गतिसञ्ज्ञायां "कुगतिप्रादयः (२. २. १८. )"–इति समासो भवति । तथाच 'जीविकाम् इव कृत्वा'–इति विग्रहे 'जीविकाकृत्य'–इति पदम्, 'उपनिषदम् इव कृत्वा'–इति विग्रहे च 'उपनिषत्कृत्य'–इति च पद मुदाहृतम्, "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (७. १. ३७. )"–इति ल्यब्भावश्च तादृशसमासफल मिति च दर्शितं वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां भट्टोजिदीक्षितेन । इत्यञ्च 'उपनिषत्कृत्य'–इत्यस्य पदस्य 'उपनिषद्ग्रन्थतुल्यग्रन्थकरणानन्तरम्'–इत्येवार्थः सर्ववैया-करणसम्मतः । तदेवं पाणिनेः प्राचीनतमोपनिषद्विषयकं ज्ञान मासीन्न वेति विचारस्तु दूरे आस्ताम्,—रचनया स्वरेण तात्पर्येण वा ये च ग्रन्था उपनिषत्तुल्याः कृताः पाणिनिपूर्वतनैर्वेदोपनिषद्विद्भिः, तेषा मुपपनिष-त्तुल्याना मपि बोध आसीत्तस्येत्यपि स्फुटम् । सिद्ध मित्थं कासाञ्चित् कृत्रिमोपनिषदा मप्यस्तित्वं पाणिनिकालात् पूर्वस्मिन्नपीति, तत् कस्तत्र सन्देहस्तदानीं प्रकृतोपनिषदा मस्तित्वे इति विचारयन्तु धीमन्त एव ।

(२) अस्ति चैतत् सूत्रम्—"पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (४. ३. ११०.)"–इति । एतच्च पाणिनिनैव कृत मिति मन्तव्यं चेत्, अवश्य मेवैतत्कर्त्तुः पाणिनेः भिक्षुसूत्रास्तित्वज्ञाने सन्देहाभावः स्वीकार्य एव ; स च सूत्रग्रन्थो वेदान्तदर्शनवीजभूतः, उपनिषद एव च तच्छरण मित्युपनिष-द्विषयकज्ञान मपि पाणिनेरवश्य मेव स्थित मिति सुतरां प्रतीयत एव ।

(३) ये तु निरुक्तकारस्य यास्कस्य पाणिनिपूर्वजत्वं स्वीकुर्वन्ति, तेषां प्रबोधायेद मपि स्मारयामः—"यत्रा सुपर्णा (ऋ० सं० २. २. १८. १.)"—इति मन्त्रस्याधिदैवतव्याख्यानपक्षेऽब्रवीद्यास्कः—"इत्युपनिषद्वर्णो भवति (निरु०२मा० ३०२पृ०)"—इति। "यया ज्ञान मुपगतस्य सतो गर्भजन्मजरा-मृत्यवो निश्चयेन सीदन्ति, सा रहस्यं विद्या उपनिषदित्युच्यते ; उपनि-षद्भावेन वर्ण्यत इति उपनिषद्वर्णः"—इति च तदीयं भाष्यं दुर्गाचार्यकृतम्। अथैतर्हि तेऽधिब्रुवन्तु पाणिनिपूर्वजस्य यास्कस्याप्युपनिषज्ज्ञान मासीच्चेत्, कथन्न तत्परजस्य पाणिनेरुपनिषज्ज्ञान मिति ?

तदेव मेतत्समालोचने प्रवृत्ताना मस्माक मेव मेव बोधः सम्पद्यते— ये केचनोपनिषदां पाणिनीयतोऽप्यर्वाचीनत्वं निरनयन्, ते नूनं "जीविकोपनिषदावौपम्ये"—इति पाणिनिसूत्रस्य प्रकृतमर्थं न विदन्ति ; भिक्षु-सूत्रग्रन्थोऽपि तेषां न कदापि दृग्गोचरतां गतः ; उपनिषदां पाणि-नीयतः प्राचीनत्वाप्राचीनत्वनिर्णयसमये प्रदर्शितं यास्कीयवचनञ्च तन्मनःसु नोद्गत मित्येव ते तथा निर्णेतु मभवन् समर्था इति शम्।

---

( १० )

अथेदानी मेषोऽपि प्रश्नः स्वतः समुदेति नाम,— तस्यैतस्य वेदस्योत्पत्ति-कालनिर्णयः शक्योऽशक्यो वास्माक मिति। कथन्नाम शक्यः? कथं वा अशक्यः? तदेवेह समासतश्चिन्तयाम इति यावत्।

पश्याम एव तावत्,—प्राचीनानां कालिदासादिग्रन्थाना मपि कालाः सुनिर्णीता इव, अतिप्राचीनानां भूगर्भोत्थिताना मपि शिलास्तम्भादीनां भवत्येव कालनिर्णय इत्यपि ; वेदकालनिर्णये च केचिद्धीमन्तोऽपि यति-तवन्त एवेति; तत एवैव मुत्पद्यतेऽस्माक मप्येषाशा, शक्योऽस्य काल-निर्णय इति। यदा तु स्मरामः,—अपौरुषेयोऽय मिति सिद्धान्तो मीमांसकानाम्; यदा चाध्यापयामः,—"नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा"—इति, "अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ मृग्यजुः-

सामलक्षणम्"—इति, "वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे"—इत्येवमादीनि च स्मृतिवचनानि, तदैव तत्र हताशाः सम्पद्यामहे; अकृतकत्वादेवैतस्य। कृतकत्वेऽपि मनुष्यनिर्मितत्वाभावेन वाय्वादितुल्यत्वे नैव फल मनुसन्धानस्य। मनुष्यनिर्मितत्वेऽप्यनद्ययुगीयत्वेन प्रणेतृव्यक्तिनिर्णयसम्भावनाविरहात् स्यादशक्य एवैतत्कालनिर्णय इति॥

एष खल्वार्याणा मादिधर्मग्रन्थः; धर्मग्रन्थानां प्रायः सर्वेषा मेवोत्पत्तौ कश्चनकश्चनालौकिकः प्रवादो विद्यत एव; अस्योत्पत्तिविषयेऽपि तथैवैषः,—'न केनचिदपि पुरुषेण प्रणीतो वेदः'—इति। मीमांसकानां कर्मशक्त्यनुगतफललाभवादिना मीश्वरविचारोऽप्यप्रयोजनीयः, परं वेदानां सर्वथानादित्वप्रतिपादने एव महान् यत्नः। तथाहि—"वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः, अनित्यदर्शनाच्च"—इति सूत्रद्वयाभ्यां पूर्वपक्षं निर्म्माय सिद्धान्तित मुत्तरसूत्रचतुष्टयेन—"उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम्, आख्या प्रवचनात्, परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्, कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्"—इति मी० द० जै० सू०१. १. २९—३२। एतान्येव सूत्राण्यवलम्ब्य बहु विचारितं शास्त्रदीपिकादौ, तथा निर्णीतन्तु वेदाना मकृतकत्व मेव।

भगवता वादरायणेन तु वेदस्य ब्रह्मकार्यत्वं सूचितम् "शास्त्रयोनित्वात् (१. १. ३.)"—इति। ऋग्वेदादिशास्त्रकारणत्वाद् ब्रह्म सर्वज्ञ मिति हि तत्सूत्रार्थः। एतावताप्यपौरुषेयत्वं वाय्वादितुल्यत्वञ्च नापगतं वेदस्य; मनुष्यनिर्मितत्वाभावात्; फलञ्च तुल्यं तत्कालनिर्णयाय अनुसन्धानाननुसन्धानयोः; न हि मनुष्यनिर्मितातिरिक्तेषु कालनिर्णयसम्भवः, ततस्तत्र नैव वाचः प्रसरन्ति प्रेक्षावतां विपश्चिताम्। को नाम मर्त्त्यो निर्णेतुं सक्षमः, कदैषासवत् सृष्टिः? आदिसृष्टेर्वर्णनन्तु स्वस्वकल्पनाशक्तेः परिचयदानमात्रम्। पृथिव्याः अन्तस्तरादिदर्शनात् पृथिवीसृष्टिकालकथन मपि धीशक्तेः परिचयदान मेव। पुराणोक्तसृष्टिकथाश्च नैकरूपाः स्मर्यन्ते, अतस्ताः कल्पनाप्रसूता एव न तत्रापि संशयः; अस्तु वा कल्पभेदेन तत्र विरुद्धभाषणमीमांसा, न तथापि सृष्टेरादिकालनिर्णयः सम्भवेत्। एवं ब्राह्मणादिश्रुतञ्च

सृष्टितत्त्वं मन्तव्यं किल यथायथ मेवेत्यत्रापि धीमतः संशय एव समुत्पद्यते; वेदार्थसहायके निखिलमीमांसादर्शनेऽपि ब्राह्मणगतसृष्टिप्रतिपादकाख्याख्यायिकावाक्यानां काल्पनिकत्वनिर्णयात् । तथाहि "बबरः प्रावाहणिरकामत"—इत्येवमादिषु श्रुतिषु बबरादीना मनित्यार्थानां संयोगात् वेदस्याधुनिकत्व माशङ्क्य सिद्धान्तित मेतत्— "न तु तत्रानित्यो बबराख्यः कश्चित् पुरुषो विवक्षितः, किन्तु बबर इति शब्दानुकृतिः; तथासति बबरेति शब्दं कुर्वन् वायुरभिधीयते ; स च प्रावाहणिः, प्रकर्षेण वहनशीलः। एव मन्यत्राप्यूहनीयम्"—इति (मी० जै०सू०१.२.५०. सा०व्या०)। निरुक्तकारः खलु यास्कोऽपि तादृशानां निखिलब्राह्मणवचनाना मादरातिशयेन प्रामाण्यं नाङ्गीचकार। अत एवाह—"बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति (७. ७. २.)"—इति। वस्तुतो वैदिकसृष्टिविवरणानि तु प्रायो रूपकाण्येवेति नात्र मैतिहासिकतोषायेति। तदेव मादिसृष्टिकालनिर्णयो न कदापि भूतो भवति भविष्यति वा। अतएव श्रूयन्ते—"ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे। ध्रुवं विश्व मिदं जगत् ( ऋ० स० ८. ८. ३१. ४. )"—इत्येवमादयः, स्मर्यन्ते च—"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे ( का० वा० १.)"—इत्यादयः, "सिद्धा द्यौः सिद्धा पृथिवी, सिद्ध माकाशम् (पा० भा० १. १. १. )"—इत्येवमादयश्च। सिद्धशब्दस्य चेह नित्यार्थता; तथाह्याह पस्पशायां भगवान् पतञ्जलिः—"नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः"—इति। वेदस्यापि तथात्वे तत्कालनिर्णयमनोरथद्रुमः खलु भवेत्चपलाहत एवेति।

यास्केन त्वत्रैष प्रदर्शितः पुरावादः—"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवः, तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः, उपदेशेन ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च ( २भा० १३७ पृ० )"—इति। सिद्धश्चेत्थं वेदाना माम्नातत्व मार्षत्वञ्च। ऋषयः खल्वस्मत्पूर्वपुरुषा इति मनुष्या एव। परन्त्वेव मप्यशक्यनिर्णयतैव वेदकालस्य ; आम्नानकृतयोर्विभिन्नार्थत्वात्। आम्नात इत्युक्ते न ज्ञायते कृत इति, अपि बुध्यते अभ्यस्त इत्येव ; अभ्यासे एव म्नातेरुपदेशात् (धा०

पा० १.६२६.)। एव मभ्यासस्तु पूर्वस्थितानामेव भवति; न तु क्रियमाणानाम्। अतएव वामदेव्यादीनि सामानि वामदेवादिभिर्दृष्टान्येवोच्यन्ते; न तु कृतानीति प्राचीनाः।

वैशेषिक-न्याय-साङ्ख्य-पातञ्जलेष्वपि वेदस्य प्रामाण्यं स्वीकृत मेव; परं न चोक्त मकर्त्तृक इति, नाप्युक्त मीश्वरकृत इति च; अपि त्वाप्तैः ऋषिभिरेवैषः कृत इत्येव। तथाहि—"बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे, ब्राह्मणे सञ्ज्ञाकर्मसिद्धिलिङ्गम् (६.१.१, २.)"—इति, "आर्षं सिद्धदर्शनञ्च धर्मेभ्यः (६. २. १३.)"—इति, "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् (१०.२१०)"—इत्येवमादि च वैशेषिके। एव मन्येषु च।

एवं "विश्वामित्र ऋषिः०—० नदीस्तुष्टाव गाधा भवतेति (२भा० २३७ पृ०)"—इति, "ऋषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते (३ भा० १० पृ०)"—इति, "गृत्समद मर्थं मभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे, तदभिवादिन्येषर्ग् भवति (४ भा० ५ पृ०)"—इत्येवमादिषु यास्कवचनेषु चोपलभ्यते तत्तन्मन्त्राणा मृषिकृतत्व मेव। "सर्प ऋषिर्मन्त्रकृत् (ऐ० ब्रा० ६. १. १.)"—इत्यादिब्राह्मणवाक्येभ्यस्च स्फुट मवगम्यते मन्त्राणा मप्यृषिकृतत्वम्।

वस्तुतो बहूनां मन्त्राणां समालोचनादपि व्यक्तं प्रतीयत एव तेषां धीमत्पुरुषकृतत्वम्; विशेषतः क्वचित् क्वचित् मन्त्रे एव ध्वन्यते चैषां बहुपुरुषकृतत्वञ्च। तथाहि—

"सक्तु॑मिव॒ तित॑उना पुनन्तो॒ यत्र॒ धीरा॒ मन॑सा॒ वाच॒मक्र॑त।
अत्रा॒ सखा॑यः स॒ख्यानि जानते भ॒द्रैषां॑ ल॒क्ष्मीर्निहि॒ताधि॑ वा॒चि।"
—इति ऋ० सं० ८. २. २३. २.।

तथा चास्मत्पूर्वपुरुषैः ऋषिभिरेव कृत एष वेदमन्त्रभागोऽपीति सुस्थिरम्॥

सत्येव मप्येषां कालनिर्णयस्त्वशक्य एव; अनद्ययुगीयत्वात्। तथाहि—एतद्युगप्रथमसहस्राब्द्या मेव जातः पाणिनिराचार्य इति तु सिद्धान्तितम् (जि—झ पृ०); ततोऽपि पूर्वतनाः क्रमकारा बाभ्रव्यादयः; ततोऽपि पूर्वतनाः पदकाराः शाकल्यादयः; ततोऽपि पूर्वतना ऋक्तन्त्रादिप्रणेतारः शाक-

टायनादयः ; ततोऽपि पूर्वतना नवयुगारम्भजन्मानो लाट्यायनादयः कल्प-सूत्रकाराः (तदानी मेव नवकल्पारम्भ इत्येव तत्कालकृता ग्रन्थाः कल्पा इत्युच्यन्त इति च नासम्भवः)। एतद्युगारम्भात् पुरैव प्रणीतानि कुसुरु-विन्दादिभि ऋषिभिः अनुब्राह्मणादीनि ; ततः पूर्वस्मिन्नेव युगे कल्पे वा महीदासादिभिः श्लोकानुश्लोकगाथादीनि सङ्गृह्य तदनुसारेण कृतान्यैत-रेयादीनि ब्राह्मणानि ; ततः पुर एव युगे कल्पे वा प्रवादानेवानुसृत्य प्रणीताः श्लोकानुश्लोकगाथादयः ; ततः पुर एव युगे कल्पे वा श्रूयन्ते स्म विकीर्णाः प्रवादास्तत एवाद्यापि ते श्रुतय इत्याख्यायन्ते च ; ततः पुर एव युगे कल्पे वाभवत् यज्ञप्रयोगारम्भः ; तदैवाथर्वणा कृत एकेनैव यत्नेन चतुःसंहितासङ्ग्रहः (ठा पृ०)। तत्पूर्व मेव सम्पन्ना बभूवुः सूक्तमण्डलादिसङ्ग्रहाः, तत्रापि नास्ति संशयः। ततः पुरा तु बहुकाल मभिव्याप्य बहुभिः ऋषिभिर्बहुभिरेवोच्चावचैरभिप्रायैः प्रणीता बहवो मन्त्राः। तदेवं बहुयुगपूर्व मेवारब्धा मन्त्ररचनाः, तत्कथङ्कार मद्यतनैः शक्यो निर्णेतुं तत्कालः ; अनद्यतनीयानां तादृशातिप्राचीनतमानां काल-निर्णये हि न कि मपि लिङ्गं प्रतिभासेत बहुधीमता मप्यद्यतनानाम्। भवति हि व्यक्तिनिर्णयपूर्वक एव कालनिर्णयः, न चात्र क्वापि व्यक्तिनिर्णयः सम्भाव्यते ; न ह्येतत्कृतोऽसौ मन्त्र इति क्वापि लिखितं दृश्यते। दृष्टशब्द एव कृतवाचक इति चेत्, तथापि न व्यक्तिनिर्णयः सुकरः; अग्निना दृष्ट इत्यादौ अग्नीत्यादिसञ्ज्ञानां सञ्ज्ञिशून्यत्वेन कल्पितसञ्ज्ञित्वेनैव वा प्रायोऽवधार्यत्वात्। यथा च खलु सूर्यवंशीयानां क्षत्रियाणा मादिपुरुषः सूर्य इति तु शब्दतः प्रतीयत एव, पर मुदीयमानस्यैतस्य दिनमणेरेवौ-रसजातः स वंश इति विश्वासस्तु कथं भवेन्नाम सर्वशेमुषीमताम्? अतस्तद्वंशादिपुरुषस्य प्रकृतनामाज्ञानात् सौर्यत्वेन च कल्पितो नाम सूर्य इत्येव तत्र स्वीकार्यम्, तथैवात्रापि। "अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् (म० सं० १. २३.)"—इत्यादि (अस्ति चात्र विशेषतात्पर्य मपि)। तस्मात् तत्त्वतः प्रणेटव्यक्तिनिर्णयासम्भवादेव मन्त्रकालनिर्णयस्याशक्यतैव सम्पद्यते।

"अर्चिषि भृगुः सम्बभूव (निरु० २भा० ३३२ पृ०)"—इत्यादिनिर्वचनाच्च वंशादिसञ्ज्ञानां किञ्चित्तात्पर्यमूलकरूपकत्व मेवानुमीयते। अथ यदि 'तुष्यतु दुर्जनः' इति न्यायेन स्वीकुर्मः,—समुत्पन्न एव कश्चित् भृगुर्नाम महर्षिस्तथैव, ततश्च भृगुणैव भार्गवं नाम सूक्त मिति, तथापि न सम्भवेत् व्यक्तिनिर्णयः ; को हि जानाति कोऽयं भृगुः कदेमां भुव मलञ्चकारेति ? यत्र क्वचन मन्त्रे वसिष्ठ-नाम श्रूयते, तस्यापि रचनाकालनिर्णयोऽस्माक मशक्य एव ; यतो हि को जानाति आदिवसिष्ठः कदोत्पन्न इति ? एवं यान्यपि इडादिभिर्भृगुभिरिन्द्रप्रमतिप्रभृतिभिर्वसिष्ठैश्च दृष्टानि सूक्तानि श्रूयन्ते, तेषा मप्युद्भवकालविज्ञेयता गाढ़तमोभिराच्छन्नैव ; वर्वर्त्त्येव हि तत्र तत्रापि कालनिर्णायकलिङ्गाभावः, नापि हि आदि-भार्गवस्यैव भार्गव इति, आदिवासिष्ठस्यैव च वासिष्ठ इति व्यवहार-नियमो विद्यते लोकेऽन्यत्र वा। तथैव वेदे काश्यपवचन मप्यस्ति सत्यम् ! परं न ह्यत्र पृथिव्या मेक एव काश्यपः सञ्जातः, अह मपि काश्यपः, मत्पुत्रोऽपि काश्यपः ; मत्पौत्त्रोऽपि भविष्यति काश्यप एव। एवं भारद्वाजादयोऽपि। तस्मादेतादृशनामपर्यालोचनया च मन्त्रप्रणयनकाल-निर्णये यत्नः सर्वथा व्यर्थ एव।

एतच्च निर्णीत मेव विद्वद्भिः,—अद्य यावत् यावतां प्राचीनप्रबन्धाना मनुसन्धानं सम्पन्नम्, तेषु सर्वेष्वेव मन्त्रभागः प्राचीनतम इति ध्रुवम् ; अस्मादपि पुरातनः कश्चित् प्रबन्धो बभूव, इदानीं लुप्त इत्यपि वक्तुं न कस्यापि पुरातत्त्वानुसन्धित्सोरोष्ठाधरौ स्फुरताविव दृश्येते ; वर मस्यैव निगमकल्प-तरोर्बह्व्य एव शाखाः प्रलयवात्या कालसागरे निमग्ना उपलभ्यन्त एव। एकस्यैव हि ऋग्वेदस्य नव शाखाः स्थिता इति सर्वसम्मतम्, पर मतिप्राचीनेन निरुक्तकारेण यास्केनापि एकैवैषाद्यप्रचलिता शाखाऽदर्शीति गम्यते, नान्याः ; निरुक्ते ऽसकृदेव दशतयीत्यस्यैवोल्लेखदर्शनात्। न हि सर्वासा मेव शाखानां दशमण्डलात्मकत्वेन दशतयीत्वसम्भवः। अद्यापि विद्यमानासु शुक्लयजुषः काण्वमाध्यन्दिनमैत्रावरुणशाखासु परिच्छेदवैषम्यं हि दृश्यत

एव; तथैव तत्राप्यवश्य मेव भवितव्यम्; तस्मात् न कथ मपि सर्वासा मेव बह्वृक्शाखानां दृष्टतथीत्वसम्भवः। एवञ्च यास्कजन्मतो बहु प्रागेव नूनं शिष्टा अष्टौ शाखा एकैकशः क्रमाद् विनष्टा इत्यनुमानं च नासङ्गतम्। तदेवं विचारयन्तु धीमन्तः,—यास्ककालात् मन्त्रकालस्य कीदृक् प्राचीनत्व मिति। तदित्थं मन्वयुगीयत्वात् व्यक्तिलिङ्गानवाप्तेः रचयितृव्यक्तिनिर्णयाभावात् मन्त्रभागस्य कालनिर्णयस्तु सर्वथा अशक्य एवास्माक मद्ययुगीयाना मिति॥

ब्राह्मणग्रन्थाना मपि कालनिर्णये यत्नोऽप्येव मकिञ्चित्कर एव; न हि तेषु कस्याप्येकस्य कालनिर्णयसहायः संवादोऽवगम्यते क्वापि लोके शास्त्रे वा। ततः सर्वेषा मेव युगान्तरीयग्रन्थानां कालनिर्णये एतत्सङ्ख्याकाब्देऽसौ प्रणीत एवेति निर्द्धारणे वय मसमर्था एव सर्वथा। मन्त्रब्राह्मणयोः सम्यक् पर्यालोचनया मन्त्रभागात् परभवो ब्राह्मणभाग इति तु वक्तुं युज्यते; एवम् मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि भागयोरन्तरेऽपि एतस्मान्मन्त्रादेष मन्त्रः परभवः, एतस्माच्चैष प्राग्भवः, किञ्चैतस्माद् ब्राह्मणादेतत् ब्राह्मणं ब्राह्मणवाक्यं वा परभवम्, एतस्माच्चैतद् प्राग्भव मित्यपि प्रायो निःशङ्कं निर्णेतुं शक्यते; पर मेतद्युगीयैतत्सङ्ख्यकेऽब्देऽसौ मन्त्रग्रन्थो ब्राह्मणग्रन्थो वा प्रणीतो ग्रथितः सङ्कलितो वेति नास्मादृशां बोधयोग्यम्। अतएव मन्त्रभागस्येव ब्राह्मणभागस्याप्यनादित्व मुपचर्य्यतेऽद्येति॥

यद्यप्यैतरेयभाष्यभूमिकायां सायणाचार्येणापि प्रकाशित एवेतरायाः पुत्रो महिदासाख्यो भूमिदेवतातो वर मवाप्य भाषितं यद् ब्राह्मणं, तदेव प्रथित मैतरेय मितीति प्रवादः। तथापि तस्यापि ब्राह्मणस्य न शक्यः कालनिर्णयः; प्रदर्शितप्रवादात्त्विद मेव हि ज्ञायते,—इतरेतिप्रसिद्धायाः कस्याश्चिदपि ऋषिरमण्याः पुत्रेणेदं प्रोक्त मिति, परं तस्मान्नैव मभिव्यज्यते,—एतद्युगीये एतस्मिन्नब्दे किल सा ऋषिरमणी तद्ब्राह्मणग्रन्थं प्रणेष्यन्तं कुमारं प्रसूयेमं जगतीतल मलङ्कृतवतीति। एवञ्चैतरेयादिग्रन्थानां कालनिर्णयाय तादृशप्रवादादीना मवलम्बन मपि सुदूरपारसागर मुत्तितीर्षोः प्लवमानकाशकुशावलम्बनकल्प मेवेति॥

यदस्त्यैतरेयके—"एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण तुरः कावषेयो जनमेजयं पारिक्षित मभिषिषेच ; तस्मादु जनमेजयः पारिक्षितः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयायाश्वेन च मेध्येनेजे । तदेषाभि यज्ञगाथा गीयते—'आसन्दीवति धान्यादं रुक्मिणं हरितस्रजम् । अश्वं बबन्ध सारङ्गं देवेभ्यो जनमेजयः'—इति (८. ४. ७.)"—इत्येवमादि ; ताण्ड्यब्राह्मणे चैवं श्रूयते—"जनमेजयस्यार्बुदो ग्रावः (२५. १५.)"—इति । एवमादिश्रुतेन यदि कश्चिदध्यवस्येत्,—अर्जुनपौत्रजनमेजयात् बहुदिनानन्तर मेवैतानि प्रणीतान्यैतरेयकादीनि ब्राह्मणानीति, तथाच यौधिष्ठिरीयाया मत्यून-द्वितीयशताब्द्या मेवैषां सम्पन्नं प्रणयन मितो निर्णीत एवैतत्काल इति ; तर्हि सः स्यादवश्यं भ्रमावर्त्तमग्नः ख्यातिबुद्ध्यैव वञ्चितः । ऐतरेयादीनां यौधिष्ठिरीयद्वितीयशताब्दीजत्वे हि पाणिनिसमकालत्व मेव प्रसज्येत ; पाणिनेरपि यौधिष्ठिरीयद्वितीयशताब्दीजत्वनिर्णयात् (भि ए०) ; न चेष्टा-पत्तिः ; पाणिनीये एव हि व्याकरणे ब्राह्मणग्रन्थाना मतिप्राचीनत्वेन प्रोक्तत्वादिस्वीकारात् ; न हि समकालिकाना मेव ग्रन्थानां प्रोक्तत्वेन व्यपदेशः सङ्गच्छते, नापि छन्दस्त्वादिक मुपपद्यते ।

अस्मन्मते तु बभूवैव कश्चन पुराकल्पेऽपि परीक्षितो जनमेजयस्य, तत्तन्नामश्रुत्यनुसारत एवाभिमन्युपुत्रस्याभवन्नामकरणं परीक्षित इति, तथा तत्पुत्रस्य जनमेजय इति च । तद्यथा, दृश्यत एव हि भागवतादिषु सत्य-व्रतो नाम, तत एव मन्नामकरणं सम्पन्नं सत्यव्रत इति ; न च मन्नामकर-णतः पश्चात् प्रणीतानि भागवतादीनि । अप्येवं वङ्गकवेर्बङ्किमस्य लेखनी-जातानि कपालकुण्डलादिनी च नामानीदानीं बङ्गस्येव वङ्गाङ्गनेषु श्रूयन्त एवेति । एव मेव समाधानं सर्वत्रैवावश्य मुररीकर्त्तव्यम् ; अन्यथा वेदेषु भोजनामश्रवणात् भोजसमसामयिकस्य वेदभाष्यकृदुव्वटस्यापि वेदसम-कालजत्वं प्रसज्येतैव, तत् कथङ्कारं वार्येतेति । तथा हि ऋक्संहितायां (८. ६. ४. ५.) श्रूयते—"भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म"—इति ; श्रूयते चैतरेयब्राह्मणे तत्रैवाभिषेकप्रकरणे—"भोजं भोजपितरम् (८. ४. २.)"

—इति ; उक्तञ्चोव्वटेन—"मन्त्रभाष्य मिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति"—इति । तदत्र कथयन्तु धीमन्तो यदि नाम नामदर्शनादेव कालनिर्णयः शक्यस्तर्हि तत्तद्वेदग्रन्थाविर्भावकाले एव किं माविरभूत् वेदभाष्यकार उव्वटो वज्रटात्मजः ? इह नेत्युक्ते स्वीकार्य एवायं न्यायोऽन्यत्रापि सर्वत्रैव ; न हि कुक्कुट्या एको भागः पाकाय, अपरो भागः प्रसवाय कल्प्यत इति ॥

यच्चोक्तम्,—शतपथं नाम ब्राह्मणं पाणिनीयतोऽप्युत्तरभव मपि तु कात्यायनसमकालिकेन याज्ञवल्क्येन प्रणीतम् ; "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४. ३. १०५)"—इति हि पाणिनिसूत्रम्, तत्स्थं वार्त्तिकादिकं च तत्र मान मिति । तदप्यतीव विस्मयकर मस्माकम् ; गम्यते हि तस्मादेव सूत्रात् तत्स्थात् वार्त्तिकादिकाच्च शतपथस्यापि पाणिनीयतः खलु प्राचीनत्व मेव । तथा ह्यस्यैतत् सूत्रं पाणिनीयम्—"पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (४. ३. १०५.)"—इति । "तृतीयान्तात् प्रोक्तार्थे णिनिः स्यात्, यत्प्रोक्तं पुराणप्रोक्ताश्चेद् ब्राह्मणकल्पास्ते भवन्ति । पुराणेन चिरन्तनेन मुनिना प्रोक्ताः । भल्लु—भाल्लविनः । शाट्यायनः—शाट्यायनिनः । कल्पे—पिङ्गेन प्रोक्तः पैङ्गी कल्पः । पुराण इति किम् ? याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि, आश्मरथः कल्पः ।"—इति तत्रैव वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी । तत्रैतद् विचार्यम्—यदि नाम याज्ञवल्क्यं ब्राह्मणं शतपथ मिति यावत् पाणिनेर्नावगतं स्यात्, तर्हीह किं प्रत्युदाहरणं भवेत् ?—कातिव्याप्ति-वारणाय सूत्रे पुराणविशेषण मुपपद्येत ? न हि भविष्यमाणग्रन्थस्य शतपथादेः प्रोक्तत्वं पाणिनेरभिमतं भवितु मर्हति, तत् किंव्यावर्तकं सूत्रस्थं पुराणपद मिति । वस्तुतस्तु पाणिनिना यथा प्राचीनत्वेन ज्ञातं पैङ्ग्यादिकं कल्पशास्त्रम्, तथैव ज्ञात मेव आश्मरथादिकं च ; अतएव प्रोक्तत्वेन तेषां सर्वेषा मेव ग्रहणसम्भवेऽनिष्टं प्रसज्येतेति प्राचीनेष्वपि कल्पेषु ये पुराणप्रोक्ताः = प्राचीनतमाः, तेभ्य एव णिनिर्विधाय आश्मरथादिभ्यो णिनिप्रसङ्गो वारितः ; तथा सर्वेभ्य एव कल्पेभ्योऽपि प्राचीनेषु सुतरां प्राचीनतरेषु ब्राह्मणग्रन्थेषु सर्वत्रैव णिनिप्रसङ्गवारणाय

तत्रापि पुराणविशेषणं सार्थकम्; सति हि पुराणविशेषणे प्राचीनतरेभ्यः सर्वेभ्य एव ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो न भवति णिनिः; अपि तु तत्रापि ये पुराणप्रोक्ताः = प्राचीनतमाः, तेभ्य एवेति सिद्धं शाट्यायनि ब्राह्मण-मित्यादि; ये तु प्राचीनतरेष्वपि ब्राह्मणग्रन्थेषु शाट्यायनादिपरभवप्रोक्ताः न तेभ्यो णिनिरिति सिद्धं याज्ञवल्क्यं ब्राह्मण मित्यादि च। एवञ्चातिप्रा-चीनेष्वेव पुराणप्रोक्तत्वं तदितरत्वं चेष्टं पाणिनेरिति याज्ञवल्क्यब्राह्मणादे-रप्यतिप्राचीनत्वन्त्वक्षत मेव।

एव मेतत्सूत्रस्थं वार्त्तिक मप्यस्मन्मतसाधक मेव। तथाहि—"पुराण-प्रोक्तेषु याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्"–इति वार्त्तिकम्। शा-ट्यायनादिप्रोक्तानां ब्राह्मणानां, पिङ्गादिप्रोक्तानां कल्पानाञ्च यथा पाणिनि-पूर्वप्रोक्तत्वम्, तथैव याज्ञवल्क्यादिप्रोक्तानां ब्राह्मणाना मश्मरथादिप्रोक्ता-नाञ्च कल्पाना मिति सर्वेषा मेवैषां पाणिनिपूर्वप्रोक्तत्वेन तुल्यकालत्वात् पुराणप्रोक्तत्वं समान मिति सर्वेभ्य एवैतेभ्यो णिनिः प्रसक्तः; तन्निवारणाय याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधरूपो यत्नविशेषः कर्त्तव्य इति च तद्वार्त्तिकाशयः। एवञ्चैतद्वार्त्तिकारम्भात् भगवतः कात्यायनस्य अतिप्राचीनेष्वेव ब्राह्मणेषु कल्पेषु च पुराणप्रोक्तत्वापुराणप्रोक्तत्वनिर्णये संशयः, तन्निरासाय च यत्नोऽवश्यं कर्त्तव्य इत्येवाशयः फलितः। कात्यायनसमकालिकस्यैव कस्य-चित् याज्ञवल्क्यस्य तु सति शतपथनिमातृत्वे तत्र पुराणप्रोक्तेष्विति णिनिप्रसङ्ग एव कथम्? कथं वा तन्निरासाय वार्त्तिकारम्भो भवेत् प्रयोजनीयः?। तत्ततो पाणिनिसमकालिकानां पाणिनिसदृशानाञ्च धीमतां प्राचीनतमेष्वपि ग्रन्थेषु पौर्वापर्यनिर्णयो यथा सुगमः, न तथा तत्पर-कालिकानां कात्यायनादीना मपीति तदानी मेव याज्ञवल्क्यादीनां परि-गणनं सप्रयोजन मासीत्, तत् किं मद्यतनानां त्वस्मादृशाम्।

एव मेतदीयं भाष्यञ्चास्मन्मतपोषक मेव। तथाहि—"पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेष्वित्यत्र याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः। याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि, सौलभानीति। किं कारणम्? तुल्यकालत्वात्; एतान्यपि हि

तुल्यकालानीति"-इत्येव तद्भाष्यम् । "तुल्यकालत्वादिति—शाट्यायनादि-प्रोक्तैर्ब्राह्मणैरेककालत्वादित्यर्थः"-इत्येव च तत्रोक्तवान् कैयटो जैयटात्मजः। यद्यपीह वार्त्तिकमत मेवानुमोदितं भाष्यकारेणेति गम्यते, तथापि नो न क्षतिः। श्रीमन्नागेशभट्टस्य मते तु शाट्यायनादिसमकालतैव याज्ञवल्क्यादि-प्रोक्तानां शतपथादीनाम्; अतस्तेभ्यो णिनिः प्राप्तः, कात्यायनवचनेन वारितोऽनुमोदितश्च तद्वचनं भाष्यकारेणेति (ल० श० शे०)। तथाहि—"याज्ञवल्क्यानीति। कण्वादिभ्य इत्यण् । ते हि पाणिन्यपेक्षया आधुनिका इत्यभिमानः; भाष्ये तु शाट्यायनादितुल्यकालत्वाद् * * * वचन मेवा-रब्धम्"-इति। वस्तुतो भाष्ये एतत्पूर्व मेव "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (पा० ४. २. ६६.)"-इत्यत्रोक्तम्—"वक्ष्यत्येतत् 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेध-स्तुल्यकालत्वात्'-इति। तत्रैव वक्तव्यम्; तद्विषयता च न भवतीति"-इति। "वक्ष्यत्येतदिति। पुराणप्रोक्तेष्वित्यत्र"-इत्येव च तत्र कैयटः। तथा च अतिप्राचीनेष्वेव ब्राह्मणकल्पग्रन्थेषु ये पुराणप्रोक्ताः, तत्रैव णिनिः पाणि-निना विहितः; ये तु नूतनप्रोक्ताः, तत्र तु णिनिविषयतैव नास्तीति अर्थं वार्त्तिक मिति तद्भाष्याशयः। पाणिनिकालेऽपि ये ग्रन्था अतिप्राचीना इति प्रसिद्धा अतएव प्रोक्ता इत्येव व्यपदिष्टास्तदानीन्तनैः शिष्टैः, तेष्वेव के पुराणप्रोक्ताः के वा नेति निर्णयायैव परिगणन मवश्यं कर्त्तव्य मिति वार्त्तिककारमतम्; "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादल-क्षणम्"-इति भाष्येच्छा च तत्खण्डनं योग्य मित्येतात्र सारम्। तदित्थं सूत्रकारवचनात्, वार्त्तिककारवचनात्, भाष्यकारादिवचनाच्चेद मेव सिद्धम्,—याज्ञवल्क्यादिप्रोक्तं शतपथादिकं शाट्यायनादिभ्योऽर्वाचीन मपि पाणिनीयतः खलु प्राचीनतम मेवेति।

वार्त्तिककारकात्यायनसमकालिकः कश्चन याज्ञवल्क्यो नासीदासीद्वेति नास्मद्विचारविषयः;—अपि तु शतपथप्रवक्ता याज्ञवल्क्यस्तु वार्त्तिककार-कात्यायनसमकालिकः कथ मपि नैव; पाणिनिसमकालिकोऽपि न सः कथ मपि; प्रत्युत पाणिन्यादयो यस्मिन् युगे जातः, यस्मिन् कल्पे जातः,

ततोऽपि पूर्वतन एव ; किन्तु तस्य ग्रन्थायनादिसमकालिकत्वाभावेऽपि ब्राह्मणकालजत्वन्त्ववितथ मेवेति तत्कालनिर्णयोऽप्यस्माक मनुक्य एवेति शम् ॥

---

( ११ )

अथेतर्हि समालोचयितव्य मस्ति के विषयाश्चैतन्निरुक्तप्रतिपाद्या इति । सर्वेषा मेव वेदाङ्गानां साक्षात्परम्परया वा वेदार्थज्ञान मेव प्रयोजनम्, तत्साधनायोपदेश एवैकः प्रतिपाद्यविषय इति तु वेदवित्प्रसिद्ध मेव; तदिह निरुक्ते वेदार्थज्ञानसाधनाय तत्प्रसङ्गतश्च येऽखिलविषयाः प्रतिपादिताः, तानेव व्याकर्त्तुं समग्र मेवेमं ग्रन्थं समासतः किञ्चिद्व्यासतश्चालोचयाम इति यावत् ।

अत्रैतस्य हि निरुक्तशास्त्रस्य वीजानि पुरासन् श्रुतिवारिधौ विकीर्णानि; अतएवोच्यत इद मपि शास्त्र मानुश्रविक मिति । ततो ब्राह्मणग्रन्थेषु यथाप्रयोजन मेकैकं चीयमान मङ्कुरितम् ; तस्मादेव च तस्य सम्पन्न मालवालीभूतग्रन्थान्तर्गतत्वम् । ततोऽनुब्राह्मणेषु विशेषतः प्रोच्यमानं परिपुष्टम् । तत एव काले निदानसूत्रेषु पल्लवितं सत् प्रकरणविशेषात्मकत्व मुपगतम् । ततस्तेभ्य एव शाकपूण्यादिभिः शाखाप्रशाखादिभिः सज्जितः प्रणीतो ग्रन्थविशेषो निरुक्त मिति । तान्येव सर्वाण्यवलम्ब्य कृत मेतन्निरुक्तं भगवता यास्केन पुष्पितं फलितश्चैव मेवेति वृद्धाः ।

तस्यास्य प्रथमाध्यायस्तु ग्रन्थभूमिकारूपः; तत्र निघण्टुनिर्वचनादीनि च प्रतिपादितानि । द्वितीयतृतीयाध्याययोर्निर्वचनप्रकारादिकथनपूर्वकं भाषितं नैघण्टुककाण्डव्याख्यानम् । चतुर्थादिषु तु त्रिष्वध्यायेषु एकपदीलाख्यापनपूर्वकं कृतं नैगमकाण्डव्याख्यानम् । तत उत्तराधीतेषु षट्स्वध्यायेषु देवतात्वबोधनपूर्वक माख्यातं दैवतकाण्डव्याख्यानम् । इत ऊर्द्ध मतिस्तुति मधिकृत्यात्मतत्त्वोपदेशादीनि प्रदर्शितानि त्रयोदशाध्यायरूपे प्रथमपरिशिष्टे । ततश्च चतुर्दशाध्यायात्मको द्वितीयपरिशिष्टः ; तत्रोर्द्धमार्गगति मधिकृत्याख्यातानि च परमपुरुषार्थसाधनानीति सङ्क्षेपः ॥

किञ्चिदिह्नदयामस्येद मालोचनम् ।—

(१) यद्यप्येतन्निरुक्तं खलु निघण्टुभाष्यरूप मेव, परं न ह्यत्र नैघण्टुकानां सर्वेषा मेव पदानां व्याख्यानान्युक्तानि । यथाहि—नैघण्टुकसमाम्नाये पृथिव्या नामधेयानि एकविंशतिसङ्ख्यकानि परिपठितानि दृश्यन्ते, तेषा मेक मेव गौरिति व्याख्यातं द्वितीयाध्यायीयेन समग्रद्वितीयपादेन (२ भा० १७५—१९४ पृ०); अपरेषाम्पुनर्नाम्ना मुल्लेखोऽपि न कृतः । अत एवोक्तं तदन्ते वृत्तिकृता—"अनुक्रमणं त्वधिकृतम्, तस्मिन् गोशब्द एको निरुक्तः प्रकारोपदर्शनार्थम्"—इत्यादि ।

(२) प्रसङ्गसङ्गत्या वैदिकतत्त्वान्यपीह बहूनि प्रतिपादितानि । तद्यथा —"पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे (२भा० २४पृ०)"—इत्येव-मादीनि ।

(३) व्याख्यातानि चेह स्वप्रदर्शितनिगमश्रुतपदादीनि च प्रायः सर्वा-ण्येव । अतएवोक्तं निघण्टुटीकाकृता—"नैघण्टुगतेष्वेव पदेष्वध्यर्द्धशत-त्रयमात्राणि पदानि भाष्यकारेणैव तत्र तत्र निगमेषु प्रसङ्गान्निरुक्तानि (१ भा० ४पृ० )"—इति ।

(४) मन्त्रश्रुतपदान्येव चात्रोदाहरणत्वेन प्रायः सर्वत्रोपात्तानि ; ब्राह्म-णीयानि तु न तथाहृतानि ; तथाचेदानीं मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयत्वेऽपि मन्त्रगताना मेव पदानां व्याख्यानेन वेदव्याख्याने कृतकृत्यम्मन्यो बभूव स इति चावगम्यते । प्रत्यक्षयोग्ये कृतं मानान्तरोपादानेन ।

(५) नात्र च मन्त्रगताना मेव पदानां निर्वचनानि समुपदिष्टानि ; अपि तु तत्सन्नियोगात् लौकिकानाञ्च बहूनाम् । तद्यथा निर्वचनारम्भे एव —गोशब्दनिर्वचनप्रसङ्गात् पयः-शब्दस्य कृतं निर्वचनम्,तत्प्रसङ्गात् क्षीर-शब्दस्यापि ( २ भा० १७५ पृ० )। एव मेवोत्तरत्रापि बहुत्र ।

(६) लोकवेदयोः साधारणा विषयश्चात्र बहव उक्ताः । तद्यथा — "चत्वारि पदजातानि"—इत्यादयः, "षड् भावविकारा भवन्ति"—इत्येव-मादयश्च ( २ भा० ७, ३४ पृ० )।

पुत्रशब्दोऽप्येव मेव द्वाभ्या मेकतस्य निरुक्तः—"पुत्रः, पुरु त्रायते निपरणाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा"—इति २भा० १९९पृ०। अतएव बह्वृचाम् "इन्द्र क्रतुं न आभर (ऋ० सं० ५. ३. २१. ६.)"—इत्यस्य पदपाठे 'पुत्रेभ्यः'—इत्यनवगृहीतं श्रूयते; छन्दःपदसंहितायां तु तत्रैव मन्त्रेऽवगृहीत मेव 'पु। त्रेभ्यः'—इति (सा० छ० प० ३. २. २. ७.)। सखिशब्दस्तु यास्केन द्विर्निरुक्तः, परिशिष्टेऽप्येकत्र (३भा० ४३३पृ०, ४भा० ३६०,३८० पृ०), परं समाननामोपपदात् ख्यातेरित्येकविध एव सर्वत्र; तथा च तत्पदपाठे खल्ववग्रहेणैव भवितव्यम्; न च तथा दृश्यते बह्वृग्ग्रन्थेषु। तथाहि—"इमं स्तोम मर्हते (ऋ० सं० १. ६. ३०. १.)"—इत्यस्य पदपाठे 'सख्ये'—इत्यनवगृहीत मेव श्रूयते;—छन्दःपदसंहितायान्तु तत्रैव मन्त्रेऽवगृहीतं 'स। ख्ये'—इति (सा० छ० प० १. १. २. २. ४.)। वस्तुतः सर्वत्र पदकाराभिप्रायबोधोऽस्माकं दुरूह एव; क्रमकारास्तु तदनुगताः, जटादिपाठाश्च तन्मूलका एव। बहुत्र तु सामपदसंहिताया मनवगृहीत मपि बह्वृचां पदपाठेऽवगृहीत मेव श्रूयते। तद्यथा—"अग्ने मृड महाँ असि (ऋ० सं० ३. ५. ९. १.)"—इत्यस्य बह्वृक्पदपाठे 'देव ऽयुम्'—इत्यवगृहीतम्; छन्दःपदपाठे तु 'देवयुम्'—इत्यनवगृहीत मेव (सा० छ० प० १. १. ३. ४.)। एवम् "इन्द्र मिद्देवतातये (ऋ० सं० ५. ७. २५. ५.)"—इत्यस्य बह्वृक्पदपाठे 'देव ऽतातये'—इत्यवगृहीतम्; छन्दःपदपाठे तु 'देवतातये'—इत्यनवगृहीत मेव ( सा० छ० प० ३. २. १. ७. ) स्थित मिति सङ्क्षेपः।

(१४) यदि क्वचिद् वेदव्याख्याने प्रामाणिकानां व्याख्यातॄणां मतान्तरता लक्ष्येत, तत्र विनिगमनाविरहात् सर्वेषा मेव मताना मादरोऽस्माकं कर्त्तव्य एवेत्यपि निदर्शितम्। तद्यथा—ऋक्संहितायाः पदकारः शाकल्यो नाम ऋषिः; सामवेदीयायाश्छन्दोनामसंहितायाः पदकार ऋषिर्गार्ग्यो नाम च; तदेतावुभावेव प्रामाणिकौ वेदव्याख्यातारौ;—एतयोरनुगताः क्रमादिकारास्तातुर्चानादिग्रन्थकारास्चावश्यं प्रामाणिका एवेत्यत्र च नैवास्ति

संशयः। अस्ति चैको मन्त्रो "यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति"—इति ऋक्संहितायाम्; छन्दःसंहितायाञ्च। तत्र ऋक्पदग्रन्थे, तदनुस्तेषु क्रमग्रन्थादिषु च यदवगम्यते 'मेहनास्ति'—इति पदद्वयम्; तदेव छन्दःपदग्रन्थे, तदनुस्तेषु सामग्रन्थादिषु क्रमग्रन्थादिषु चावगम्यते पदचतुष्टयत्वेन; तदेष द्विविध एव पदच्छेदोऽभ्युपेयोऽस्माभिर्विनिगमनाविरहादिति बोधयितु मुक्तम्,—"मेहनास्ति * * * मंहनीयं धनम् अस्ति यत्, म इह नास्तीति वा त्रीणि मध्यमानि पदानि"—इति २भा० ३८७पृ०। अत्रैतदपि परिव्यक्तम्—संहिताभेदकृतः पाठभेदोऽप्यवश्य मभ्युपेय इति। यथा—"यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति"—इति ऋक्पाठः (४. २. १०. १.); "यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति"—इति तु सामपाठः (४. २. १. ४.)।

(१५) मन्त्रकृता मृषीणां रचनाविधिर्व्वपि लक्ष्यः सर्वथा स्थापनीयो वेदार्थवुभुत्सुभिरित्यपि ध्वनितम्। तद्यथा—"अभ्यासे भूयांस मर्थं मन्यन्ते,—यथाहोदर्शनीयाहोदर्शनीयेति; तत् परुच्छेपस्य शीलम्; परुच्छेप ऋषिः (४ भा० १४९ पृ०)"—इत्यादि।

(१६) मन्त्रार्थं निर्ब्रुवता प्रकरण मप्युपेक्षितव्य मिति च ध्वनितम्—"उप प्रागात् सुमन्मे धायि मन्म * * * इत्याश्वमेधिको मन्त्रः (३भा० २३२पृ०)"—इत्येवमादिभिः।

(१७) कालभेदतो देशभेदतश्च नामभेदादीन्यपि सम्भाव्यानीति चेह ज्ञापितानि। तद्यथा—"आर्जीकीयां विपाडित्याहुः। * * *। पूर्व मासीदुरुञ्जिरा"—इति ४ भा० ३९ पृ०। "विजामातेति शश्वद्दाक्षिणाजाः क्रीतापति माचक्षतेऽसुसमाप्त इव वरोऽभिप्रेतः"—इति च ३ भा० १७९ पृ०। "गर्त्तारोदिणीव धनलाभाय दाक्षिणाजी (२ भा० २६६ पृ०)"—इत्येव मादीनि च।

(१८) मन्त्राणा मुत्पत्तिवीजान्यपि सुन्दर मभिबोधितान्येतेन। तथाहि—"अथापि शपथाभिशापौ ०——०; अथापि कस्यचिद् भावस्याचिख्यासा ०——०; अथापि परिदेवना कस्माचिद् भावात् ०——०;

अथापि निन्दाप्रशंसे ०——० ; एव मुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति"—इति ३भा० २९६ पृ० ।

(१९) अपि मनुष्याणा मेवाध्ययनादितपःप्रभावादृषित्वं ख्यापितम् । "तद् यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्, तदृषीणा मृषीत्वम्"—इत्येवमादिभिः (२भा०१९९पृ०)। परिशिष्टेऽपि तथा "मनुष्या वा०——० यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति"—इति ४ भा० ३५८ पृ० ।

(२०) मन्त्राणा मुत्पत्तौ च बहुत्र सांसारिकघटनादीना मेव हेतुत्वं निरूपितम् । तद्यथा—"त्रितं कूपेऽवहित मेतत् सूक्तं प्रतिबभौ ( २ भा० ३९४ पृ० )"—इति, "इदञ्च मेऽदादिदञ्च मेऽदादित्यृषिः प्रसङ्ख्यायाह ( २ भा० ४१७ पृ० )"—इति, "ऋषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते (३ भा० १० पृ०)"—इति च। तथाच यद्यपि मीमांसकमते सर्व एव मन्त्रा यज्ञ-सम्पादनायैव दृष्टाः, परं यास्कमते तु नैव सर्वेषां यज्ञसम्पादनायैवोत्पत्ति-रित्यपि सुव्यक्तम् ।

(२१) वेदार्थबोधस्यातिदुरूहत्व मपि बोधितम् । तद्यथा—"अप्येकः पश्यन्न पश्यति"—इत्यादि २ भा० १३२—१४३ पृ० ; एवमन्यत्रान्यत्रापि । परिशिष्टेऽपि "यस्तन्न वेद किं मृचा करिष्यति ( ४ भा० ३५२ पृ० )"—इति, "अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहः"—इत्यादि, "तस्यास्तपसा पार मीप्सित-व्यम्" —इत्यादि च ( ४ भा० ३५७—३६५ पृ० )।

(२२) मन्त्राणां दैवतनिर्णयस्यापि दुरूहत्वं वेदार्थबोधगर्वस्याकर्त्तव्य-त्वञ्चेत्येतद्द्वय मपि दृष्टान्तप्रदर्शनेन दृढीकृतम् । तद्यथा—"शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानामीति । तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव । तां न जज्ञे। तां पप्रच्छ विविदिषाणि त्वेति । सास्मा एता मृच मादिदे-शैषा मद्देवतेति"—इति २भा० १८८पृ० ।

(२३) वेदार्थविषये क्वचित् क्वचित् स्वस्यापि संशयः ख्यापितः । तद्यथा —"पूषा त्वेतश्च्यावतु ( ऋ० सं० ७. ६. २३. ३. )"—इत्येतस्या ऋचो व्याख्यानावसरे स्वकण्ठरवेणैवोक्तम्—"स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्य इति

सांशयिकस्तृतीयः पादः। पूषा पुरस्तात् तस्यान्वेदेश इत्येकम्, अग्निरुपरिष्टात् तस्य प्रकीर्त्तनेत्यपरम्"–इति ३भा० ३५० पृ०।

(२४) वैदिकोपाख्यानाना मुपमादिमूलकत्ववर्णनेनावास्तविकत्व मपीह ध्वनितं बहुत्र। तद्यथा—"तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति (२भा० २१७ पृ०)"–इत्येवमादीनि समालोच्यानि।

(२५) मन्त्रेषु श्रुताः सखादिसम्बन्धिशब्दा अपि साहचर्यादिमूलका गौणार्था एव, न तु मुख्यार्था इति चेह बहुत्रावेदितं तेन। तद्यथा—"उषस मस्य (आदित्यस्य) स्वसार माह,—साहचर्याद्रसहरणाद्वा (२ भा० ३२१ पृ०)"–इत्यादि।

(२६) मीमांसाग्रन्थेषु यथा ब्राह्मणग्रन्थदृष्टाना मपि प्रावाहणिरित्येवमादीनां सर्वेषा मेव सञ्ज्ञापदानां यौगिकत्वं तथा कल्पितव्यक्तिवाचकत्वञ्च सिद्धान्तितम्; नात्र तथा; इह तु प्रकृतव्यक्तिनामान्यपि श्रूयन्त एव मन्त्रेष्वपि, तत् किं ब्राह्मणवाक्येष्वपीति स्फुट मभ्युगतम्। तद्यथा—"कुरुङ्गो राजा बभूव; कुरुगमनाद् वा कुलगमनाद्वा (३ भा० २३७ पृ०)"–इति, "लिबुजा व्रततिर्भवति (३ भा० २५५ पृ०)"–इत्यादि च।

(२७) प्रमाणरूपतया ब्राह्मणवचनान्यपीह बहून्युद्धृतानि; तद्यथा—"षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्रा इति च ब्राह्मणं समासेन", "सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्रा इति च ब्राह्मणं विभागेन (२ भा० ४९० पृ०)"–इत्येवमादीनि।

(२८) प्रसङ्गसङ्गत्या बहूनां ब्राह्मणवचनानां चाटुकारवचनवत्त्वेनाप्रामाण्यञ्चेह दर्शितम्। तद्यथा—"बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति"–इति ३ भा० ४१९ पृ०।

(२९) वेदानां प्रामाण्यं तु हृदयेनैवाङ्गीकृत मासीत्तस्य खलु भगवतो यास्कस्य। अतएवोक्तम्—"आम्नाय वचनादहिंसा प्रतीयेत (२ भा० ११२ पृ०)"–इति, "आम्नायवचनादेतद् भवति (३ भा० ४१६ पृ०)"–इत्यादि च।

(३०) पौर्वतनीयानि विज्ञानानि चेह प्रसङ्गतः कतिचित् निदर्शितानि। तद्यथा—द्वितीये भागे १८१, १८५, १९२, १९५, २१५, २१७, २३०, २३३ (द्वि:), ३७८, ४०७, ४११, १३०, ४६२ (द्वि:) ४७४ पृष्ठेषु द्रष्टव्यानि; विशेषतः परिदर्शनादन्यान्यपि। एवं तृतीयचतुर्थभागयोरपि। वस्तुतो निरुक्तप्रणयनकाले हि विपश्चितां हृदयाः खलु वैज्ञानिकभावपूर्णा एवासन्; अतएव "दिवं जिन्वन्त्यग्नयः (३भा० ४१४पृ०)"—इत्येतादृशस्य विज्ञानगर्भवचनस्यापि निगदव्याख्यातत्व मुररीकृत्याव्याख्येयत्व मुक्तं यास्केनेति दिक्।

(३१) तदानीं प्रचलिताः सामाजिकव्यवहारकथास्वाख्याता इह प्रतीयन्ते क्वचित् क्वचित् प्रसङ्गतः। तद्यथा—"स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते, न पुंसः, पुंसोऽपीत्येके"—इति २ भा० २५६ पृ०। "देवरः कस्मात्? द्वितीयो वर उच्यते"—इति २ भा० ३१५ पृ०। एवमादयः। अपि मांसाहारस्य च तदासीदेव प्राशस्त्यम्। तथा चाह—"मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदतीति वा"—इति २भा० ३७८ पृ०। औरसभिन्नानां पुत्राणा मप्राशस्त्य मतीवेति च। तदाह—"अन्योदर्यो मनसापि न मन्तव्यो ममाय मिति (२भा० २५७पृ०)"—इत्यादि।

(३२) पापपुण्ययोस्तत्र बोध उपदिष्टो दिक्प्रदर्शनेन। तद्यथा—"न पापा मन्यामहे;—नाधनाः, न ज्वलनेन हीनाः; अस्त्यस्मासु ब्रह्मचर्य मध्ययनं तपो दानकर्म इत्यृषिरवोचत् (३ भा० २४७ पृ०)"—इति, "सप्त मर्यादाः कवयस्तक्षुः। तासा मेका मप्यधिगच्छन्नंहस्वान् भवति। स्तेयम्, तल्पारोहणम्, ब्रह्महत्याम्, भ्रूणहत्याम्, सुरापानम्, दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवाम्, पातके न्तोद्य मिति (३ भा० २५१ पृ०)"—इति, "ब्राह्मणाय बुभुक्षितायौदनं देहि, स्नातायानुलेपनम्, पिपासते पानीयम् (३भा० २७३ पृ०)"—इत्यादि। किञ्चेहोक्तं स्नातायानुलेपन मिति च चिन्तनीयम्।

(३३) प्रकृतिपुञ्जाना मेव चेह देवत्व मुररीकृतम्। तदत्र मत्कृता नैरुक्तदैवतसूची विशेषतः पर्य्यालोच्या।

(३४) देवतानां पुरुषाकारादिचिन्तनस्यातात्त्विकत्वेनोपन्यस्तम् "अथा-कारचिन्तनं देवतानाम्"–इत्येवमादिभिः ( ३ भा० ३३१—३४३ पृ० )।

(३५) ईश्वरज्ञान मिह द्विविधं प्रकटितम्। तद्यथा—"ईश्वरः सर्वेषां भूतानां गोपायितादित्यः"–इति, "ईश्वरः सर्वेषा मिन्द्रियाणां गोपायि-तात्मा"–इति च २ भा० ३०२ पृ०। वस्तुतस्त्वार्याणां सर्वथैव एकेश्वरवा-दित्वे एव तात्पर्यम्। अस्य हि परमात्मनो विशेषनामरूपाभावात् सर्व-रूपैः सर्वनामभिश्चोपास्यत्व मेवार्यसम्मतम्। अतएव यथाप्रयोजनं जड-स्याजडस्य च स्तुतिरुपपद्यते वेदे। तथाचाह्वाय मपि—"एक मात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुण मग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम्"–इति ३भा० ३९०पृ०।

(३६) पुरुषशब्दनिर्वचनावसरे औपनिषदं ब्रह्मज्ञान मपि वर्णितं किञ्चित्—"यस्मान्नापर मस्ति किञ्चित् (२भा० १६५पृ०)"–इत्यादिना। ततो "ब्रह्म स्वयम्भु (१९९ पृ०)"–इति च। अस्य टीका तु मूलसम्मता न वेति संशय एवास्माकम्।

(३७) एतद्द्वितीयपरिशिष्टे तु बहवो दार्शनिकभावा अपि देदीप्यन्ते। तद्यथा—"आकाशगुणः शब्दः"–इत्येवमादयः ( ४ भा० ३७० पृ० )।

(३८) तत्रापि साङ्ख्याना मादरातिशयो दृश्यते। "अथैष महानात्मा त्रिविधो भवति—सत्त्वं रजस्तम इति ( ४ भा० ३७० पृ० )"–इत्येव-मादयो द्रष्टव्याः।

(३९) पुनर्जन्मविवेकस्याख्यातः, तत्र च साङ्ख्ययोग मिति स्पष्ट मभि-हितम्। "मृतश्चाहं पुनर्जातः"–इत्यादि, "शुभाशुभं कर्म्मैतच्छरीरस्य प्रमाणम्"–इत्यन्तञ्च द्रष्टव्यम् ( ४ भा० ३७४ पृ० )।

(४०) तत्रैव शारीरिकतत्त्वानि च कानिचिदभ्युक्तानि। "अष्टोत्तरं सन्धिशतम् ( ४ भा० ३७५ पृ० )"–इत्येवमादीनि।

(४१) सपरिशिष्टञ्चैतन्निरुक्त मुपसंहृतं मोक्षविज्ञानात्मपरमपुरुषार्था-ख्यापनेनातिमधुरेणेति। तद्यथा—"सरूपतां सलोकता मश्नुते ( ४ भा०

४०५ पृ० )"–इति, "मृत्योर्मुक्षीय मा मृतात् ( ४ भा० ४१० पृ० )"–इति, "सैषा सर्वभूतजिज्ञासा, ब्रह्मणः सार्ष्टिं सरूपतां सलोकतां गमयति य एवं वेद (४ भा० ४१२ पृ०)"–इति च। तदित्थं सर्वेषा मेव वेदवेदाङ्गानां परमपुरुषार्थोपदेश एव चरम उद्देश्य इति सिद्धम्॥

---

( १२ )

"अयार्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्"–इति सायणीयप्रथमलक्षणलक्षितस्य, मूलात्मनिरुक्तस्य, वस्तुतो निघण्टुसमाम्नायस्य टीका येह सम्पादिता; किञ्च "एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्था यत्र निःशेषेणोच्यन्ते तन्निरुक्तम्"–इति सायणीयद्वितीयलक्षणलक्षितस्य, भाष्यात्मनिरुक्तस्य, वस्तुतो निघण्टुसमाम्नायभाष्यस्य या चेह टीका सम्पादिता; अनयोष्टीकयोः प्रणेतारौ क्रमात् देवराजयज्वा दुर्गाचार्यश्च। तयोरेव टीकाकृतोर्जीवितकालनिर्णयाय, प्रसङ्गतः पाण्डित्यादिवर्णनाय च यथाबोध मद्योत्सहे ।

तत्र, निघण्टुटीकाकारस्यास्य देवराजइतिसमाख्यादर्शनादेवोपलभ्यते रामानुजपरभविकत्वम् ; प्रपन्नामृतादिरामानुजसम्प्रदायीयग्रन्थालोचनतः स्फुटं ह्यवगम्यते प्रथमं रामानुजस्वामिन एवासन्नुपनामानि देवराजो देवमन्नाथो मन्नाथश्चेति ; ततः प्रभृत्येव लोके प्रचलिता देवराज इत्यादयः समाख्याश्च।

श्रीवैष्णवसम्प्रदायप्रवर्त्तकस्य तस्य रामानुजस्वामिन आविर्भावसमयस्त्वेवं प्रपन्नामृते—"शालिवाहशकाब्दानां तत्राष्टत्रिंशदुत्तरे। गते नवशते श्रीमान् यतिराजोऽजनि क्षितौ ॥"—इति (११५ अ०२७ श्लो०)। रामानुजस्वामिकर्त्तृकं यादवाद्रौ नारायणपुरनिर्म्माणं नारायणप्रतिष्ठापनं च द्वादशाधिकसहस्रशकाब्दातीते समभवदिति च तत्रैव। तथा हि—"शकाब्दे वर्षसाहस्रे गते तद्द्वादशाधिके। ततोऽब्दे बहुधानाख्ये पुष्ये मासि शुभे तदा ॥ शुक्लपक्षे चतुर्दश्यां सुप्रभावपुनर्वसौ। आविर्बभूव भग-

24

वान् तत्र नारायणो हरिः॥"—इति (४७ अ० २५, २६ श्लो०)। तदन्तर्द्धानप्रकारसमयौ च तत्रैव मुक्तौ—"गोविन्दाङ्के निधायाथ शिरः शेते महामनाः। आन्ध्रपूर्णस्य चोत्सङ्गे सम्प्रसार्याङ्घ्रिपङ्कजे॥ शिष्येषु तेषु सर्वेषु यतीन्द्रस्य जगद्गुरोः। भृगुवल्लीं ब्रह्मवल्लीं पठत्स्वपि महात्मसु॥ पराङ्कुशप्रबन्धादीन् प्रबन्ध मखिलं च तम्। वादकैर्वाद्यमानेषु वाद्येषु निखिलेषु च॥ संस्थाप्य पुरतः पश्यन् महापूर्णस्य पादुके। ध्यायन् हृदि सदा धीमान् यामुनार्याङ्घ्रिपङ्कजम्॥ शिरःकपालं निर्भिद्य ब्रह्मरन्ध्रेण योगिराट्। रामानुजो जगामाशु तद्विष्णोः परमं पदम्॥"—इति, "स विंशत्युत्तरशतं वत्सराणां भुवस्थले। + + +। वैकुण्ठ मगमच्छेषो लीलामानुषविग्रहः। माघशुक्लदशम्यान्तु मध्याह्ने मन्दवासरे॥"—इति च (६८, ११६ अ०२०—२४, ६२—६७ श्लो०)। प्रपन्नामृतोक्ते दीर्घायुष्ट्वे त्वस्त्येव संशयः; प्रायः सर्वेषा मेव स्वसम्प्रदायाचार्याणां तथोक्तेः (११० अ० द०)।

यच्चोक्तं रामानुजसम्प्रदायीयदेवराजाख्याप्रचलनात् पर मेव चलितं देवराजनामेत्यनुमानं नानृतं स्यात्, तर्हि स्थूलतः सम्भाव्यते—शालिवाहशकाब्दाना मन्यूनसपादद्वशशताब्दीगते, विक्रमाब्दानां सार्द्धैकादशशताब्दीगते, खीष्टाब्दानां चैकादशशताब्दीगते जातोऽयं देवराज इति।

तथेह नैघण्टुकनिर्वचने प्रमाणत्वेनोपन्यस्त मुवटकृतं च वेदभाष्यं दृश्यते बहुत्रैव। उवटेन तु स्वकृतमन्त्रभाष्यावसाने स्फुटं ज्ञापितस्तद्रचनाकालः—"मन्त्रभाष्य मिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति"—इति। राजस्थानेतिहासलेखकेन टड्-महोदयेन त्रयो भोजाः परिचायिताः। तत्र प्रथमस्य संवत् ६१४=५५७ खी०, द्वितीयस्य संवत् ७२२=६६५ खी०, अन्तिमस्य तु भोजस्य संवत् १०९२=१०३५ खी० राज्यारम्भकालो निर्णीतः। तदन्तिमभोजराज्यकाले एव प्रणीतं तत् मन्त्रभाष्य मिति स्वीकृतेऽपि न हि तद्राज्यारम्भकाले एव प्रणयन मुपगम्यते, नाप्यन्यूनार्द्धशताब्दी मन्तरा तदानीं कस्यचिदपि ग्रन्थस्य सर्वत्र प्रकृतिसम्भवः प्रामाण्यतया ग्रहणश्च भवेदिति तत्रान्यूनाष्टपञ्चाशदब्दा अपि योजनीयाः। तदेवं

११५०-संवत्समातः पर मेव प्रणीत मिदं नैघण्टुकव्याख्यानं देवराजेनेति च प्रतीयते ।

निघण्टुभाष्यरूपस्य यास्कीयनिरुक्तस्य ऋज्वर्थाभिधायाष्टीकायाः प्रणेता दुर्गाचार्यस्तु अस्मात् देवराजयज्वनो नूनं परभवः ; देवराजकृतायां नैघण्टुकव्याख्याननामटीकायां क्वापि दुर्गाचार्यस्य तद्ग्रन्थस्य वा नामोल्लेखादर्शनात् । अस्ति हि नैघण्टुकव्याख्यानभूमिकायां (१भा० ४, ५ पृ०) 'इदञ्च स्वमनीषिकया न क्रियते'—इत्यादिः, 'अतोऽस्माभिर्यथामति प्रदर्शितौ प्रतिपदनिर्वचननिगमौ विद्वांसो बुद्ध्या निरूप्य शुकभाषितवन्मनसि कुर्वन्तु'—इत्यन्तः, प्रमाणपारायणग्रन्थसन्दर्भः ; यदि नाम दुर्गाचार्यकृता मत्सम्पादिता 'ऋज्वर्था' निरुक्तवृत्तिरपि तस्य देवराजयज्वनः परिचिता स्यात्, तर्ह्यवश्यं तत्र तस्यापि स्मरणं गम्येत । ततो ग्रन्थमध्येऽपि बहूनां ग्रन्थानां ग्रन्थकृन्नाम्नां च समुल्लेखो विद्यते, विशेषतः स्कन्दस्वामिकृतस्य निरुक्तभाष्यस्य प्रमाणत्वेनोपन्यासः परिदृश्यते तत्र पदेपदे ; पर मेकत्रापि निन्दामुखेन च नैव स्मृतो लक्ष्यते दुर्गाचार्यस्तदीय एष ग्रन्थो वा । अतो निःसंशय मेवावगम्यते निघण्टुव्याख्याकारो यज्ववंशदीपो देवराजो नून मृज्वर्थरचयितुर्दुर्गाचार्यस्याग्रजन्मेति । किञ्च निघण्टुटीकायाम्,—'नैगमदेवताकाण्डगतानाञ्च पदानां भाष्यकारेण ( यास्केन ) निरुक्तानां स्कन्दस्वामिनां च तद्व्याख्यातानां प्रक्रिययोन्मीलितव्यम् ; बहुशस्तु नैघण्टुककाण्डनिर्वचनानन्तरं तदुन्मीलयितुञ्चाय मस्मत्परिश्रमः'—इति (१भा०४ पृ०) लेखात्, 'निगमदेवताकाण्डयोस्तु निर्वचनं भाष्यस्कन्दस्वामिभ्यां प्रदर्शितं विशदप्रत्ययाभावात् प्रक्रियां विशदीकृत्य क्रमेण व्याख्यायते । तत्र, निगमव्याख्यानानि यदत्रानुसंहितं तत् तत्रैव द्रष्टव्यम्'—इति (१ भा० ३७७ पृ०) नैगमकाण्डीयव्याख्यानोपक्रमवचनाच्च स्फुटं प्रतीयते देवराजीयैतट्टीकाप्रणयनकाले स्कन्दस्वामिकृता निरुक्तटीकैवासीत् सुप्रचलिता ; न तु दुर्गाचार्यकृतेयं मत्सम्पादितेति ।

अप्ययं दुर्गाचार्यः किल सर्ववेदभाष्यकृतः सायणात्तु प्राग्भवः ; न

हि सायणीयविस्पष्टभाष्यदर्शिनस्तथाविधं जटिलं निरुक्तोदाहृतमन्त्रव्याख्यानं युज्यते। यच्च दृश्यतेऽत्रैकत्र (२भा० २३४ पृ०) सायणीयरीत्या समुत्कृष्टं कृतं व्याख्यानम्, यथावदुद्धृत मेव तत् सायणेन स्वकीये ऋक्गवेदार्थप्रकाशे (ऋ० स० ७ ७. २६. १. सा० भा०); कण्ठरवेणोररीकृतञ्च तत्रैव—'एतस्या व्याख्यानं निरुक्तटीकाया उद्धृतम्'–इति। अतोऽद्य निःसंशय मेव वक्तुं शक्यते, सायणीयादृग्संहिताभाष्यात् प्राक् प्रणीतेयं दौर्गी निरुक्तवृत्तिरिति।

सायणाचार्यस्य तस्य परिचयस्तु तदीययज्ञतन्त्रसुधानिधिप्रभृतिग्रन्थभूमिकादितोऽभ्युपेयते। तद्यथा—"वंशे चान्द्रमसे तदन्वयनिधिः श्रीसङ्गमोऽभूत्। तस्मात् प्रादुरभूदभीष्टसुरभिः श्रीबुक्कपृथ्वीपतिः॥ हरिहरनिभो भूमौ कामदोहो जगत्याम्, हरिहरनरपालस्तस्य चाभूत् कनिष्ठः। + + + । तस्याभूदन्वयगुरुः सत्यसिद्धान्तदेशतः। सर्वज्ञः सायणाचार्यो मायणार्यतनूद्भवः॥ उपेन्द्रस्येव तस्यासीदिन्द्रः सुमनसां प्रियः। महाक्रतूनामाहर्त्ता माधवार्यसहोदरः॥"–इत्यादि। माधवार्यो माधवाचार्य इत्यभिन्नः। तेन स्वकृतव्यवहारमाधवादिग्रन्थभूमिकादौ स्वस्य बुक्कामात्यत्वं स्वकुलवर्णनं चोक्तं विशेषतः। तद्यथा व्यवहारमाधवे—"सत्यैकव्रतपालको द्विगुणधीस्त्र्यर्थी चतुर्वेदिता, पञ्चस्कन्धकृती षडन्वयदृढः सप्ताङ्गसर्वंसहः। अष्टव्यक्तिकलाधरो नवनिधिः पुष्यद्विशत्प्रत्ययः, स्मार्त्तोच्छ्रायधुरन्धरो विजयते श्रीबुक्कणः क्ष्मापतिः॥ इन्द्रस्याङ्गिरसो नलस्य सुमतिः ०——० यद्वत्तस्य विभोरभूत् कुलगुरुर्मन्त्री तथा माधवः॥ + + + ॥ श्रीमती जननी यस्य सुकीर्त्तिर्मायणः पिता। सायणो भोगनाथस्च मनोबुद्धी सहोदरौ॥ यस्य बौधायनं सूत्रं शाखा यस्य च याजुषी। भारद्वाजं कुलं यस्य सर्वज्ञः स हि माधवः॥"—इति।

तदेव मवगम्यते,—चन्द्रवंशीयस्य श्रीसङ्गमस्य नृपतेः कुलगुरुरासीत् मायणाचार्यः। तस्य राज्ञो बुक्कहरिहरौ पुत्रौ सुयोग्यौ बभूवतुः; मायणस्य च माधव-सायण-भोगनाथास्त्रयः पुत्रास्त्वासन्। तत्र ज्येष्ठस्य बुक्कस्य

गुरुरभूत् मायणस्य ज्येष्ठपुत्रो माधवः ; कनिष्ठस्य हरिहरस्य गुरुश्चासीत् मायणस्य मध्यमपुत्रो माधवानन्तरजातः सोदरः सायणः। सर्वकनिष्ठस्य भोगनाथस्य तु ताभ्यामल्पविद्यत्वात्, सर्वकनिष्ठत्वाद्वा बुक्कहरिहरयोर्गुरुत्वालाभादनाश्रयत्वात् नैवाभूत् तथा प्रसिद्धिः, यथा तज्ज्येष्ठयोर्माधवसायणयोः। माधवाचार्येण हि बुक्कराजसाहाय्यात् व्यवहारमाधवाधिकरणमालादयो ग्रन्थाः प्रणीताः, स्वानुजेन सायणेन च कारितानि वेदभाष्याणि सर्वाणि। सायणाचार्येण तु हरिहरराजसाहाय्यात् यज्ञतन्त्रसुधानिध्यादयः प्रणीताः। सर्वदर्शनसङ्ग्रहकारो माधवस्त्वन्य एव, निर्वचनानुक्रमण्यादिग्रन्थानाञ्च प्रणेता माधवोऽप्यन्यः, सामवेदीयविवरणग्रन्थकारश्च माधवो विभिन्न एव; तेषु 'वागीशाद्याः सुमनसः'—इत्यादि-मायणवंशीयमङ्गलाचरणादिदर्शनाभावादिभ्यः।

तदनयोर्माधवसायणयोराश्रयौ यौ बुक्कहरिहरौ राजानौ, तयोस्तु खी० १३४४-समाया मभूच्छासनारम्भ इति निर्णीत मद्यतनीयैरैतिहासिकैः प्राय एकमत्यैव। तथाच १४०० संवत्समातः परस्तादेव माधवाज्जातो सायणेन प्रणीतानि वेदभाष्याणीति च गम्यते स्फुटम्। दुर्गाचार्येण तु सायणीयभाष्यतः प्रागेव निरुक्तवृत्तिर्निरमायीति तु प्रतिपादितं पुरस्तात्। नैघण्टुकनिर्वचनरचयितायं देवराजस्तु ततोऽपि पूर्वतन इति च निरूपितं प्राक्। तदेवं संवत्कालतोऽत्यधिकसार्द्धत्रयोदशशताब्दीमध्ये एव समुत्पन्नोऽयं देवराज इत्यपि वक्तुं युज्यत एव।

तथा शुक्लयजुर्भाष्यप्रणेता महीधरमिश्रः खलु सायणमाधवयोरग्रज इत्यपि ध्रुवम्; महाराजजयचन्द्रप्रदत्तदानपत्रतो महीधरपौत्रस्य १२३२ संवत्समाया मवस्थित्युपलब्धेः। तथाहि तत्ताम्रशासनत एवेह किञ्चिदुद्धरामः—"यस्योपरिलिखितग्रामौ सजलस्थलौ सलोहलवणाकरौ समत्स्याकरौ सगर्त्तोषरौ सगिरिगहननिधानौ समधूकाम्रवनवाटिकाविटपतृणा + तिगोचरपर्यन्तौ सोर्द्धाधश्चतुराघाटविशुद्धौ स्वसीमापर्यन्तौ द्वात्रिंशदधिकद्वादशसंवत्सरे भाद्रे मासि शुक्लपक्षे त्रयोदश्यां तिथौ रविदिने

अङ्कतोऽपि संवत् १२३२ भाद्रसुदि १३ रवौ अद्येह श्रीमद्विजयवाराणस्यां गङ्गोदकेन स्नात्वा ०—० महापण्डितश्रीमहीधरपौत्राय महामिश्रपण्डित-श्रीहालेपुत्राय महापण्डितश्रीहृषिकेशशर्म्मणे ब्राह्मणाय ०—० प्रदत्तौ मया"—इत्यादि। मुद्रितञ्चैतत्पत्रं ताम्रफलकतः काशीविद्यासुधानिधौ (September, 1869.)। नन्वेवं महीधरीयप्रथममङ्गलाचरणवाक्यत एव यदवगम्यते माधवीयभाष्यस्य च ततः प्राचीनत्वं "भाष्यं विलोक्यौवटमाधवीयम्"—इति; अस्य का गतिरिति चेत्, अत्र वच्मि—देवराजेनापि दृष्टं प्राचीनतर मेव माधवीयभाष्यं तत्र प्रामाणिकत्वेनोपन्यस्तं महीधरेणेति। इह हि नैघण्टुकनिर्वचने उद्धृतानां माधवीयभाष्यवचनाना मेक मपि नोपलभ्यते सायणमाधवीयेऽस्मद्दृष्टभाष्ये; अत आसीदेव तदानीं तद्व्याख्यान्तरं माधवीयं नामेत्यत्रास्ति को विचार्य्यः। वाजसनेयिसंहिताभाष्ये यदवोचन्महीधरेण माधवस्त्वित्यादि (१२. ४५.), तदपि न सायणमाधवीयवचन मिति च ध्येयम्।

तदेवं १२३२-संवत्समायां स्थितस्य हृषीकेशस्य पितामहो महीधरः प्रायो द्वादशशताब्दीचतुर्थपादे (सं० ११७६—१२००) प्रणिनाय वेददीपं नाम शुक्लयजुर्भाष्य मित्यनुमानञ्च भवेन्नासङ्गतम्।

तस्मात् शुक्लयजुर्भाष्याच्च प्राचीन मिदं नैघण्टुककाण्डनिर्वचन मिति प्रतीयते; अत्रोल्लिखितभाष्यनामादिषु माहीधरस्यादर्शनात्। तथाच विक्रमाब्दाना मन्यूनसार्द्धैकादशशताब्यतीते द्वादशशताब्दीचतुर्थपादारम्भाच्च पूर्वं (सं०११५१—११७५) प्रणीत मिदं देवराजेन नैघण्टुककाण्डनिर्वचन मित्यस्माकम्॥

अथैतन्नैघण्टुककाण्डनिर्वचनभूमिकायाश्चतुर्थपञ्चमश्लोकतः (१ भा० १, २ पृ०) खल्वस्य पितामहो देवराजः, पिता च यज्ञेश्वरार्य इति व्यज्यते। ततश्चानुमीयते,— बभूव य एको यज्ववंशीयो विद्वान् यज्ञमूर्त्तिः, काले रामानुजशिष्यत्व मुपगतो देवराज इति प्रसिद्धः,—"ततो विद्वान् महान् कश्चित् यज्ञमूर्त्तिरिति श्रुतः। + + + शिष्यविद्यादिसम्पद्भिः

संयुक्तोऽप्रतिवैभवः । + । + आसाद्य रङ्गनगरं लक्ष्मणाय त मब्रवीत् । रामानुज ! मया सार्द्धं शास्त्रवादं कुरु स्वयम् ॥ + + + प्रणम्य लक्ष्मणार्यं च बद्धाञ्जलिपुटोऽब्रवीत् । त्वया जितोऽहं योगीन्द्र ! रक्ष मां शरणागतम् + + + ज्ञानपुत्रस्य मे चास्य यज्ञमूर्त्तेरिदं मुदा । + + + देवराजमुनिश्चेति नामान्तर मथाकरोत् ॥"—इत्यादिभिः प्रपन्नामृते पञ्चविंशषड्विंशाध्याययोर्वर्णितः, स एवास्य स्यात् पितामहः; किञ्च तत्रैव प्रपन्नग्रन्थे यज्ञेश्वरसंवादोऽप्यस्ति (२६ अ० १० श्लो०), स एव वास्य पितेति । पितामहपौत्रयोर्नामैक्यं यद्यपि भवितु मर्हत्येव विचारणीयम्; पर मेव मन्यत्रापि दृश्यत इति नासङ्गतम् । तद्यथा—अस्त्येको ग्रन्थो गुणरहस्याख्यः, तत्र न्यायमतानुसृतषट्पदार्थान्यतमो गुणो बोधितः सम्यक् । तस्य चैका टीका विश्रूयते गुणसारमञ्जरीति । तत्प्रणेता किल माधवदेवपौत्रो माधवदेव एव । तथाहि तद्ग्रन्थीयान्तिम मिदं वाक्यम्—"इति श्रीगोदावरीतटविराजमानधारापुरनिवासिमाधवदेवात्मजलक्ष्मीदेवसूनुकाशीनिवासिमाधवदेवेन गुणरहस्यप्रकाश-गुणसारमञ्जरी विश्वेश्वरप्रीतये कृता"—इति ।

अपि मङ्गलाचरणपञ्चमश्लोके 'रङ्गेशपुरीपर्यन्तग्रामवास्तव्यः'—इत्युक्तिदर्शनादवगम्यतेऽयं देवराजो दाक्षिणात्यः; अस्ति हि रङ्गेशपुरी त्रिशिरपल्लीप्रदेशे कावेर्याः शाखाद्वयेन वेष्टिता प्रसिद्धा; तस्या एवोपकण्ठे स वसति स्मेति । इय मेव रङ्गेशपुरी पुरा बभूव रामानुजादीनां श्रीवैष्णवानां प्रधानतो रङ्गभूमिः, तदत्राविर्भूतो देवराजो यज्ववंशजातोऽपि कथं न स्यात् विष्णुपदाश्रयः ? अत एव स्मृत मिह प्रसङ्गतस्तेन—'वाचं शौरिकथालापप्रसङ्गे पुनीमहे—इत्युक्तेः (८० पृ०)'—इति ।

किञ्च निरुक्त मिति प्रसिद्धे यास्कीये निघण्टुभाष्ये, स्कन्दस्वामिकृतायां तट्टीकायाञ्च यथा नैगमदैवतकाण्डपठितानि पदानि प्रत्येक मुपादाय निरुक्तानि दर्शितनिगमानि च, न तथा नैघण्टुकानि; अतो देवराजयज्वना नैगमदैवतपदानां व्याख्याने न तथा श्रमः कृतो यथा नैघण्टुक-

व्याख्याने; एतदेव प्रकटयितुं कृतं स्वग्रन्थनामकरणं 'नैघण्टुककाण्ड-निर्वचनम्'–इति। ध्वनितञ्चैतत् भूमिकायाम् (२ पृ० ७ पं०—४पृ० ४ पं०) स्फुट मिति ।

इह भूमिकायां 'स्कन्दस्वामि-भवस्वामि-गुहदेव-श्रीनिवास-माधवदेव उवटभट्ट-भास्करमिश्र-भरतस्वाम्यादि-विरचितानि वेदभाष्याणि'–इत्युक्तम्। तत्रादिपदात् हरदत्तमिश्रकृतस्य च वेदभाष्यस्य प्रामाण्यतयात्र ग्रहण मनुमीयते; ग्रन्थमध्येऽष्टसु स्थानेषु तद्व्याख्यानोद्धृतिदर्शनात्। अय मेव हरदत्तः पाणिनिवृत्तेः काशिकायाः टीकाकारोऽपि स्यात्। एतत्कृता वेदव्याख्या त्वस्माभिर्नाद्यापि दृष्टा, पर मापस्तम्बसूत्रवृत्तिस्तु विद्यत एव।

(१) स्कन्दस्वामी। अनेन वेदभाष्यं प्रणीतम्, निरुक्तस्यापि टीका कृता। तावुभावेव ग्रन्थौ नैघण्टुकनिर्वचनप्रणयनकालेऽस्यातां सुप्रचलितौ; नान्यथा तत्र तयोः प्रतिपद मेव संस्मरणं युज्येत। ऋज्वर्थाग्रथनसमये तु स्कन्द-स्वामिकृतं वेदभाष्य मासीन्न वेति को वदेत्, परं निरुक्तव्याख्यानं दुर्लभ मपि लभ्येतैवेति सम्भाव्यते; न हि कि मप्यालम्बन मन्तरैव निरुक्तव्याख्याने कृतकार्यता दुर्गाचार्यस्य गम्यते। इदानीन्तु तन्नैवोपलभ्यते। अय माचार्यः खलु रामानुजात् बहुपूर्वज एव स्यात्; रामानुजाभ्युदयात् बहुपूर्व मेवेह भारते स्कन्ददेवनामादिप्रचारश्रुतेः। प्रपन्नामृतेऽपि हि षट्त्रिंशा-ध्याये जगन्नाथक्षेत्रतः सुदूरे वेङ्कटाद्रौ कूर्म्मक्षेत्रम्, तत्र च 'स्वामिपुष्कर-णीतीरे स्कन्दं मत्वा तदाक्रमन्। स्कन्द मित्येव प्रेवास्ते वैष्णवा वेङ्कटेश्व-रम्॥'—इति वर्णितम्। तथा ६२७-शाकीयताम्रशासनतोऽपि प्रायो-ऽवगम्यते, भवेत्तच्छताब्दीज एवाय मिति। द्रष्टव्य मेतत् Bombay Braneh R. A. S. प्रकाशिते पत्रे (III. 208—1851.)।

(२) भवस्वामी। एतत्कृतभाष्यस्य किञ्चिदंशस्यापि दर्शनं नूनं सम्पन्नं देवराजस्येत्येव गम्यते भूमिकोक्तिपाठतः, परं ग्रन्थमध्ये न क्वापि भवस्वामि-वचन मुद्धृतं दृश्यते; ततस्तदानी मेव तद्भाष्यं विरलप्रचार मुपगत मिति प्रतीयत एव; इदानीन्तु नैव लभ्यते। तत्कृतोऽग्निष्टोमप्रयोगस्त्वद्यापि

क्वचित् क्वचिदस्त्येव। भट्टभास्करकृते आपस्तम्बसंहिताभाष्येऽप्यस्य नामस्मरणं लभ्यते। Burnell-महोदयेन तस्य खिष्टीयाष्टमशताब्द्यामिह स्थितिरनुमिता (Catalogue pp. 24—30.)।

(३) गुहदेवः। अयं खलु रामानुजस्वामितोऽप्यतीवपूर्वतनः, किमधिकेन वेदान्ताचार्यसम्प्रदायगुरुषु तृतीयः। तथाहि रामानुजशिष्यवरेण श्रीश्रीनिवासदासेन यतीन्द्रमतदीपिकारम्भे एव मुक्तम्,—'व्यास-बोधायन-गुहदेव-भारुचि-ब्रह्मानन्दि-द्रविडाचार्य-श्रीपराङ्कुशनाथ-यामुनमुनि-यतीश्वर-प्रभृतीनां मतानुसारेण'–इत्यादि। यतीश्वर इति रामानुजस्यैव समाख्यान्तरम्; प्रपन्नामृतप्रभृतिग्रन्थतस्तथैवोपलब्धेः। यामुनमुनिस्तु तत्पूर्वतनो वेदान्ताचार्यः, पराङ्कुशनाथस्तु ततोऽपि पूर्वतन इति च प्रपन्नामृतादिभ्य एव ज्ञायते। एतदीयवेदभाष्यात्, सम्भवतः खण्डितातीवजीर्णपुस्तकात् एक मेव पदव्याख्यान मुद्धृत मिह देवराजेन—'गरम् उदकं गिरन्ति गरगिरः'–इति (२० ए०)।

(४) उवटभट्टः। १०६२-संवत्समातः समनन्तर मेतेन मन्त्रभाष्यं प्रणीत मिति निरूपितं पुरस्तात्। टान्तनामसाम्यात् काव्यालङ्कारकर्तुः रुद्रटस्य समकालिकोऽय मित्येवं सम्भाविते‌ऽपि गम्यते प्रायस्तथैव; ११२५ संवत् समतीते काव्यालङ्कारटीकाप्रणयनावगमात्। तथाहि तत्समाप्तौ—"एवं रुद्रटकाव्यालङ्कृतिटीप्पनकविवचनात् पुण्यम्। यदवापि मया तस्यात्मनः परोपकृतिरतिभूयात्। + + +। पञ्चविंशतिसंयुक्तैरेकादशशमाशतैः। विक्रमात् समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम्"–इति। एतत्कृतं मन्त्रभाष्यं नाम शुक्लयजुःसंहिताव्याख्यानम्, ऋक्प्रातिशाख्यभाष्यम्, कात्यायनप्रातिशाख्यभाष्यं चेति ग्रन्थत्रय मुपलभ्यतेऽदुर्लभ मद्यापि।

(५) श्रीनिवासः। अय मेव श्रीमत्पूज्यपादस्य भगवतः शङ्कराचार्यस्य गुरुरासीदिति श्रुतं सत्यञ्चेत्, तत्समकालिकत्वात् सार्द्धाष्टशतसंवत्समाभ्यन्तरे एव स इमां भुव मलञ्चकारेति नूनम्। नैघण्टुकनिर्वचने षट्स्वेव स्थानेषु एतन्मत मुद्धृतं दृश्यते, ततश्चावगम्यते देवराजकाले एवैतत्कृतस्य

भाष्यस्याभवत् लुप्तकल्पतेति; तदेतर्हि तत्प्राप्तिः कथं सम्भावनैव ।

(६) माधवदेवः । दृश्यतेऽप्यप्येकं वेदव्याख्यानं विवरणं नाम; तस्य रचयिता बभूवैको माधवः; वेदार्थप्रकाशाख्यभाष्याणाञ्च कारयिता सायण-ज्येष्ठोऽप्येक आसीत् माधवः; ताविमावुभावेव माधवौ देवराजोल्लिखित-नाम-माधवादस्माद् विभिन्नावेव; नैघण्टुककाण्डनिर्वचने माधवीयेतिसमु-द्धृतानां व्याख्यावचनाना मेकस्यापि तत्र विवरणवेदार्थप्रकाशयोरदर्शनात् । Benfey-महोदयेन च सामार्चिकसम्पादनावसरे (खी० १८८४) साय-णीय मिति यदुद्धृतं क्वचित् क्वचित् किञ्चित् किञ्चित् पूर्वार्चिकव्याख्यानम्, तदपि नैव सायणमाधवीयं वेदार्थप्रकाशाख्य मपि तु विवरण मेव ।

अपि सायणज्येष्ठो माधवः खलु मायणपुत्रः; देवराजीयो माधवः किल वेङ्कटाचार्यतनयः; इहैव भूमिकायां 'श्रीवेङ्कटाचार्यतनयस्य माधवस्य भाष्यकृतौ'-इत्युक्तेः । वेङ्कटाचार्यौ च द्वौ प्रसिद्धौ । तत्र, यद्ययं 'शुल्व-मीमांसा'-कारः स्यात्, नूनं तर्ह्यासीत् हरिहरयोः समानभावेनैवोपासको ऽभेदधिषणः; तत्र तथैव मङ्गलाचरणादिदर्शनात् । तथाहि—

'पारावारात् प्रोद्धृते चन्द्रलक्ष्म्यौ, याभ्यां शश्वन्मौलिवक्षौ बुभूषे ।
सर्वैर्लोकैः पूजिते सङ्गृहीते, वन्दे देवौ वामदेवाच्युतौ तौ ॥ ५ ॥''–इत्यादि,

'—इति श्रीमदद्वैतविद्याचार्यस्य ०——० सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य ०——० श्रीवेङ्कटेश्वरदीक्षितस्य कृतिषु बौधायनशुल्वमीमांसायां प्रथमोऽध्यायः'–इत्येवमादि च । यद्ययं 'रहस्यत्रयसार'-कृत्, 'न्यासतिलक'-प्रणेता च स्यात्, नूनं तर्ह्यासीत् रामानुजमतानुगो भेदधिषणश्च; तत्र तत्र रामा-नुजमतस्यैव प्रतिपत्त्यवगमात्; न्यासतिलकस्य च व्याख्यानं रामानुज-शिष्येण श्रीश्रीनिवासदासेन सबहुमानकृत मिति दर्शनाच्च ।

यद्युच्येत,—शुल्वमीमांसारचयिता, न्यासतिलकादिप्रणेता चाभिन्न एवेति, तदप्युपपद्येतैव; दृश्यत एव हि शुल्वमीमांसाया अन्तवाक्ये यथा वेङ्कटाचार्यस्य विशेषणं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्येति, रहस्यत्रयसारस्यान्तेऽपि तथैव । तथाहि—'इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीम-

वेङ्कटेशस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु श्रीरहस्यत्रयसारः समाप्तः'—इति। वेङ्कटाचार्यः, वेङ्कटनाथः, वेङ्कटेशः, वेङ्कटेश्वरः, वेङ्कटदीक्षितश्चैक एव स्यात्; एकस्मिन्नेव ग्रन्थे वेङ्कटस्य तस्य बहुविधायाः समाख्यायाः व्यवहारदर्शनात्। वेङ्कट इति व्यङ्कट इति द्विधा लेखश्चोपगम्यतेऽत्र सर्वत्र।

ननु एकस्यैव अभेदवादित्वं भेदवादित्वं च कथ मुपपद्येतेति चेत्, न; कालान्तरतया मतपार्थक्यसम्भवात्। यावदासीत् सोऽभेदधिषणो यागभक्तश्च, तत्रैव प्रणिनाय शुल्वमीमांसादिकान्; यदा त्वभूत् रामानुजाभ्युदयवाताहतभेदधीः कैङ्कर्यव्रतः प्रपन्नः, तत एव विरचितवान् न्यासतिलकादिकानिति; अत्र किं मस्ति वैचित्र्यम्।

यद्येवं कल्पना नान्तता स्यात्, तर्ह्यवश्यं तत्पत्रो माधवदेवो नैघण्टुकव्याख्यानकृतो देवराजस्य प्रायः समकालिक एव भवेत्। तथा सति समकालिकव्यक्तिकृताद् ग्रन्थात् प्रामाण्यतया पुनःपुनः व्याख्यानाद्युद्धृतिर्देवराजस्यामानुषीत्येव स्वीकार्यम्। न च ग्रन्थस्यौत्कर्ष मेव तत्र वीज मिति वाच्यम्; तदीयपूर्वापरविरोधप्रदर्शनेन तदौत्कर्षाभावबोधनात्। तद्यथा—'मह्री मे अस्य ०—०इत्यत्र माधवस्य प्रथमभाष्यम्—+ + + मांस्त्वे अश्वनामैतत् + + +; अर्ध्नं मांस्वतो ०——० इत्यत्र माधवः—+ + + मांस्वतोर्वरुणस्य + + + इत्यभाषयत्; निरूपणीयम्'—इति (१५०पृ०)। अस्तु वा तत्तथैव; परं देवराजकृत मिदं निर्वचनं यथा लब्ध मस्माभिः; कथं नैवं लभ्यन्ते तत्समसामयिककृतानि भाष्यनामानुक्रमण्यादीनि? इत्यपि विचार्य मेव।

अस्मन्मते तु वेङ्कटाचार्यद्वयपक्ष एवाश्रयणीयः; तत्राग्रजः शुल्वमीमांसाकारो वेङ्कटाचार्यस्त्वासीत् मीमांसको दीक्षितश्च, रामानुजात्तु का कथा भगवच्छङ्कराचार्याच्च प्राग्भवो मुण्डनमिश्रादिसमसामयिकः सः; तद्ग्रन्थालोचनात्तथैव प्रतीतेः। तत्पुत्रेणैव माधवदेवेन वेदभाष्यादीनि प्रणीतानि। देवराजकाले स्थितान्यपि तानि साम्प्रतं विलुप्तान्येव वा।

माधवपुत्रेण विनायकेन कृतं कौषीतकीब्राह्मणभाष्यं तु क्वचित् क्वचित्

लभ्यत एव; परं स हि कौषीतकीब्राह्मणव्याख्याता विनायकोऽस्यैव माधवस्य पुत्र इत्यत्र तु नोपलभ्यते निःसंशयं मानम् । एवं विनायकशान्तिरितिप्रथिते क्षुद्रग्रन्थे सामगानां संहितातो ब्राह्मणाच्चाशीर्मन्त्राणां सङ्ग्रहः कृतो वर्त्तते । तस्य कर्त्ता विनायकस्स किमु स्यादस्यैव माधवस्य सूनुः ? तथा षड्गुरुशिष्यस्यैकं विनायक मन्यतमं गुरु माह । तथाहि—'नमः षड्गुरवे तुभ्यं नमोऽस्मद्गुरवेऽपि च । विनायकस्त्रिशूलाङ्को गोविन्दः सूर्य एव च । व्यासस्स शिवयोगी च ये षट् तेभ्यो नमः सदा'—इति। सोऽपि विनायकः किं मस्यैव माधवस्यात्मजः ? इमानीह विचार्याण्येव ।

(७) भास्करमिश्रः—भट्टः। बभूवैको ज्योतिषशास्त्रीयग्रन्थानां प्रणेतातिप्रसिद्धो भास्कराचार्यः । नायं सः; तस्य वेदविदांवरत्वेन प्रसिद्ध्यभावात् । वेदान्तशास्त्रीयप्रकरणग्रन्थविशेषस्य सिद्धान्तसिद्धाञ्जनस्य रत्नतूलिकाख्यायाष्टीकायाः प्रणेतापि बभूवैको वेङ्कटयज्वपुत्रो भास्करः; स चास्माद् विभिन्न एव तत्रैव हि दीक्षित इति दत्तस्वपरिचयो न तु मिश्र इति । वैदिकग्रन्थेषु एतर्हि सुदुर्लभाः त्रिकाण्डमण्डनाख्ययज्ञकारिकाः प्रशस्ताः, तासां प्रणेता बभूवापरो भास्करः; किञ्च वेदाङ्गच्छन्दःसूत्राणा मतिदुर्लभस्यात्युत्कृष्टस्य भाष्यराजाख्यस्य भाष्यस्य रचयिता च बभूवान्यो भास्करः । नून मनयोः कतरेणैव वेदभाष्यकारेण भवितव्यम् । न च त्रिकाण्डमण्डनकारो भाष्यराजकारस्याभिन्नः; तयोः पितृपरिचयभेदात् । तद्यथा—त्रिकाण्डमण्डनकारस्य भास्करस्यासीज्जनकस्तत्र परिचितः कुमारस्वामी; स एव वा स्यात् कुमारिलस्वामी; भाष्यराजकारस्य तु गम्भीरराजः । तदत्र गम्भीरराजसूनुना कृतं तद् वेदभाष्य मुत कुमारिलतनूजेनेति चिन्तिते कुमारिलात्मजेनैव कृतं वेदभाष्यं दृष्टं देवराजेनेति प्रतीयते; नैघण्टुककाण्डनिर्वचने पृषेतिपदव्याख्यानावसरे '—इति भट्टभास्करमिश्रः (१ भा० १६ पृ०)'—इत्येव मुल्लेखदर्शनात्; न हि गम्भीरराजसूनुर्भट्टः; अपि तु दीक्षित इत्येव परिचितस्तत्र भाष्यराजे; कुमारिलस्वामी तु भट्ट इति प्रसिद्ध एव मीमांसकानाम् । यदीद मनुमानं नान्टतं भवेत्, तर्हि

सार्द्धसप्तशतसंवत्समाभ्यन्तरजातस्य सुतरां श्रीमच्छङ्कराचार्यप्राग्भवस्य मीमांसावार्त्तिकप्रणेतुर्भट्टकुमारिलस्यैवाय मपत्यं भास्करमिश्रः। सायणतो ऽन्यूनचतुःशताब्दीपूर्वजोऽय मिति चानुमितं Burnell–महोदयेनापि ( Catalogue pp. 12—14. )। एतत्कृतं रुद्राध्यायमात्रस्य भाष्य मस्माभिर्दृष्टम्; परं कस्याप्येकस्य वेदस्य सम्पूर्णं भाष्यं नाद्याप्यस्माक मभवद् दृग्गोचरम्; आपस्तम्बसंहिताभाष्यं तु पूर्ण मेव प्राप्यत इति नः श्रुतमात्रम्।

(८) भरतस्वामी। एतत्कृतग्रन्थत एकत्रैक मेव क्षुद्रं निर्वचनवाक्य मुद्धृतं देवराजेन; ततोऽवगम्यते,—तदानी मेवैतत्कृतस्य सम्पूर्णस्य भाष्यस्यातिदुर्लभत्वम्; इदानीं तु नैवोपलब्धिसम्भावनापि। अतस्तस्यापि भरतस्वामिनः परिचयः सम्प्रत्यस्माक मज्ञेयकल्प एव। पर मस्ति क्वचित् पुस्तकालये छन्दोगारण्यकमात्रस्यैव तत्कृतं भाष्य मतिजीर्णं मिति च नः श्रुतम्। ६२७-शाकीयताम्रशासन मस्यापि कालनिर्णये स्यादा निदान मिति।

अथास्य व्याख्यानशैली त्वजटिलेति प्रशस्यैव विपश्चिताम्। परं पौराणिकमतप्रबलकालप्रभवत्वादस्य बहुत्रैव पौराणिकमतानुसृता अपि व्याख्याः दृश्यन्ते। तद्यथा—'पञ्चाशत्कोटियोजनविस्तीर्णेति पृथिवी (१२पृ०)'–इति, पर्वतोऽपि पक्षच्छेदात् पूर्व मन्तरिक्षे व्रजति स्म (६४पृ०)'-इति, पक्षच्छेदात् पूर्वं पर्वतस्य (६६पृ०)'–इति, 'उभयत्रापि छेद्यच्छेदकभावेन सम्बन्धः ०——० तेषा मिन्द्रः पक्षानच्छिनत् (६७पृ०)'–इति,'पिनाकम् ०——० दण्डाकारं धनुरुच्यते; तच्च रूढितो महादेवीय मेव सामान्येन (३८५पृ०)' –इति च। नैरुक्तविज्ञानभावावगमे चासमर्थ एवासीत् स इति च गम्यतेऽत्रानेकत्र। तथाहि—'विद्वत्त्वं ज्योतिषः शीतत्वात् ह्रासवृद्धिभ्यां वा (४२०पृ०)'–इत्येवमादीनि समालोच्यानि।

नैरुक्तशासनात्तस्य बहुत्र ज्ञाननेत्रोन्मीलन मपि प्रतीयतेऽत्र। तद्यथा— 'यमः = मध्यस्थानवायुः (४७८पृ०)'–इति, 'यमः ०—० = अस्तमयावस्थ

आदित्य उच्यते (४६४पृ०)'–इति, 'विष्णुः—तीव्ररश्मिद्वारेण सर्वत्र व्याविशति (४६३)'–इति, 'अदितिः ०—०—ऐतिहासिकानां मते देवमाता, नैरुक्तानां मते अदीनादिगुणा, आत्मपक्षे प्रकृतिः (४०१पृ०)'–इति च । 'पञ्चजनाः'–इतिपदस्य व्याख्यानावसरे शूद्रस्य यज्ञाधिकारित्वं च विचारित मतिसुन्दरम् (१८५—१८७ पृ०) । 'यत्रैकार्थानां पदानां सन्निपातः, तत्रैकं तस्य वाचकं भवति ; अन्येषां निरुक्त्या योजनं कर्त्तव्य मिति मर्यादा (१२ पृ० )'–इत्यादिर्व्याख्योपदेशस्तु तस्य नूनं मूल्यवानेव । 'रलयोरभेदः (१३पृ०)'–इति, 'डलयोरैकत्वस्मरणात् (१४पृ०)'–इति, 'बवयोरभेदः (४५७पृ०)'–इत्येवमादयस्तु तत्प्रदर्शितविधय उणादिपदसाधने भवन्त्येव बहुत्र सहायकाः ।

निघण्टुसमाम्नायविरुद्धा अपि भवन्ति पदपाठा इति चेह ध्वनितम् । तद्यथा—'सतीकम् ०——० अत्र स-शब्दे अवग्रहकरणं पदकाराणा मभिप्रायस्य वैचित्र्यात् (११८पृ०)'–इति । अस्मन्मते तु सतीक मित्यस्य तथैव निर्वचनं कार्य्यम्, यतो नैव विरुध्येत 'स । तीकम्'–इति पदग्रन्थः ; तस्यापि संहितावत्त्वेन व्यपदेशात् तद्विरोधस्यानुपेक्षणीयत्वात् । वस्तुतो 'सृतीकम्'–इत्येव नैघण्टुकम्; न पुनः सतीक मिति । एवं हिक मित्यादेर्निर्वचनावसरे (३२६पृ०)'–यदुक्त मेते निपाता इत्येव, तदपि पदग्रन्थविरोधान्निन्दनीय मेव । तत्र त्वस्मन्मते 'एते नव निपातसमुदायाः' –इत्येव वक्तुं युक्तम् ; अन्यत्राप्येवं समुदितपदद्वयस्य पदत्वेन परिगणनं दृश्यत एव हि निघण्टाविति । सायणाचार्यस्तु ऋग्भाष्यादौ हिक मित्यादीनां पदपाठरीत्यैव व्याख्यान मलिखत् ; न तु निर्वचनरीत्येति पश्यत्विदं स्वग्रन्थापमानं किल देवराजः ।

व्योमशब्दनिर्वचनावसरे त्वेकत्र पदग्रन्थमर्यादाभङ्गभिया उणादिसूत्रस्य यास्कीयनिर्वचनस्यापि ध्वनितोऽनादरः । तथाहि—"उणादौ तु ०—० वीयते तद्वायुना व्योम । तथाच निरुक्तम्—'योनिरन्तरिक्षं महानवयवः परिवीतो वायुना (२ भा० १८८ पृ०)'–इति । इदं निर्वचन

मेतत्पदकारयोः शाकल्यात्रेययोरनभिमतम्; वीत्यस्मिन् अवगृहीतत्वात्"—इति (२६पृ०)। वस्तुतो यास्केनापि पदकाराभिमत मेव निरुक्तं व्योम व्यवन मिति (४ भा० २२६पृ०); परिवीत इति तु नैव व्योमनिर्वचनम्, अपि संहितापद मेवेत्यतो भ्रम एवात्र लक्ष्यते देवराजस्य। अथवा उणादिसूत्रदूषणे एवास्य तात्पर्यं मिति सर्वं मनवद्यम्।

इहानेकत्र निगमस्यान्वेषणीयता च प्रतिपादिता स्वकण्ठरवेणैव। तथाच १७, २१ (३), २२, २३, २६, २८, २६, ३१, ३३, ३४, ३५, ४१ (२), ४५, ४६ (३), ४७ (२), ४८, ५६, ५७, ६१, ६२ (२), ६५, ६६ (२), ६७, ७१, ७८, ८३, ८४, ८६, ६० (२), ६४, ६५, १०४, १०६, १०७, ११० (२), ११२ (२), ११३ (२), ११४, ११५, ११६ (२), ११७, ११८, १२२ (२), १२३, १२४, १२५ (२), १२७, १२८ (३), १३५, १३६, १३७, १३८, १४० (२), १४८, १४६, १५१, १५७ (३), १६७, १६८ (२), १६६, १७३ (२), १८०, १८८ (२), १८६, १६१, १६४, १६६, २००, २१७, २१६ (३), २२१ (३), २२२, २२३, २३०, २३२, २३३ (४), २३४, २३५, २४०, २४६, २५६, २६३, २६६, २७०, २७४ (२), २७५, २७६, २७७, २८०, २८५, २८८, २६०, २६७ (३), ३०१, ३०२, ३०६, ३०७ (२), ३०६, ३१० (२), ३११, ३१५, ३१६, ३२१ (२), ३२२, ३२३ (२), ३२८, ३३०, ३४२, ३४४ (२), ३४५ (२), ३४८, ३४६ (२), ३५०, ३५१ (२), ३५६ (२), ३६०, ३६१ (३), ३६२, ३६३, ३६४, ३६६ (२), ३६८ (२), ३७२ (२), ३७३ (२), ३७४ (५) ३७५ (५), ३७६, ३६६, ४०६, ४११, ४४४ पृष्ठेषु द्रष्टव्यम्। नैव मन्वेषणीयत्वप्रतिपादनं दूषणीयं मन्यतेऽस्माभिः; 'न हि सर्वः सर्वं वेत्ति'—इति-प्रज्ञावत्सिद्धान्तात्, लुप्तशाखीयनिगमानां लाभासम्भवाच; परं यदत्र ब्राह्मणवादा अपि निगमा इति प्रदर्शिताः;—'वेकुरानामासि जुष्टा—इति निगमः'—इति (६५पृ०), 'दैव्याः शमितार आरभध्व मुत मनुष्याः—इति च (१७७पृ०)' —इत्यादयः। त इमे न रोचन्तेऽस्मभ्यम्; निघण्टुसमाम्नायस्य ब्राह्मण-

पूर्वभवत्वेन ब्राह्मणीयपदेषु लक्ष्यासम्भवात्, द्वादशाध्याय्यां निरुक्ते क्वापि तथाविधनिगमास्मरणाच्चेति दिक् ॥

अथ निरुक्तटीकाया ऋज्वर्थायाः प्रणेता दुर्गाचार्यस्तु नूनं निघण्टु-व्याख्यातुर्देवराजयज्वनोऽवरजः, सर्ववेदभाष्यकृतः सायणाचार्याच्च पूर्वजः—इति तु प्रतिपादित मेव पुरस्तात्; सम्प्रति सम्भाव्यते,—सोऽपि दाक्षिणात्य एव भवितु मर्हति; तत्र नैसर्गिकगौडविद्वेषदुर्गन्धोपलब्धेः । तथाहि—"वन्दनाः=वन्दितारः, लाडगौडादयः"—इत्यादि (२ भा० ४५८ पृ०)। सायणाचार्योऽपि दाक्षिणात्य एव, परं न स दुर्गाचार्य इवापरिमार्जित-रुचिः; तेन हि वेदार्थप्रकाशे 'वन्दना'—इति पदस्य 'वन्दनानि, रक्षांसि'—इति व्याख्यान मकारि । नन्वेवं ऋज्वर्थायाः परिच्छेदान्तेषु दृश्यमानस्य 'जम्बूमार्गाश्रमवासिनः'—इतिविशेषणस्य का गतिरिति चेत्, अत्र वच्मि—दक्षिणापथीयप्रदेशेभ्यो जम्बूदेशं गन्तुं प्रस्थितानां पान्थानां मार्गे एव स्थितस्तदाश्रमः, तत एव तत्र तथा विशेषण मुपपद्येतेति; न ह्येतेन तस्य दाक्षिणात्यत्वं निरस्यते ।

ऋज्वर्थायां निघण्टुनिरुक्तयोः कर्त्तृपार्थक्यं सुप्रतिपादितम् । तथाहि—"एतस्मिन् मन्त्रे 'अकूपारस्य दावने'—इत्यत्र अनयोः पदयोरनुक्रमः, समाम्नाये पुनः 'दावने अकूपारस्य'—इति मन्त्रपाठव्यतिक्रमेणानुक्रमः । तेन ज्ञायतेऽन्यैरेवात्र ऋषिभिः समाम्नायः समाम्नातः, अन्य एव चायं भाष्यकार इति (२ भा० ४३६ पृ०)"—इत्यादि । वाय्विन्द्रयोर्भिन्नाभिन्न-त्वविचारोऽप्यत्र दर्शनीयः । तद्यथा—"वायुर्वेन्द्रो वेति किं मेकस्य पर्यायवचनावेतौ शब्दौ उताभिधेयौ भिद्येते ?"—इत्यादिः (३ भा० ३२३ पृ०) । तत्रैव "कस्मात् पुनर्मध्यमस्य शब्दद्वयेनोपदेशः क्रियते, पार्थिवोत्तमयोरेकैकेन ? (३२५ पृ०)—"इति विचारोऽपि भवेदेव प्रेक्षावता मभिधेयवचनः । "पात्रस्य इन्द्रपान मिति समाख्या (३ भा० ४४५ पृ०)"—इत्येवमादि व्याख्यानञ्च दुर्गाचार्यस्य तस्य याज्ञिकत्व मावे-दयति । "तासु तनूनपादेवैकः + + + नास्त्येव नराशंसः; तत्र

नराशंसयाजिनां सौत्रामणीप्रयोगे कथं प्रयोगः ? (३ भा० ५०३ पृ०)"—इति तत्प्रश्नोद्भावन मपि प्रशस्य मेव। "आथर्वणे रोदसीत्यप्रगृह्यं पदम्, तदपेक्ष्यैकवचनेन भाष्यकारो निराह 'रोदसी रुद्रस्य पत्नी'—इति (४ भा० ३३२ पृ०)"—एषापि पङ्क्तिरस्य बहुमूल्यैव। "सा च पुनर्व्याख्या (३ भा० ३७८ पृ०)"—इत्याद्यनुक्रमण्यार्थवचनञ्चास्य भवेदेव प्रशंसनीयम्। देवानां द्वैविध्यम् (४ भा० ३२२ पृ०), पितॄणां त्रैविध्यम् (४ भा० १९२ पृ०), देवयानपरिचयः (४ भा० ३७८ पृ०), मन्त्रेषु देवतानिर्णयप्रकारोपदेश-व्याख्यानं (३ भा० ३११ पृ०) चेत्येवमादिक मपीह द्रष्टव्य मेव।

परं मन्त्राणां छन्दोनिर्णये तु क्वचित् क्वचिदिह छन्दोऽनुक्रमणीविरोधः परिलक्ष्यते। तथाहि—'सं मा तपन्त्यभितः (ऋ० सं० १. ७. २१. ३.)'—इत्यस्या ऋचो निर्णीतं तेन पङ्क्तिश्छन्दः; अनुक्रमण्यां तूक्त मत्र—"पांक्त मन्त्या त्रिष्टुबष्टमी महाबृहती यवमध्या"—इति। एतदेव छन्दोऽनुक्रमणीमत मनुसृत्य सायणाचार्येण तु निर्णीत मियं यवमध्या महाबृहत्येवेति। तत्र हि मध्यपादस्य द्यक्षरन्यूनतैवैतादृशमतद्वैधे निदान मुपगम्यते। वस्तुतस्तु तादृशस्थले छन्दः सन्दिह्यत एव; प्रदर्शितायां हि ऋचो मध्यमः पादो दशाक्षरः श्रूयते, न च दशाक्षरमध्या द्विचत्वारिंशदक्षरा पञ्चपदा काचिदस्ति विशुद्धा बृहती पङ्क्तिर्वेति; अतो नूनं चिन्तनीय मेवैतस्या ऋचो विराड्-यवमध्या नाम महाबृहतीच्छन्दः उत स्वराट्-पथ्या नाम पङ्क्तिश्छन्दः? इति। ईदृक्सन्देहापनोदनायैव स्तः पिङ्गलाचार्यसूत्रे—"आदितः सन्दिग्धे, देवतादितश्च (६, २१. ७, १.)"—इति। एवञ्चास्या ऋचः पाङ्क्तसूक्तमध्यपतितत्वात् पङ्क्तित्व मेव न्यायः। न जाने कथ मनुक्रमणीकारोऽस्या महाबृहतीत्व माख्यदिति। क्वचित् मूलानुरोधतोऽपि ब्रह्मकृच्छन्दोऽनुक्रमणीविरोधो गलेकुठारन्यायेन स्वीकृत एव दुर्गाचार्येण। तद्यथा—"अभि न इला (५भा० २४२पृ०)"—इत्यस्य खण्डस्य वृत्तिर्मदीया टीप्पनी च (||) द्रष्टव्या। सायणाचार्येण तु ऋग्भाष्ये अनुक्रमण्यनुरोधतो नैरुक्तस्वरसोऽपि किमु दृणायितः? अपि वा नव तैन

तदानी मेष निरुक्तग्रन्थः स्मृतः ? अन्यथा ह्येतदुल्लेखोऽपि कथं न तत्र कृतस्तेन । वस्तुतोऽत्र निरुक्तानुक्रमणीकारयोः प्रतीयत एव मतभेदः, तत् किङ्कर्त्तव्यमूढ एवाभवता मिह देवराजः सायणश्च ।

दुर्गाचार्यदृष्टनिघण्टुसमाम्नायपुस्तकगतलिपिकरप्रमादादिदोषतस्त्र क्वचित् क्वचिद् भ्रान्तिः प्रतीयते ऋज्वर्थायाम् । तद्यथा—निघण्टौ नैगमे काण्डे जहेत्याद्यखण्डे समाम्नात मेवैकत्रिंशत्तमं 'नू च'–इति (१भा० ३८८पृ० १०पं०) ; तदवलम्बिनैवोक्तं भगवता यास्केन "पुराणनवयोर्नू चेति च"–इति (२भा० ४३०पृ०) ; निगमश्चोदाहृतस्तत्रैव "नू च पुरा च सदनं रयीणाम् (ऋ० सं० १. ७. ४. २.)"–इति । दुर्गाचार्यस्त्विहाह "अयन्तु नू चिदित्येतस्यैवार्थसामान्यप्रसङ्गादसमाम्नात एवोदाहृतः (४३५ पृ०)"–इति । किञ्चात्रत्ययास्कीयग्रन्थः पदपाठविरुद्ध इव लक्ष्यते । पदकारा हि 'नू । चित्', 'नू । च'–इत्येव मवगृह्णन्ति ; निरुक्ते तु 'नूचित्' –इति, 'नूच'–इति चैतौ अनवग्रहणीयावेव निपातौ सूचिताविति गम्यते । निघण्टुसमाम्नाये तु द्विचाण्यपि पदानि पदत्वेन परिगणितानि दृश्यन्ते "शं योः (४. १. ४८.), सोमो अक्षाः (४. २. १३.)", देवो देवाच्या कृपा (४. ३. ३९.)"–इत्यादीनि । तथा चैवंविधसन्देहनिरसनाय तादृशसमाम्नायपाठदर्शनञ्चाकिञ्चित्कर मेव । तदत्र टीकाकृतोऽत्र वचन मेव भवेच्छरण मस्मादृशाम् ; दौर्भाग्य मेवास्माकं यदिह ऋज्वर्थाकृतो नैवौष्ठाधरप्रस्फुरणं दृश्यते ! अहह एष विरोधः किमु तेन नैव लक्षितः ? दशमेऽपि पुनः नूचिदित्यस्यैव 'नवं च पुराणं च'–इत्यर्थः कृतो यास्केनेत्याह स एव स्फुटम्,—"नूचित्–इति नवपुराणाभिधायको निपातः (४भा० ७२पृ०)"–इति । तत्रापि नैव दृष्टस्तेन तत्पदग्रन्थः ? सायणाचार्येण तु तत्र नूचिदित्यस्य नवपुराणार्थतापि न स्वीकृता ! इद मेवोच्यते 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः'–इति । तत्त्वतः सायणाचार्यकृतं तद्व्याख्यानं तु निरुक्तविरुद्धं पदग्रन्थविरुद्ध मिव च प्रतीयत एव ।

क्वचिदिह मूलादृष्टपदस्यापि व्याख्यानं कृतं गम्यते । तद्यथा—'सह-

खिणः'—इत्यादिः, 'वायव्ये मन्त्रे'—इत्यन्तो ग्रन्थः (४भा० ४८७पृ०) समालोच्यः। तदेवंविधं स्वकपोलकल्पितपदव्याख्यानं चातीव विस्मयावहम्।

क्वचित्तु मूलपाठेऽपि स्वसंशयः प्रकाशितोऽनेन। तद्यथा—'भाष्य मत्र' —इत्यादि (३ भा० २७७ पृ०)। तत्र तादृशाशङ्काया निदानोल्लेखस्योचितस्तस्य; नान्यथा हि ग्रस्तवक्तव्यतादोषो भवेत् सुपरिहार्यः। अस्माकं त्वल्पधियां न तत्रासम्यक्ताबोध उपजायते। सायणाचार्येणाप्येतदेव नैरुक्तं व्याख्यान मुत्कृष्टं मत्त्वैव प्रशंसापूर्वकं सम्पूर्णं मुद्धृतं यथायथ मृग्वेदार्थप्रकाशे। तत् कथं मन्यामहे दुर्गाचार्यस्यैष नैरुक्तपाठसंशयो नूनं धीमतां विचारविषय इति।

मूलोक्तलक्षणाना मुदाहरणेषु समन्वयाः खलु टीकाकृद्भिरवश्यं दर्शनीयाः; पर मिहानेकत्र न तथा दर्शिता दुर्गाचार्येण; ततोऽत्र बङ्कवैव भवेत् लक्षणसमन्वयसंशयस्य दुष्परिहार्यता च। तद्यथा—परोक्षकृताना मृचां यल्लक्षण मभिहितं मूले "परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य (३ भा० ३८५ पृ०)"—इति; एतस्योदाहरणान्यपि दर्शितानि तत्रैव "इन्द्रो दिव (३८६ पृ०)—इत्यादीनि; पर मुदाहृतेषु तेषु परोक्षकृतनिगमेषु न हि श्रूयन्ते सर्वा एव प्रथमपुरुषक्रियाः; प्रत्युत 'अनूषत', 'गायत', 'अर्यंसत'—इति तिस्रो मध्यमपुरुषक्रियाश्च। तदिह कथं भवेल्लक्षणसमन्वयः ? इतीह वृत्तिकृतोद्भावनीय मेव। न च तथोद्भावितं दुर्गाचार्येण। किञ्च 'अनूषत'—इत्यस्य अभिष्टुतेति प्रतिशब्ददानं, तदनुगतं सर्वं तन्मन्त्रव्याख्यानं च तस्य व्याख्यापयश एवोद्भावयति। सायणभाष्ये तु 'अनूषत'—इत्यस्य स्तुतवन्त इति प्रतिशब्दः प्रदत्तः, तथा न चोपलभ्यते तत्र यूय मिति, स्फुट मप्युक्तं तत्साधनिकायां 'लुङि व्यत्ययेनात्मनेपदं झस्यादादेशः'—इति। अहो इहैतदपि विचार्यम्—अस्त्वेकस्यैवास्य दुर्गाचार्यस्य व्याख्याने दोषः, परं सर्ववेदभाष्यकारेण सायणेनापि 'गायत'—इत्यस्य व्याख्यायां कथं न यास्कीयलक्षणोदाहरणमर्यादा परिरक्षिता ? गड्डलिकाप्रवाह एव किं मत्र वीज मिति।

'एष चाख्यानसमयः'—इत्येतन्नैरुक्तवचनस्य (२ भा० ३४२ पृ०) दुर्गाचार्यकृतव्याख्यानदर्शनाद् गम्यते नून मेतत्प्रचलितं महाभारतं निरुक्ताच्च पुरैव प्रणीत मिति ; तदेतादृशव्याख्यानं तु पौर्वापर्यज्ञानविधुरेणैव कृत मिति कालज्ञानकृतभ्रमाणा मैतिहासिकानां भवेद्धास्यास्पद मेव। एव मन्यत्रापि बहुत्रैव विद्यते स्फुटम्।

क्वचिद्विशेषतो व्याख्येयानि मूलवचनानि च नैव व्याख्यातान्येतेनाचार्येण ; अमार्जनीय एवैष दोषो व्याख्यातॄणाम्। अतः स च मयोद्घोषितो बहुत्र टीप्पन्याम्। तद्यथा—२ भा० ३४५ पृ०*, ३॥३ पृ०*, ३६१ पृ०* इत्यादि। किञ्च यदिहानेकत्रोक्तं भगवता यास्केन "—इति सा निगदव्याख्याता"—इति (२ भा० ४१४ पृ०, ४ भा० ७, १०, २५, ३२, ५३, ६२, १०३, ११८, १६४, १७४, २३७, २५० पृ०), तेषां सर्वेषा मेव निगमानां विशेषतो व्याख्यानानि कर्त्तव्यान्येव वृत्तिकृताऽस्य। अहो वत, तादृशानां व्याख्या-कथा तु दूरे आस्ताम्, असकृदुक्तस्य निगदव्याख्यातेति पदस्यापि व्याख्यानं न कृतं तेन क्वचिदपि ! वस्तुतस्तु यास्ककाले यासा मृचा मर्थबोध आसीदतीव सुगमः, तासां व्याख्यानं निष्प्रयोजन मिति मत्त्वैवाह तत्र तत्र यास्को निगदव्याख्यातेति। श्रूयन्ते चैवं निगदव्याख्याता मन्त्रास्तैत्तिरीयारण्यकादावपि। तथाहि—"अथ निगदव्याख्याताः।ताननुक्रमिष्यामः"—इति तै० आ० १ प्र० ६ अनु० ४ ख०। 'निगद्यमानेनैव मन्त्रपाठेनैव + + + विस्पष्ट माख्यातो भवति, तान् एतान् मन्त्रान् अनुक्रमेण कथयिष्यामः'—इति च तत्र तद्भाष्यं सायणीयम्।

क्वचिदहो त्रैकालिकाभावविशिष्टस्य मन्त्रकमलस्यापि सुगन्धोऽवापि तेन; दृष्टञ्च क्वचिन्निराकार मपि साकारम्। अतिगम्भीरमूलजलधौ दिग्भ्रम एव तत्र तत्र तद्वीज मनुमीयते ; नान्यत् कि मपि। तद्यथा—२ भा० ४४२ पृ०२—६ पङ्क्तयो द्रष्टव्याः।

क्वचित् पदग्रन्थविरोध मुररीकृत्य च कृतं नैरुक्तनिगमव्याख्यान मेतेनातिपण्डितम्मन्येन। तद्यथा—वराहनिगमव्याख्यानावसरे लिपेरूप मिद

मिति मत्त्वैवोक्तम्—'त्वेषितः = सन्दीपितः'—इति (३भा० २९ पृ०)। पद-संहितायां तु 'त्वाऽइषितः'-इति सावग्रहपाठः श्रूयते। तथाचावगम्यते बह्वृक्पदकारस्य शाकल्यस्यर्षेर्नात्र त्विषेरूप मिष्ट मिति। एवञ्चानयो-र्विरोधः स्फुटम्। नून मवगतश्चैष विरोधस्तेनापि वेदार्थपटुना ; अत एवानुपद मुक्तम्—'नान्यथार्थ उपपद्यते'—इति। 'अन्यथा' पदकारनये 'त्वाऽइषितः'—इत्यवग्रहानुरोधतः त्विषेरूप मिद मिति स्वीकाराभावे इति च तद्भावः। एतच्च प्रौढ़िवादमात्रम् ; सायणाचार्येण तु पदकारमत मनुसृत्य कृत एव हि त्वेषित इति पदस्य 'त्वया प्रेरितः'—इत्यय मर्थोऽसकृत्। वस्तुतोऽस्माभिः सर्वत्र तथैवार्थः कल्पनीयो यथा न विरुध्येत पदपाठः! आर्षं पदपाठ मवमत्यार्थकरणन्तु साहस मेवेत्यत्र कास्ति वक्तव्यता।

एव मनुक्रमणीकारस्य शौनकस्य, कल्पकारस्याश्वलायनस्य च मतविरुद्ध मिह प्रतीकोपादान मपि लक्ष्यते। तद्यथा—आचष्ट आसा मिति निरुक्तोदाहृतनिगमस्य व्याख्यानाय अभि वो देवी मिति प्रतीकोपादानं तद्व्याख्यानं च द्रष्टव्यं मत्कृतया टीप्पन्या सहैव (३ भा० १६८ पृ०, †)।

स्वस्य वैज्ञानिकज्ञानाभावोऽपि द्योतितोऽत्र बहुत्र। तद्यथा--'वि-कृतज्योतिष्कः'—इतिनैरुक्तपदस्य व्याख्यान मुक्तम्—"तद्धि तस्य विकृतं ज्योतिः, शीतत्वात् ; इतराणि उष्णानि ज्योतींषि सूर्यादीनि, तान्यपेक्ष्य (३ भा० ९९ पृ०)"—इति। स्वभावस्यान्यथाभाव एवोच्यते विकारो नाम लोके; तद्यदि हि पूर्व मुष्ण मनन्तरं चन्द्रमः-सम्बन्धात् शीत मिति स्याद् विज्ञानवेद्यं चान्द्रमसं ज्योतिः, तर्ह्येवोपपद्येत चन्द्रवाचकस्य 'वृकः' —इतिपदस्य यास्कीयं निर्वचनं 'विकृतज्योतिष्कः'—इति। स्वभावशीतस्य तु विकृतत्व मेव किन्नामेति संशयोऽपि नोद्भूतः किमु दुर्गाचार्यस्य ?।

एवं यदा पौराणिकाख्यानघनघटाभिराच्छन्नं वैदिकं ज्योतिः, तादृशे एव निविड़ान्धकारग्रस्ते भारते यतोऽयं जातो दुर्गाचार्यः, ततोऽपीह ऋज्वर्थायां मूलाभिप्रायविरुद्धानि मूलासम्बद्धानि च बहून्याख्यानानि दृश्यन्ते। तत्र, मूलाभिप्रायविरुद्धं यथा—"एव मुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां

मन्त्रदृष्टयो भवन्ति"–इतिनैरुक्तस्य व्याख्यानप्रसंगे "मन्त्राणां द्रष्टारो भवन्ति, न तु कर्त्तार इत्यभिप्रायः (२ भा० ३०६ पृ०)"–इति। न चाय मभिप्रायो मूलक्रुतो यास्कस्येति गम्यते। तत्त्वतस्तु अनिर्दिष्टकालिकाना मतिप्राचीनानां ग्रन्थादीनां दृष्ट इति, युगारम्भकालिकानां प्राचीनानां प्रोक्त इति, मध्यकालिकाना मनतिप्राचीनाना मद्यतनीयानाञ्च कृत इति व्यवहारः समार्थ एव। मूलासम्बद्धानि च यथा—"सप्त सिन्धून्, स्यन्दना आकाशनदीः, एला च इला चेत्येवमाद्याः (२ भा० ४४३ पृ०)"–इति। किञ्च "समारोहणे = उदयगिरौ"–इत्यादि (४ भा० १०२ पृ०) व्याख्यानन्तु ततोऽप्यधिकं विचित्रम्; तथा "इह कथं चन्द्रमा मध्यस्थानः?"–इति स्वारब्धविचारस्य समाधान मपि (४ भा० १७२ पृ०)।

एवमपि यास्कीयवचनव्याख्यानानुरोधात् तस्य बह्वचावितथवादित्व मपीह व्यज्यते। तद्यथा देवताना माकारविचारप्रकरणे–"तदाहुः 'नैतदस्ति यद्देवासुरम्'–इति। × × × 'तद्यथा—अग्निः, वायुः, आदित्यः, पृथिवी, चन्द्रमाः–इति'। प्रत्यक्षत एतान्यपुरुषप्रकाराणि, इत्येतेषा मतोऽन्यथाभ्युपगमे दृष्टहानिः स्यात्! न चैतदिष्टम्। तस्मादपुरुषविधा अग्न्यादयः, तत्सामान्याददृष्टा इन्द्रादयोऽप्यपुरुषविधाः, न हि मनुष्यत्वे तुल्ये केचिदाकारिणः केचिदनाकारिणः इति, तथैव देवताना मपीह न्यायः। तस्मादपुरुषविधा इति (२ भा० ३३६ पृ०)"–इति। एतेन अग्न्याद्यन्तःपुरुषरूपकल्पन मप्यपास्त मिति स्फुटम्। एवं भगवता यास्केन पृथिव्याः वहिःप्रभाशून्यत्वं वर्णितम्—"अपगतभास मपहृतभास मन्तर्हितभासं गतभासं वा (२ भा० २७८)"–इति। ततश्च दुर्गाचार्येण कृष्णच्छाया भवति पृथिवीत्यवगतम् (२ भा० २८० पृ०)। तत एव पौराणिकवर्णितं राहोर्ग्रासे सूर्यस्य ग्रहण मित्यपि तस्याभूद्वा विदितम्।

परमन्तःसारशून्यो वंशतरुश्चन्दनवनस्थोऽपि न कथ मपि चन्दनायते! दुर्गाचार्यः खलु देवताना मपुरुषविधत्वं व्याख्यायाप्यनुपद मनुससारैव पौराणिकमतम् "परे तु (२ भा० ३४२ पृ०)"–इत्यादिना। अहो काल

प्रभावजो मतिविभ्रमः ! वेदाङ्गग्रन्थकर्त्तुर्भगवतो यास्कस्यापि मतं खर्वीकर्त्तुं मिच्छत्ययम् !! एव मगस्यजन्मव्याख्यानादावपि पौराणिकाख्यान मेवानुसृतम् ; न तु तत्त्वं व्याख्यात मेतेन ।

क्वचिदिह व्याकरणप्रक्रियाख्यान मप्यपरिस्फुटम् । तद्यथा—'अस्मे'—इति नैगमपदव्याख्यानायोक्तो भगवता यास्केन 'अस्मे ते बन्धुः'—इत्यादिः खण्डः । तत्र अस्मच्छब्दात् प्रथमादीनां सर्वासा मेव विभक्तीनां बहुवचनानां 'जस्-शस्-भिस्-भ्यस्-भ्यस्-आम्-सुप्'—इत्येतेषां स्थाने "सुपां सुलुक्-पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः"—इति (७. १. ३९) पाणिनीयेन सूत्रेण शे-आदेश एवेष्टः । तथाच 'अस्मे'—इत्येकस्यैव पदस्य वयम्, अस्मान्, अस्माभिः, अस्मभ्यम्, अस्मत्, अस्माकम्, अस्मासु—इति सप्तविधा एवार्था भवितु मर्हन्ति, भवन्ति च यथास्थानं यथानुगम मित्येव मूलतात्पर्यम् । परं दुर्गाचार्येण लेषा वैयकरणप्रक्रिया नैव तत्र कण्ठरवेणोद्घोषिता ; अपि तूक्तं " 'अस्मे'—इत्यस्य 'वयम्'—इत्येवम्प्रथमया विपरिणाम उपपद्यते"—इत्येवमादि (३ भा० १६३—१६७ पृ०) ।

क्वचिच्चेह पाठकस्वामिकोक्तिस्त्र लक्ष्यते । तद्यथा—'इह तूत्तमः (४ भा० ३०२ पृ०)'--इत्युक्तिर्भ्रामयत्येव पाठकान् मध्यमस्याप्यन्वेषणाय ।

क्वचित्तस्य नामविभ्रमावर्त्तमग्नता च परिदृश्यते, या खल्विदानीन्तनाना मल्पधियां तु का कथा, आसीत् सर्वानुक्रमणीवृत्तिकारषड्गुरुशिष्यादेरपि । तद्यथा—"वसिष्ठस्येद मार्षम्, युष्मदस्त्वात्र प्रयोगः—'उतासि'—इति ; तदेतद्विरुद्धार्थ मुपलक्ष्यते ?"—इति (३ भा० ७८ पृ०) । अहो कोऽत्र विरोधः ? वसिष्ठस्य सहस्रतमपुरुषोऽपि हि किं नोच्येत वसिष्ठ इति ! वस्तुतो वसिष्ठ इति गोत्रनामैव ; न तु व्यक्तिनाम ; पुरासीत् गोत्रनामत एव प्रायः सर्वव्यवहारः ; यथाद्यापि दृश्यते यूरोपीयसभ्यानाम् ।

क्वचिदिह यास्कप्रदर्शितनिगमार्थस्य चान्वेषणीयतोपदिष्टा । तद्यथा—"दयमानोड्डीयमानः काकोऽन्तरिक्षेणाधस्तात् मां सुप्तं दोषाया मबोधयत् । मृग्योऽत्र शेषः (२भा० ४३५ पृ०)"—इति । नून मिह उक्ताति-

रिक्तास्यार्थस्यैव न्यग्यतोपदिश्यते ; तत्त्वनुचितं वृत्तिकृताम्। किञ्चात्र 'दयमानोड्डीयमानः'-इत्यशुद्धपाठस्तु स्याल्लेखकप्रमादज एव ; 'दयमान उड्डीयमानः'-इत्येवम्पाठेनैव भवितव्यम् ; पर मिह 'दोषायाम्'-इत्यपि पाठः किं लिपिकारप्रमादादेव सम्पन्नः ? न हि 'दोषा'-इत्यव्ययस्य युज्यते तथाविधं रूपम्।

निगमान्वेषणीयता तु बहुत्रैवोपदिष्टा। तद्यथा—"जामिशब्दस्य (अतिरेकार्थस्य) पर्य्येष्यो निगमः"—इति, ततः "एतस्य (वालिशार्थस्य) अपि पर्य्येष्यो निगमः"—इति च (२भा० ४६१ पृ०)। जामिशब्दस्यातिरेक-वालिशार्थयोर्मन्त्रात्मनिगमप्रदर्शने देवराजोऽप्यभवदसमर्थ इव (१ भा० ४००पृ०)। सायणभाष्यदर्शिनो वयन्त्वतिरेकवाचिनस्तस्य निगम मपि पश्याम एव—"जामि ब्रुवत आयुधम् (ऋ०सं० ५. ८. ६. ३.)"—इति। 'जामि, अतिरेकनामैतत्'-इत्यादि हि तत्र सायणीयं भाष्यम्।

वस्तुतस्तु नैघण्टुकव्याख्यान मेवास्यासीन्निगमसङ्ग्रहे मुख्य मवलम्बन मिति च प्रतीयते ; तत्र हि येषां पदानां निगमा नैव विद्यन्ते, इहापि न तेषां त उपलभ्यन्ते ; अपि तत्र खलु येषां पदानां ये च यथा च निगमाः प्रदर्शिता देवराजेन, प्रायस्त एव तथैवेह च दृश्यन्ते। तद्यथा—तत्र क्रोधनामसु पठितस्य हरइतिनैघण्टुकपदस्य 'निगमो ऽन्वेषणीयः'-इति व्याख्यान मुपसंहृतं देवराजेन (१भा० २३४पृ०) ; तथेह क्रोधनामनिरुक्त-व्याख्यानावसरे दुर्गाचार्य्येणापि तन्निगमो नैवादर्शि (२भा० २८६पृ०)। परं सायणीयभाष्यसाहित्यात्त्वस्माभिरवगम्यते एव क्रोधवाचिनोऽपि हरः-शब्दस्य निगमः—"अवयाता हरसो दैव्यस्य"—इति (ऋ० सं. ६. ४. ११. २. । अथ० सं० २. २. २.)। "त्वं 'दैव्यस्य' 'हरसः' क्रोधस्य 'अवयाता' पृथक्कर्त्ता"—इति हि तत्र सायणीयं भाष्यम्। पुनस्तस्यैव हरःशब्दस्य ज्योतिर्दिनार्थयोः क्रमात् यौ निगमौ प्रदर्शितौ देवराजेन, तावेव ऋज्ज्वर्थाया मपि ; किञ्च अह्नर्थे यथा मन्त्रात्मनिगमालाभः सूचितो देवराजेन, ऋज्ज्वर्थाया मपि तथैव ; अहो तत्रैव ततस्योक्तं देवराजेन

'उदकलोकवाचिनिगमौ पर्य्येष्यौ'—इति, तत एवानन्यगत्या दुर्गाचार्य्येणा-पीह मौन मेवावलम्बितम् (१भा० ३६८ पृ०, २भा० ४५० पृ०)। तथाचाव-गम्यतेऽस्य वृत्तिकृतो दुर्गाचार्यस्यापि वेदविद्या प्रायोऽस्माक मिवासम्पूर्णै-वासीदिति। हन्तास्मादृशाना मर्द्धशिक्षितानान्त्वेतादृशमहार्हवैदिकग्रन्थ-व्याख्याने प्रवृत्तिर्विडम्बनायैवेत्यलं पल्लवितेनेति शम् ॥

---

अथेदं निरुक्तालोचन मुपसंहरन्निह किञ्चिद् वच्मि। सर्वत्रैव ग्रन्थ-कालनिर्णये स्मर्त्तव्य मेतत्,—प्राचीनार्याणां गोत्रनाम्ना मेव व्यवहार आसीन्न पुनर्व्यक्तिनाम्ना मिति; यथाद्यापि दृश्यते इंलण्डीयादीनां तथा सपितृनामनामव्यवहारो दाक्षिणात्यानां भारतीयाना मपि। अतएव व्यासाश्वलायनपाणिनिशौनकयास्कादीनां बहुत्वात् तत्तत्कृतेष्ववश्यम्भावी पौर्वापर्यविभ्रमो भवत्येव। षड्गुरुशिष्यादयोऽपि प्रायः सर्वे तद्विभ्रमा-वर्त्तमग्ना एवासन्; अत्रैव पूर्वं मयापि यत् स्वीकृतं प्रातिशाख्यादीना मेककर्तृकत्वम् "नात्र वादं पश्यामः (ञ पृ०)"—इति, तदपि तादृश-भ्रमादेव। तत्त्वतो वृहद्देवताकृच्छौनकस्तु प्रातिशाख्यकृतः शौनकात्, निरुक्तकृतो यास्काच्च बहुवरः; तत्र बहुत्रैव तयोर्नामोल्लेखदर्शनात्। तथाहि—

"पद मेकं समादाय द्विधा कृत्वा निरुक्तवान्।
पुरुषादः पदं यास्को वृत्तेवृत्ते इति त्वृचि ॥"—इति*।

दृश्यते चैव मेवात्र यास्कीये निरुक्ते 'पुरुषानदनाय'—इति†।

---

* वृ० दे० ९अ० ११२श्लो०।  † निरु० २भा० १८१पृ०।

तथा, "कात्यायनं सर्व मिति भगवानाह शौनकः ।"—इति*।
लभ्यते चैव मेव शौनकीयानुक्रमणिकातोऽपि† ।

न हि कोऽपि विज्ञः स्वं भगवानिति वक्तु मुत्सहेतेति नून मनुक्रमणी-कृच्छौनको वृहद्देवताकृच्छौनकात् प्राचीन इत्यवतिष्ठते; तथा च षड्-गुरुशिष्यकृतः 'शौनकीया दश ग्रन्थाः'—इति सिद्धान्तः कथं न विलीनो जलमध्यस्थमसीत्योदवदिति सुधीभिरेव विभाव्य मिति दिक् ।

एवं पाटलाविजय-जम्बूवतीविजय-काव्ययोः प्रणेता पाणिनिः, व्याकरण-सूत्रप्रणेतुः पाणिनेराचार्यात् अन्यो बहुपरभवश्च; न हि व्याकरणाचार्यस्य पाणिनेः रचनायां व्याकरणाशुद्धिः सम्भवेन्नाम, नापि हि महाभाष्यकृत्पत-ञ्जलिकालपर्यन्ताविर्भूतेन केनचिद् वैयाकरणेन प्रयुक्तं कि मपि पद मशुद्ध मिति गणयितुं शक्यते तत्परजातैः कालिदासादिभिश्च प्रयोगपटुभिः। अस्ति च व्याकरणाशुद्धिदोषः पाटलाविजये; उदाहृतञ्च स रुद्रटकृतकाव्याल-ङ्कारटीकाकृता नेमिसाधुना च्युतसंस्कृतिदोषोदाहरणप्रसङ्गे 'सन्ध्यावधूं गृह्य करेण'—इति। तत्र गृहीत्वेति वक्तव्ये गृह्येति प्रयोग एवाशुद्धः। अत्रेदं विचार्यम्;—अशेषशेमुषीसम्पन्नस्य, महेश्वरवरप्रसादाल्लब्धव्याकरण-विद्यस्य, सिद्धवाग्विभवस्य, व्याकरणस्रष्टुस्तस्य पाणिनेर्व्याकरणाशुद्धिः कदापि सम्भवेत् किमु? उत यदि गृह्येति पदं तेनैव पाणिनिना प्रयुक्तं स्यात्, तर्हि तत्प्रयोगबलादेव साध्विति कथं न मन्येत; प्रयोगा अपि हि पाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलीनां साधुत्वनियामका भवन्त्येवेत्युररीक्रियत एव सर्वैः। तदेवं, यतः खलु गृह्येति पदं न कोऽपि साधु मन्यते; अतएव ज्ञायते नेदं व्याकरणाचार्य्येण तेन पाणिनिना प्रयुक्तम्, न च पतञ्जलिपूर्वका-लीनेनापि केनचिदिति। वस्तुतः पाणिनिः खलु महाकवेर्वाल्मीकेश्च बहु-पूर्वभवः; वाल्मीकीयाद्रामायणात् पूर्वं सूत्रकाल एवासीत्, तदोपजात्यादि-वृत्तानां कथा तु दूरपराहता स्यात्, आनुष्टुभेनापि च्छन्दसा कश्चिल्लौ-किको ग्रन्थो रचितो न वेति महान् संशय एवेति ।

---

* बृ॰ दे॰ ३अ॰ १५२श्लो॰ । † ऋ॰ स॰ १. १२५. १. सा॰ भा॰ ।

अथेह विदुषः सानुनय मभ्यर्थये ।—अतिप्राचीनग्रन्थानां कालनिर्णये बहुत्र विद्वांसोऽपि भ्रान्ता इवोपलभ्यन्ते, तन्मादृशस्योक्तेर्भ्रमविजृम्भितत्वे कास्ति वक्तव्यतेति सम्भाव्यत एवात्र भ्रमबाहुल्यम्; पर मेतदाद्यन्तं सर्व मेव धीमद्भिर्धैर्येणानुकम्पानयनाञ्चलैस्त्वालोचयितव्यम्; आर्यभाषयोपनिबद्ध मिदं नूतन मिति वा, आवर्जनाराशितोऽपि किञ्चिद् ग्रहणीयं क्वचिल्लभ्यत इति निश्चित्यैव वेति । अपि चेह व्याकरणाशुद्धिश्च सम्भाव्यते; सर्वदा वैदिकग्रन्थालोचकस्य श्रोत्रियस्योक्तावकामतोऽपि छान्दसपदप्रयोगस्या-वश्यम्भावित्वयान्यत्र महार्हग्रन्थेष्वपि तथा दृष्टत्वात् । अतएवोक्तं केन चिल्लौकिकप्रयोगनिपुणेन कविना—

"गुरुनटदैवज्ञभिषक्छ्रोत्रियमुखगह्वराणि यदि न स्युः ।
व्याकरणभीता अपशब्दमृगाः क्व विचरेयुः ॥"—इति ।
(सुभाषितावलिः २२०१)

कलिकाता ।
संवत् १९४८ ।
खी० १८९१ ।

अहमपि श्रोत्रियः,
**श्रीसत्यव्रतशर्म्मा ।**

(काश्यप-चट्टोपाध्याय-भट्टाचार्य-आवसथान्वयः,
सामश्रमीतिलब्धोपनाम, सामगाचार्य इति प्रसिद्धस्य.)

---

# BIBLIOTHECA INDICA;

A

# COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED BY THE

ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES,

Nos. 593, 596, 613, 626 ,664, 711, 723 and 801.
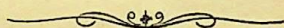
# THE NIRUKTA.

WITH COMMENTARIES.

EDITED BY

PAṆḌIT SATYAVRATA SÁMAS'RAMÍ.

VOL. IV.

CALCUTTA:

PRINTED AT THE BAPTIST MISSION PRESS.

1891.

# निरुक्तम् ।

## ( निघण्टु-भाष्यम् )

जम्बूमार्गाश्रमवासि-भगवद्दुर्गाचार्य्य-विरचितया

ऋज्वर्थाख्यटीकया सहितम् ।

श्रीलश्री

वङ्गदेशीयासियातिक्समाजाभ्यर्थनया व्ययेन च

काश्यधीतवेदादि-वङ्गसामगेन

**श्रीसत्यव्रतसामश्रमिभट्टाचार्य्येण**

सम्पादितम् ।

**चतुर्थो भागः ।**

कलिकाताराजधान्याम्

बाप्तिस्तमिशन्‌यन्त्रे मुद्रितम् ।

शकाब्दाः १८१३ ॥

# ॥ नैरुक्तश्रुतिसूची ॥

अथ यास्कीयेऽत्र निरुक्ते, तत्सद्वैवेह प्रकाशितयोः टीकाटीप्पन्योश्च, या श्रुतयः स्मृताः, तासां प्रायः सर्वासा मकारादिक्रमतः प्रतीकस्वरूपम्, तासु यथास्थानानिर्दिष्टस्थानानां यथालब्धं स्थानादिनिरूपणञ्च प्रकाशयामि ।

## अ.



---

* तै० सं० १. २. ११. १ । † तै० सं० ४. ७. १. १ । ‡ तै० सं० १. ३. ७. २ ।
§ तै० सं० ५. ६. ८. ३ । तै० आ० ५. ८. १२ । काठ० ग्ट० १८. ६. २७ ।
‖ 'अग्निः पशुरासीत्, तेनायजन्त — वायुः पशुरासीत्० —— ०सूर्यः पशुरासीत्'
—इत्यादि शत० ब्रा० १२. २. १. १२—१५ । ६. २. ३. २२ ; ७ २. ४. १० ।
¶ तै० सं० २. १. १०. २ ।
** तै० सं० २. ५. ९. ४. । तै० ब्रा० ६. ५. ३. २ । शत० ब्रा० १. ४. २. १६ ।

* "अग्निर्वा इतो वृष्टि मुदीरयति" — इति शत० ब्रा० २. ४. १०. २।

† "तथा च ब्राह्मणान्तरम् — अग्निर्वै देवानां सेनानीरिति" — इत्यादि ऋ० स० १. १. १. १. सा० भा०। "अग्निर्वै देवताना मनीकं सेनाया वै सेनानीरनीकम्" —इति शत० ब्रा० ५. २. ५. १।

‡ तै० आ० ५. ११. ५। तै० सं० २. २. ५. १—४; ६. १—४।

§ तै०ब्रा० १. १. ३. ८; २. १. ४। "अग्ने रेतो हिरण्यम्" इति शत०ब्रा० ५. २. ५. १।

‖ शत० ब्रा० ५. ३. २ १०।

* शत० ब्रा० १४. ७. ५. ८. (असम्पूर्णः) । छान्दो० उप० ६. ९. २. ४ ।

† शत० ब्रा० १४. ३. २. २२ । ‡ शत० ब्रा० ४. ५. ६. ५ ; ८. १. १. ७ ।

§ 'अद्भ्यो ह वाऽअग्नेऽश्वः सम्बभूव' ५. १. ४. ५ ।

‖ 'आश्विनावधोरामौ' शत० ब्रा० १३. १. ११. ५ ।

¶ सायणाचार्येण त्वस्य वचनस्य लुप्तशाखीयत्वं सूचीतम् । ऋ० सं० भा० १. १. १. १ ।

* तै० सं० १. ८. ४. २।

† 'अपश्यं गोपा०——०एष वै गोपा य एष तपति, एष हीदं सर्वं गोपायति'—इति शत० ब्रा० १४. १. ४. ९।

‡ शत० ब्रा० १०. ४. ७. १; १२. १. ११. १९; ९. १. ९०। 'अप्सु योनिर्वा अश्वः—इति च तै० सं० ९. ३. १२. ९; ५. ३. १२ २।

* शत० ब्रा० ५. १६. १०। "अथो अर्द्धो ह वा एष आत्मनो यत् पत्नी"—इति च तै० ब्रा० ३. ३. ३. ५।

† गर्भोपनिषदि, शाकल्योपनिषदि चान्वेष्टव्यम्।

‡ प्राचीनमनुसंहितायां वचनं वैतत् स्यात्।

§ 'स इन्द्रः स एषोऽसपत्नः'—इति शत० ब्रा० १४ ३. ३. १९।

|| 'वाग् वै बृहती, तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः'—इति शत०ब्रा० १४. ३. १. २२।

¶ 'वाग् वै ब्रह्म, तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः'—इति शत०ब्रा०१४. ३. १. २३।

** 'अश्विनौ वै देवाना मध्वर्यू'—इति शत० ब्रा० १२. ४. १. २२।

†† तै० सं० २. ६. ३. ६।

‡‡ 'असौ वा आदित्य एषोऽश्वः'—इति शत० ब्रा० ६. २. ३. २९; ७. १. ४. १३।

## आ.



* तै० आ० १. १३ २। शत० ब्रा० ३. १. ३. ३।

† "वैश्वानरो वै सर्वेऽग्नयः"— इति शत० ब्रा० ६ १. ४. २५। "असौ वा आदित्यो बृहज्ज्योतिः, एष उ एषोऽग्निः"—इति च शत० ब्रा० ६. २. ३. १५। 'असौ वा आदित्य इन्द्रः'—इति च तै० सं० १. ७. ६. ३।

‡ तै० आ० ५. ६. ४। § तै० सं० १ २. ७. १। ‖ तै० सं० २. २. ९. १।

¶ शत० ब्रा० १. ८. ३. १२। ** तै० सं० १. ८. १. १। शत० ब्रा० २. १. ५. २२।

†† 'आग्नेय मग्निष्टोम आलभते। अग्निर्वा अग्निष्टोमः'—इति शत० ब्रा० ५. ५. १. ३. १।

‡‡ 'आग्नेयाः पशवः'—इति तै० सं० १. ५. ९. ३।

* छा० उप० १. १९. १ ।
† शत० ब्रा० १४. ७. २. १७—१९ ।
‡ शत० ब्रा० ११. २. २. १२ ।
§ शत० ब्रा० १४. ९. ४. २६ ।
‖ छा० उप० ५ २५. २ । 'आत्मैवाग्निः'—इति च शत० ब्रा० ६. ५. १. २० । 'कतम आत्मेति । योऽयं विज्ञानमयः पुरुषः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः सः'—इत्यादि च शत० ब्रा० १४. ६. १. ७—३१ । पुनः—स वा अय मात्मा ब्रह्म० —— ०आकाशमयो वायुमयस्तेजोमय आपोमयः पृथिवीमयः'—इत्यादिः २. ६—९ ।
¶ तै० सं० २. १. १०. ३. 'सौर्यं' ।
** असौ वा आदित्यः प्राणः'—इति तै० सं० ५. २. ५. ४ ।
†† लिपिकरप्रमादज एष पाठः ; प्रकृतपाठस्तु "मा नो मित्रो वरुणो"—इति ऋ० सं० १. ३. ७. १ । 'मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्रेतत् सूक्त मभिगावाबपति'—इति च शत० ब्रा० १२. ३. १८ ।

## इ.



---

* 'पवित्रं वाऽआपः"—इति शत० ब्रा० १.१.१.१।
† गर्भोपनिषदि शाकल्योपनिषदि चान्वेष्टव्यम्।
‡ बृह० उप० ४.४.६।

* बृहद्दे० ६. १२८, १२९ ।
† शत० ब्रा० ११. १. ५. ५ ।
‡ तै० सं० १. १. ७. २ ; ४. १. १ ।
§ तै० सं० ३. ४. ७. १—२ ।

* तै० सं० ३. ४. ३. १ ।  † काठ० सं० ३०. १ ।

‡ 'इन्द्राणीह वा इन्द्रस्य प्रिया पत्नी'—इति शत० ब्रा० १४ १. ५. ८ ।

§ एषोऽपपाठः ; प्रकृतपाठस्तु "उत्सन्नयज्ञः"—इति । तै० सं० ५. २. १. १ । 'उत्सन्नयज्ञ इव वा यच्चातुर्मास्यानि'—इत्यादि शत० ब्रा० २. ४. ३ ४८ । तथा 'उत्सन्नयज्ञ इव वा एष यदश्वमेधः'—इत्यादि च शत० ब्रा० १३. २. ८. ६ ।

* उच्छन्नयज्ञ इति द्रष्टव्यम्। † शत० ब्रा० १. १. ६. ८। ‡ तै०सं० १. २. १२ २।
§ "तथाचान्यचाम्नायते—'ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते। यजुर्वेदे तिष्ठति मध्येअह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते। वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः'—इति"—तै० सं० ४. २. ११ १. सा० भा०। || तै० सं० २. ६. ११. ५। शत० ब्रा० १. ४. ४ १।

## ए.



---

* तै० ब्रा० १. १. ४. ८। † तै० सं० १. ८. ६. १। ‡ अथ० सं० ११. ४. २१।
§ शत० ब्रा० २. ६. २. ३; ५. १।
|| ऐ० ब्रा० १ १६, २५। शत० ब्रा० १३. ४. १. १५। ¶ ऐ० ब्रा० ६ १. ३।
** तै० सं० १. ८ ६. २। †† शत० ब्रा० १४. १. ४ ९।

---

* छान्दो० उप० २. २३ ३।

† शत० ब्रा० ३. १. ३. ७; ६ ३. १२। तै० सं० १. ३. १ १।

‡ 'अथ त्रयो वाव लोकाः। मनुष्यलोकः, पितृलोको देवलोक इति। सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा; कर्मणा पितृलोकः; विद्यया देवलोकः। देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्मात् विद्यां प्रशंसन्ति'— इति शत० ब्रा० १४. ३. ३. २४।

§ काठ० उप० ४ १. "ऐक्षत्"।

* तैत्ति० ब्रा० २.२.१०। 'को नामासि प्रजापतिः'—इति शत० ब्रा० ११.२.६ १।

---

* ऋ० सं० १०. ९०. १३। † छान्दो० उप० ५. १०. २।
‡ शत० ब्रा० १. ४. २. १४। तै० सं० २. ५. ९. २। § तै० सं० १. ६. ३. १।
‖,¶ शत० ब्रा० १. ३. ५. ९. ; ६. ४. ८, ९, १४ ; ३. ७. ४. ९।
** 'प्रजापतिर्वै जमदग्निः'—इति शत० ब्रा० १३. १. ११. १४।
†† शत० ब्रा० ९. ४. २. ६८।

---

* 'पुरस्तात् स्वाहाकृतयो वा अन्ये देवा उपरिष्टात् स्वाहाकृतयोऽन्ये'—इति शत० ब्रा० १२ २. ५. २ ।

† तै० ब्रा० ३. ५. ११. १ । तै० सं० २. ६.१०. ३ । तै० आ० १.९. ७ । शत० ब्रा० १. ७. २. २१ । ‡ तै० सं० १. २. ७. १ । शत० ब्रा० ३. २. ६. ८

* य० वाज० सं० २९. १०।

† 'तस्मादग्नौ पशवो रमन्ते'—इति शत० ब्रा० ६. १. ४. १२।

‡ 'ततोऽश्वः समभवत्'—इति शत० ब्रा० १०. ४. ८. ७.।

§ शत० ब्रा० १०. ४ ८. ७.। ॥ साङ्ख्या० श्रौ० सू० १८ १३ ९।

---

* "तदेष श्लोको भवति। 'अर्वाग्बिलश्चमस०—०ब्रह्मणा संविदानः'—इति'—इति शत० ब्रा० १४. ४. २. ५।

† तै० सं० १ १.५.७; ३.१.५।

‡ शत० ब्रा० १२. १ १०. ३।

---

* "त्वष्टा वै सिक्तं रेतो विकरोति"—इति शत० ब्रा० १. ९. २. १०।
† 'आपो वै पुष्करम्०—०अद्भ्यो निरमन्थत्'—इति शत० ब्रा० ६. ४. २. २।
‡ शत० ब्रा० ६. ४. २. २।
§ बृह० उप० ८ २. १६।
‖ शत० ब्रा० १ २. २ १; ४. २. १७; ९. १. १०।

## ध.



---

* शत० ब्रा० ७ ३. २. ५; ६।

† तै० ब्रा० ३. ६. ६. १—४। तैत्तिरीयदृष्टपाठ एव व्याख्यातो दुर्गाचार्येण। स च पाठः सायणीयव्याख्यासहित एव द्रष्टव्यः।

‡ शत० ब्रा० ९. १. ६. ४; ११. १. १० २।

§ 'द्वे स्रुतौऽअशृणवम्'—इति शत० ब्रा० १९. २ ५. ११; १४. ७ २. ४।

## न.



---

* "तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् ।—'न त्वं युयुत्से कतमच्च नाहर्न्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति । मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्से ।'—इति ॥"—इति शत० ब्रा० ११. १. ६. १० ।

† ता० ब्रा० १०. १. १८ । शत० ब्रा० ८. ४. १. २४ ।

* शत० ब्रा० २ १. ३. ६; ११. १. ६. २५।

† शत० ब्रा० ११. १. १०. ६।

‡ काठ० उप० ४. १. "पराञ्चि खानि व्यतृणत्"।

§ शत० ब्रा० ३. ६ ५. ८।

* 'अन्नं वै पितुः'—इति शत० ब्रा० ७ १.२ १५।

† 'सोऽस्यां पुरि शेते, तस्मात् पुरुषः'—इति शत० ब्रा १३ ४. १. १।

‡ 'पिता वै प्रयाजाः प्रजा अनुयाजाः'—इति तै० सं० २ ६. १. ६।

§ शत० ब्रा० ११. ४. २ १—४।

‖ शत० ब्रा० ११. ३. ६. १।

¶ तै० सं० ५ ५. १. २।

* 'व्यन्तु वेत्वित्येव प्रयाजानां रूपम्; वसुवने वसुधेयस्येत्यनुयाजानाम्'—इति शत० ब्रा० २. २ १. २७।

† 'आज्येन प्रयाजा इज्यन्ते पशुना मध्यतः पृषदाज्येनानूयाजाः' तै० सं० ६.३.११.७।

‡ शत० ब्रा० ११. २. ३. २७।

§ शत० ब्रा० १४. ४. २. ५; 'गोतमभरद्वाजौ०—०विश्वामित्रजमदग्नी०—०वसिष्ठ-कश्यपौ०—०अत्रिरिति' ६।

## ब.



## भ.



---

* 'प्राणो दिवः प्राणाद्व वा एष प्रथम मजायत'—इति शत० ब्रा० ६. ५. ४. ३ । 'प्राणोऽजायत, स इन्द्रः' १४. ३. २. १९ । 'प्राणाद्व एष उदेति, प्राणेऽस्त मेति' २४ ।

† तै० सं० २. २. ९. १ । तै० आ० ५. ४. १ । शत० ब्रा० १२. ८. ३. १९ ।

‡ तै० सं० २. १. ८. १ ।

§ 'असौ वा आदित्यो ब्रह्म'—इति शत० ब्रा० ७ ३. १. १४ ।

‖ तै० आ० २ ९. १ । शत० ब्रा० १३. ४. ३. १ ।

¶ बृह० उप० ४. ४. १—१४ ।

14

* छान्दो० उप० ४. १०. ८।

† शत० ब्रा० ३. १. ३. १. २। तै० आ० १. १३. ३।

‡ 'एष वै मूर्द्धा य एष तपति'—इति शत० ब्रा० १२. २ १४ १२।

§ शत० ब्रा० ३. ४. १. २।

---

* शाखान्तरीय एषः (ऋ० सं० सा० भा० भू०)।

† अथ० सं० ७, ७, ८, ९।

* तै० सं० १.५.१.१ । 'अग्निर्वै रुद्रो यदरोदीत्तस्माद्रुद्रः' शत० ब्रा० ६.१.३.१० ।

† 'यदिमांल्लोकानवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्'—इति तै० सं० २.४.१२.२ ।

‡ शत० ब्रा० ११.१.११.१ । 'अस्मिन्नेव लोकेऽग्निं वायु मन्तरिक्षे दिव्येव सूर्यम्' ।

§ शत० ब्रा० ११.४.२.४—७ । ‖ छान्दो० उप० १.३.२ ।

¶ शाखान्तरीय एषः (ऋ० सं० सा० भा० भू०) ।

** य० वा० सं० ३.४५ ।

†† अथ० सं० ७.७.८.६ । तै० सं० २.४.१४.१ । 'पुरुषो वा अचित्तिः'—इति शत० ब्रा० १४.३.३.७ ।

---

* शाखान्तरीय एषः (ऋ० सं० सा० भा० भू०)। † श्वेता० उप० ३. ९।
‡ शत० ब्रा० ११. १. ६. ३४। § वृत्तिकृता नापि व्याख्यातम्।
‖ अथ० सं० ६. १२. ४. ३। परमत्रेह किञ्चिच्छाखाभेदकृतः पाठव्यतिक्रमः।
¶ 'स यो मनुष्याणां राद्धः ०——० स एकः कर्मदेवाना मानन्दा ये कर्मणा देवत्व मभिसम्पद्यन्ते ०——० अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति'—इति शत० ब्रा० १४. ६. १. ३२—३९।

* शत० ब्रा० ३. ७. ३. १२; १२. २. ६. ६. ७।

† 'दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्या मुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ०———० अय मात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्'—इति शत० ब्रा० १४. ४. ५. १९।

‡ तै० सं० १. ५. ९. १। "त्वष्टा वै सिक्तं रेतो विकरोति" शत० ब्रा० १. ९. २ १०।

## व.



---

* तै० सं० २. ४ ३. ४ ।  † शत० ब्रा० १. १. ३. ९ ।

‡ 'अग्निर्वायुरादित्य एता ह्येव देवता विश्वं ज्योतिः'—इति शत० ब्रा० १०. ४. १. १५ ।

§ 'प्राणेन वा अग्निर्दीप्यते, अग्निना वायुः, वायुना आदित्यः'—इत्यादि शत० ब्रा० १०. ४. ५. ११ ; 'वायुरेवाग्निः'—इति च ३. ४. १ ।

‖ त० सं० १. ७ ७. २ ।

* शाखान्तरीय एषः (ऋ० सं० सा० भा० भू०)।

† तै० सं० ४. ६ २. ६।

‡ शत० ब्रा० १३. ७. १. १.।

§ तै० सं० ४. ६. २. ३।

‖ शत० ब्रा० १४. ७. २. २५।

¶ तै० सं० १. २. ११. २।

* 'एष वै बह्वलो वैश्वानरः'—इत्यादि शत० ब्रा० १०. ४. ४. ११।

† शत० ब्रा० ६ १. ४. २६; ४ ३. २ ५; 'वैश्वानरं वा एत मग्निम्' ९; 'अथाध्यात्मं शिर एव वैश्वानरः' ३. ९; 'अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालम्' ११. १. ५. ५।

‡ बृहद्दे० ६. १२९। § अथ० सं० २०. ८. ६. ९। ‖ तै० आ० ५. ४. ३।

¶ 'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता'—इति शत० ब्रा० १२ २ ४. ११।

** 'अथो परमं वाऽएतदन्नाद्यं यद् वसा'—इति शत० ब्रा० ११. ४. १. ११। महाभारतटीकाकृन्नीलकण्ठकृत मस्या व्याख्यानन्त्वपूर्व मेव। तत्रैव द्रष्टव्यम्।

## ष.



## स.



---

* शत० ब्रा० १०. २. २. १९।
‡ तै० सं० २. ६. ६. १।
† छान्दो० उप० ६. २. ३।
§ शत० ब्रा० १२ १. १०. ४।
|| मुण्ड० उप० ३. १. १।

---

* 'समुद्रात् सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि समुद् द्रवन्ति'–इति शत० ब्रा० १४. ९. १. २।

† शत० ब्रा० ९. ५. ४ ३—५।  ‡ शत० ब्रा० ४ १. ६. २०।

§ तै० सं० १. ७.१. २।  ‖ काठक० १२. ६। तै० सं० २. ४. ३. २।

* 'वीर्यं वै सुपर्णः'—इत्यादि शत० ब्रा० ६ ५. २. ६ ।

† ऋ० सं० ८. ८. ४८. ३ ।

‡ शाखान्तरीय एषः (ऋ० सं० सा० भा० भू०) ।

---

* शत० ब्रा० ३. ६. ९. ७। तै० सं० १. ३. ६. १।

† तै० सं० ६. ८. १५. २। शतपथीयं व्याख्यानं च द्रष्टव्यम् ६. ५. २. ११।

‡ तै० ब्रा० ३ ६. ८. १।

# ॥ अथ नैरुक्तसमर्त्तव्यवाक्यसूची ॥

## अ०

## आ.



## इ.

## त.

## द.

## ध.



## न.

## श.

* "कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा"—इति ४ भा० ११९पृ० १०पं०

# ॥ नैरुक्तविषयसूची ॥

—∘∘✿∘∘—

अ.

आ.



इ.



ई.



उ.

## ध.



## न.



## प.

---

# ॥ निघण्टुटीकोल्लिखितग्रन्थादिनामसूची ॥

# ॥ अथ निरुक्तालोचनविषयसूची ॥



* अ=१, क=११, ख=२१ इत्येवमङ्कप्रतिनिधिव्यवहारो दक्षिणामूर्तिरीत्यैवेह।

20

१०.



११.



१२.

---

## ॥ अथैतद्भागीयसूचीनां सूची ॥



---

## ॥ मूल-पाठशुद्धिः ॥

| अ० | पा० | ख० | पं० | अशुद्धम् । | शुद्धम् । |
|---|---|---|---|---|---|
| ९ | १ | ६ | १ | ब्रंतचारिर्णः | ब्रंतचारिणः |
| ,, | ,, | १० | ४ | ०नल्पान्वा | ०नल्पान्वा |
| ,, | ४ | २ | ३ | ०विंह्रियते | ०विंह्रियेते |
| ,, | ,, | ४ | २ | विपाट्च्छुतुद्यौ | विपाट्छुतुद्यौ |
| ,, | ,, | ५ | ८ | ? | वा |
| ,, | ,, | १० | ५ | सहग्धिश्च | सहजग्धिश्च |
| १० | १ | ५ | ६ | सप्ताखसार | सप्तखसार |
| ,, | ,, | ,, | १० | रादयतेर्वा | रोदयतेर्वा |
| ,, | ,, | ९ | ८ | अवाहन्नेनं | अवहन्नेनं |
| ,, | ,, | १२ | २ | पयपश्यन् | पर्यपश्यन् |
| ,, | २ | २ | १ | पोषयित्वशा | पोषयित्वा |
| ,, | ३ | ५ | ४ | मनुष्यजातााति | मनुष्यजातानि |
| ११ | ३ | १० | ३ | सुकथ्यम् | सुक्थ्यम् |
| १२ | [illegible] | ७ | ५ | कर्मकमं | कर्मकर्म |
| ,, | ३ | २ | २ | ०रयन- | ०रयनै- |
| ,, | ,, | १४ | ५ | स्रुता | स्रुता |
| ,, | ४ | २ | २ | घृतस्रूघृत० | घृतस्रूर्घृत० |
| ,, | ,, | १२ | १ | ऋतुञ्जनीनाम् | ऋतुर्जनीनाम् |
| १३ | १ | ६ | २ | सव | सर्वं |

| अ० | पा० | ख० | पं० | अशुद्धम्। | शुद्धम्। |
|---|---|---|---|---|---|
| १३ | १ | ९ | १ | वाक् परिमिता | वाक्परिमिता |
| ,, | २ | ६ | ३ | संच्यवत | सञ्च्यवत |
| ,, | ,, | ,, | २३ | अवाङ्मुख | अवाङ्मुखः |
| ,, | ,, | १२ | ६ | सूयः | सूर्यः |
| ,, | ,, | १३ | २ | मागाणाम् | मृगाणाम् |
| ,, | ४ | ३ | १ | ०राऴ्हिते० | ०रीऴ्हिते० |
| ,, | ,, | ४ | ८ | सवा | सर्वा |
| ,, | ,, | ७ | २ | वर्न्धनान् मृत्यो० | वर्न्धनान्मृत्यो० |
| ,, | ,, | ९ | २ | उपमिमीहि | उपमिमीहि |
| ,, | ,, | ,, | ७ | वयज्ञानानाम० | वयज्ञाना नाम० |

---

## ॥ मूल-पाठभेदपूर्त्तिः ॥

| अ० | पा० | ख० | पं० | मुद्रितातिरिक्ताः पाठाः। |
|---|---|---|---|---|
| १० | १ | ८ | १० | "दुच्छ्रूणां"—इति च-प्रभृ[illegible]षु। |
| ,, | २ | १० | ३ | "हिरण्यगर्भो हिरण्मयो [illegible]गर्भो हिरण्मयो गर्भोऽस्येति वा"—इति च-प्र[illegible]तिषु। |
| १२ | ४ | ९ | ४ | "गमयन्त रमयन्त शुभ्राः"—इति च-प्रभृतिषु परं वृत्तिविरुद्धः। |
| १३ | २ | २ | ६ | "मभ्यात्मज"—इति च-प्रभृतिषु। |

---

Muntakhab-ul-Lubáb, (Text) Fasc. I—XIX @ /6/ each .. Rs. 7 4
Ma'ásir-i-'Álamgírí (Text), Fasc. I—VI @ /6/ each .. .. 2 2
Nokhbat-ul-Fikr, (Text) Fasc. I .. .. .. .. 0 6
Nizámí's Khiradnámah-i-Iskandarí, (Text) Fasc. I and II @ /12/ each .. 1 8
Suyúty's Itqán, on the Exegetic Sciences of the Koran, with Supplement, (Text) Fasc. II—IV, VII—X @ 1/ each .. .. .. 7 0
Tabaqát-i-Náṣirí, (Text) Fasc. I—V @ /6/ each .. .. 1 14
Ditto (English) Fasc. I—XIV @ /12/ each .. .. 10 8
Táríkh-i-Fírúz Sháhi of Ziaa-al-din Barni (Text) Fasc. I—VII @ /6/ each 2 10
Táríkh-i-Baihaqí, (Text) Fasc. I—IX @ /6/ each .. .. 3 6
Táríkh-i-Fírozsháhí, of Shams-i-Siráj Afif. (Text) Fasc. I—IV @ /6/ each 1 8
Wis o Rámín. (Text) Fasc. I—V @ /6/ each .. .. .. 1 14
Zafarnámah, Vol. I, Fasc. I—IX, Vol. II. Fasc. I—VIII @ /6/ each .. 6 6

## ASIATIC SOCIETY'S PUBLICATIONS

1. Asiatic Researches. Vols. VII, IX to XI; Vols. XIII and XVII, and Vols. XIX and XX @ /10/ each .. Rs. 80 0
   Ditto Index to Vols. I—XVIII .. .. 5 0
2. Proceedings of the Asiatic Society from 1865 to 1869 (incl.) @ /4/ per No.; and from 1870 to date @ /6/ per No
3. Journal of the Asiatic Society for 1843 (12), 1844 (12), 1845 (12), 1846 (5), 1847 (12), 1848 (12), 1850 (7), 1851 (7), 1857 (6), 1858 (5), 1861 (4), 1864 (5), 1865 (8), 1866 (7), 1867 (6), 1868 (6), 1869 (8), 1870 (8), 1871 (7), 1872 (8), 1873 (8), 1874 (8), 1875 (7), 1876 (7), 1877 (8), 1878 (8), 1879 (7), 1880 (8), 1881 (7), 1882 (6), 1883 (5), 1884 (6), 1885 (6) 1886 (8). @ 1/ per No. to Subscribers and @ 1/8 per No. to Non-Subscribers,
   *N. B. The figures enclosed in brackets give the number of Nos. in each Volume.*
4. Centenary Review of the Researches of the Society from 1784—1883 .. 3 0
   General Cunningham's Archæological Survey Report for 1863-64 (Extra No., J. A. S. B., 1864) .. .. .. .. 1 8
   Theobald's Catalogue of Reptiles in the Museum of the Asiatic Society (Extra No., J. A. S. B., 1868) .. .. .. 1 8
   Catalogue of Mammals and Birds of Burmah, by E. Blyth (Extra No., J. A. S. B., 1875) .. .. .. .. 3 0
   Sketch of the Turki Language as spoken in Eastern Turkestan, Part II, Vocabulary, by R. B. Shaw (Extra No., J. A. S. B., 1878) .. 3 0
   Introduction to the Maithili Language of North Bihár, by G. A. Grierson, Part I, Grammar (Extra No., J. A. S. B., 1880) .. .. 1 8
   Part II, Chrestomathy and Vocabulary (Extra No., J. A. S. B., 1882) .. 3 0
5. Anis-ul-Musharrahin .. .. .. .. .. 3 0
6. Catalogue of Fossil Vertebrata .. .. .. .. 2 0
8. Catalogue of the Library of the Asiatic Society, Bengal .. .. 3 8
9. Examination and Analysis of the Mackenzie Manuscripts by the Rev. W Taylor .. .. .. .. .. 2 0
10. Han Koong Tsew, or the Sorrows of Han, by J. Francis Davis .. 1 8
11. Iṣṭiláhát-uṣ-Ṣúfíyah, edited by Dr. A. Sprenger, 8vo. .. .. 1 0
12. Ináyah, a Commentary on the Hidayah, Vols. II and IV, @ 16/ each .. 32 0
13. Jawámi-ul-'ilm ir-riyáẓí, 168 pages with 17 plates, 4to. Part I .. 2 0
14. Khizánat-ul-'ilm .. .. .. .. .. 4 0
15. Mahábhárata, Vols. III and IV, @ 20/ each .. .. .. 40 0
16. Moore and Hewitson's Descriptions of New Indian Lepidoptera, Parts I—III, with 8 coloured Plates, 4to. @ 6/ each .. 18 0
17. Purana Sangraha, I (Markandeya Purana), Sanskrit .. .. 1 0
18. Sharaya-ool-Islam .. .. .. .. .. 4 0
19. Tibetan Dictionary by Csoma de Körös .. .. .. 10 0
20. Ditto Grammar „ „ .. .. .. 8 0
21. Vuttodaya, edited by Lt.-Col. G. E. Fryer .. .. .. 2 0

Notices of Sanskrit Manuscripts, Fasc. I—XXIII @ 1/ each .. 23 0
Nepalese Buddhist Sanskrit Literature, by Dr. R. L. Mitra .. .. 5 0

N.B. All Cheques, Money Orders &c. must be made payable to the "Treasurer Asiatic Society" only.

| Title | | Rs. | As. |
|---|---|---|---|
| ala Chhandah Sútra, (Sans.) Fasc. II—III @ /6/ each .. | Rs. | 0 | 12 |
| iráj Rásau, (Sans.) Part I, Fasc. I, Part II, Fasc. I—V @ /6/ each | | 2 | 4 |
| Ditto (English) Part II Fasc. I .. .. .. | | 0 | 12 |
| rita Lakshanam, (Sans.) Fasc. I .. .. .. | | 1 | 8 |
| ara Smriti (Sans.) Fasc. I—VII @ /6/ each .. | | 2 | 10 |
| ara, Institutes of (English) .. .. .. .. | | 0 | 12 |
| ta Sútra of Ápastamba, (Sans.) Fasc. I—XII @ /6/ each .. | | 4 | 8 |
| Ditto Áśvaláyana, (Sans.) Fasc. I—XI @ /6/ each .. | | 4 | 2 |
| Ditto Láṭyáyana (Sans.) Fasc. I—IX @ /6/ each .. | | 3 | 6 |
| Ditto Śánkháyana (Sans.) Fasc. I—V @ /6/ each .. | | 1 | 14 |
| a Veda Samhitá, (Sans.) Vols I, Fasc. 2—10; II, 1—6; III, 1—7; V, 1—6; V, 1—8, @ /6/ each Fasc. .. .. .. | | 13 | 8 |
| khya Sutra Vritti (Sans.) Fasc. I and II @ /6/ each .. .. | | 0 | 12 |
| itya Darpana, (English) Fasc. I—IV @ /6/ each .. .. | | 1 | 8 |
| khya Aphorisms of Kapila, (English) Fasc. I and II @ /6/ each .. | | 0 | 12 |
| a Darśana Sangraha, (Sans.) Fasc. II .. .. .. | | 0 | 6 |
| ara Vijaya, (Sans.) Fasc. II and III @ /6/ each .. .. | | 0 | 12 |
| khya Pravachana Bháshya, Fasc. III (English preface only) .. | | 0 | 6 |
| Bháshyam, (Sans.) Fasc. I .. .. .. .. | | 0 | 6 |
| ta Samhitá, (Eng.) Fasc. I and II @ /12/ each .. .. | | 1 | 8 |
| iríya Áraṇya (Sans.) Fasc. I—XI @ /6/ each .. .. | | 4 | 2 |
| itto Bráhmaṇa (Sans.) Fasc. I—XXIV @ /6/ each .. .. | | 9 | 0 |
| itto Samhitá, (Sans.) Fasc. II—XXXIV @ /6/ each .. .. | | 12 | 6 |
| itto Prátiśákhya, (Sans.) Fasc. I—III @ /6/ each .. .. | | 1 | 2 |
| itto and Aitareya Upanishads, (Sans.) Fasc. II and III @ /6/ each | | 0 | 12 |
| ndyá Bráhmaṇa, (Sans.) Fasc. I—XIX @ /6/ each .. .. | | 7 | 2 |
| tra Chintámaṇi, Vol. I, Fasc. I—IX; Vol. II, 1—2 (Sans.) @ /6/ each | | 4 | 2 |
| l'si Sat'saí, (Sans.) Fasc. I .. .. .. .. | | 0 | 3 |
| ara Naishadha, (Sans.) Fasc. III, V—XII @ /6/ each .. .. | | 3 | 6 |
| sagadasáo, (Sans.) Fasc. I—V @ /12/ .. .. .. | | 3 | 12 |
| ha Purána, (Sans.) Fasc. I—IX @ /6/ each .. .. | | 3 | 6 |
| u Puráṇa, (Sans.) Vol. I, Fasc. I—VI; Vol. II, Fasc. I—VII, /6/ each Fasc. .. .. .. .. .. | | 4 | 14 |
| nu Smṛiti, (Sans.) Fasc. I—II @ /6/ each .. .. | | 0 | 12 |
| idáratnákara, (Sans.) Fasc. I—VII @ /6/ each .. .. | | 2 | 10 |
| annáradiya Purána, (Sans.) Fasc. I—V @ /6/ .. .. | | 1 | 14 |
| Sútra of Pa[illegible]njali, (Sans. & English) Fasc. I—V @ /14/ each .. | | 4 | 6 |
| same, bound [illegible] cloth .. .. .. .. | | 5 | 2 |

*Tibetan Series.*

| Title | | Rs. | As. |
|---|---|---|---|
| -Phyin—Fasc. I—II @ /1/ each .. .. .. | | 2 | 0 |
| s brjod dpag [illegible]am hkhri S'iñ (Tibetan & Sans.) Fasc. I. .. | | 1 | |

*Arabic and Persian Series.*

| Title | | Rs. | As. |
|---|---|---|---|
| amgírnámah, wi[th] Index, (Text) Fasc. I—XIII @ /6/ each .. | | 4 | 14 |
| n-i-Akbarí, (Tex[t]) Fasc. I—XXII @ 1/ each .. .. | | 22 | 0 |
| Ditto (Er[gli]sh) Vol. I (Fasc. I—VII) .. .. .. | | 12 | 4 |
| barnámah, with Index, (Text) Fasc. I—XXXVII @ 1/ each | | 37 | 0 |
| dsháhnámah with Index, (Text) Fasc. I—XIX @ /6/ each .. | | 7 | 2 |
| ale's Oriental Biographical Dictionary, pp. 291, 4to., thin paper .. | | 4 | 8 |
| ctionary of Arabic Technical Terms, and Appendix, Fasc. I—XXI @ /each .. .. .. .. .. .. | | 21 | 0 |
| hang-i-Rashídí (Text), Fasc. I—XIV @ 1/ each .. .. | | 14 | 0 |
| rist-i-Túsí, or, Túsy's list of Shy'ah Books, (Text) Fasc. I—IV @ 2/ each .. .. .. .. .. | | 3 | 0 |
| úh-ul-Shám [W]aqídí, (Text) Fasc. I—IX @ /6/ each .. .. | | 3 | 6 |
| Ditto [W]ádí, (Text) Fasc. I—IV @ /6/ each .. .. | | 1 | 8 |
| t Asmán, H[isto]ry of the Persian Mansawi (Text) Fasc. I .. | | 0 | 12 |
| tory of the Caliphs, (English) Fasc. I—VI @ /12/ each .. | | 4 | 8 |
| ilnámah-i-Jahángírí, (Text) Fasc. I—III @ /6/ each .. | | 1 | 2 |
| áh, with Supplement, (Text) 49 Fasc. @ /12/ each .. .. | | 36 | 12 |
| sir-ul-Umara, Vol. I, Fasc. 1—9, Vol. II, Fasc. 1—6 @ /6/ each .. | | 5 | 10 |
| ghází of Wáqidí, (Text) Fasc. I—V @ /6/ each .. .. | | 1 | 14 |
| takhab-ul-Tawáríkh, (Text) Fasc. I—XV @ /6/ each .. | | 5 | 10 |
| takhab-ul-Tawáríkh (English) Vol. II, Fasc. I—IV @ /12/ each .. | | 3 | 0 |

(Turn over.)